श्रीशिवशर्म्मसूरिविरचितः

वासुदेवरसानन्दः

हिन्दीभाषानुवादसमेतः

सानुवाद श्रीविष्णुमहिम्नः स्तोत्रेण तथा श्रीदत्तात्रेयबीजगर्भस्तोत्रेण च संयुक्तः ।

प्रयागस्य श्रीशिवशर्म्मसंस्कृतपाठशालीयप्रबन्ध-
कारिणीसमिति द्वारा प्रकाशितः ।

*

संवत् १९९२ वैक्रमीयाब्दे

*

विपश्चितां विनोदाय वासुदेवस्य प्रीतये ।
कीर्तये ग्रन्थकर्तुश्च विना मूल्यं वितीर्यते ॥

पुस्तक मिलने का पता—
पं० सत्यव्रत भट्टाचार्य, एम० ए०,
दशाश्वमेध, दारागंज,
प्रयाग

सूचना

यह पुस्तक कठिन है, सर्वसाधारण इसके अधिकारी नहीं हैं, इस कारण वितरण में कुछ विचार रखना पड़ेगा। जो सज्जन डाक द्वारा पुस्तक मँगवाना चाहेंगे उनके लिये डाक-व्यय दस आने का टिकट अग्रिम भेजना आवश्यक है।

मुद्रक –
अपूर्वकृष्ण बोस,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, बनारस-ब्रांच।

सेवा में

श्रीमान डाक्टर हरदत्त जी शर्मा एम: ए: पिएच:

सम्पादक : The Poona

Orientalist

के सादर समर्पित

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
भूमिका	१—३
पं० आदित्यराम भट्टाचार्य्य की संक्षिप्त जीवनी	१—१५
पुस्तक-परिचय	१—५
मुखबन्ध	१—२
वासुदेवरसानन्दः	१—३०१
विष्णुमहिम्नः स्तोत्रम्	३०५—३२२
श्रीदत्तात्रेयाष्टोत्तरशतनामस्तोत्र और उसका अर्थ	३२३—३२६

भूमिका

श्रीकृष्णजी ने गीता में कहा है कि पृथ्वी पर ऐसे विरले मनुष्य हैं जिनको यह सत्य ज्ञान हो कि "श्री वासुदेव सर्वत्र हैं और यह संसार वासुदेव-रूप है"। इसी ज्ञान को फैलाने के लिये वैकुण्ठवासी महानुभाव श्री शिवशर्माजी ने अपने पाण्डित्य और भक्ति के उद्गार-स्वरूप वासुदेव-रसानन्द नाम की यह पुस्तक रची और मेरे पूज्यपाद पिता स्वर्गवासी श्रीमान् महामहोपाध्याय पं० आदित्यराम-जी भट्टाचार्य, एम० ए० (संस्कृत-प्रोफेसर, म्योर सेंट्रल कालेज, इलाहाबाद) ने इसी ज्ञान-रस का आस्वादन कराने के हेतु इस पुस्तक को छपवाकर बहुत सी प्रतियाँ बिना मूल्य वितरण की थीं। परन्तु इसकी भाषा अत्यन्त कठिन है और अनुवाद न होने के कारण यह पुस्तक बहुत लोगों की समझ में नहीं आ सकती थी, इस कारण अब परमपुरुष वासुदेव की कृपा तथा उन्हीं महात्मा श्री शिवशर्माजी के आशीर्वाद से यह पुस्तक हिन्दी-अनुवाद सहित छपवाने का सौभाग्य उन्हीं महात्मा के नाम पर पं० आदित्यरामजी भट्टाचार्य द्वारा स्थापित श्री शिवशर्मा संस्कृत पाठशाला की प्रबन्ध-कारिणी समिति को प्राप्त हुआ है। इस पुस्तक का विशेष परिचय 'पुस्तक-परिचय, मुखबन्ध तथा पं० आदित्यरामजी की जीवनी' में, जो इस पुस्तक के साथ छापे गये हैं, पाठकों को कुछ मिल जायगा। पाठकगण अपने विचार और रुचि के अनुसार इस पुस्तक का जितना आदर करना उचित समझें उतना करें।

'शिवमहिम्नःस्तोत्र' का अनुकरण-रूप श्री शिवशर्माजी का बनाया हुआ विष्णुमहिम्नःस्तोत्र भी, अनुवाद सहित, इस पुस्तक के परिशिष्टांश में संयुक्त कर दिया गया है। आशा है, विष्णु-भक्तों के लिये यह एक आदरणीय वस्तु होगा। एक और भी नवीन वस्तु इसी के साथ प्रकाशित की जा रही है। वह श्री दत्तात्रेयजी का बीजगर्भ स्तोत्र है। वह एक बड़े विद्वान् योगी पुरुष स्वामी श्री वासुदेवानन्दजी सरस्वती का रचा हुआ है। ये महात्मा महाराष्ट्र-देशीय दण्डी स्वामी थे। पाठकों में से यदि कोई इनका विशेष परिचय जानना चाहें

तो गोरखपुर के गीता प्रेस से प्रकाशित कल्याण पत्र के 'योगाङ्क' के परिशिष्टांश में देख लें। यह स्तोत्र विचित्र और विरल है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि वासुदेवरसानन्द पुस्तक के साथ यह स्तोत्र क्यों छापा गया, तो निवेदन है कि जैसे किसी बड़े मन्दिर में प्रधान मूर्ति के साथ छोटी-छोटी मूर्तियाँ भी स्थापित कर दी जाती हैं और उनकी भी पूजा होने लगती है, वैसे ही इन दोनों स्तोत्रों को भी, इसी वासुदेवरसानन्द पुस्तक के साथ रहने के कारण, कितने ही सज्जन पढ़ सकेंगे और उसके मनन से लाभ उठावेंगे।

इस पुस्तक के सम्पादन आदि में कई माननीय सज्जनों से विशेष सहायता मिली है। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्राच्य-विभाग के धर्मशास्त्राध्यापक पं० राधाप्रसादजी शास्त्री और इंडियन प्रेस इलाहाबाद की बनारस-शाखा के पण्डितों ने, पुस्तक और स्तोत्रों का अनुवाद करने में, बहुत परिश्रम किया है। इन सज्जनों को मैं बहुशः हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रधान प्रतिष्ठाता तथा वर्तमान अध्यक्ष (वाइस-चांसलर) और 'श्री शिवशर्मा संस्कृत पाठशाला, दारागञ्ज, प्रयाग' की प्रबन्ध-कारिणी समिति के सभापति स्वनाम-धन्य माननीय पं० मदनमोहन मालवीयजी ने पं० आदित्यराम भट्टाचार्यजी की जीवनी इस पुस्तक के लिये लिखकर बहुत ही कृपा की है। महामहोपाध्याय पं० गंगानाथजी झा, एम० ए०, डी० लिट्०, काशीय राजकीय संस्कृत-कालेज के भूतपूर्व अध्यक्ष तथा इलाहाबाद युनिवर्सिटी (विश्वविद्यालय) के भूतपूर्व अध्यक्ष (वाइस-चांसलर) ने पुस्तक में 'मुखबन्ध'-शीर्षक लेख लिखकर पुस्तक को सुशोभित किया है। रायबहादुर पं० बलदेवरामजी दवे, बी० ए०, एल्-एल० बी०, एम्० बी० ई०, एडवोकेट इलाहाबाद हाईकोर्ट तथा इलाहाबाद इंप्रूवमेंट ट्रस्ट के भूतपूर्व सभापति ने 'पुस्तक-परिचय'-शीर्षक प्रबन्ध लिखकर—पुस्तक-सम्बन्धी बहुत सी बातें पाठकों को विदित कराके—अधिक उपकृत किया है और उनके सुयोग्य कनिष्ठ भ्राता रायबहादुर पं० कन्हैयालालजी, एम० ए०, एल्-एल० बी०, भूतपूर्व जज इलाहाबाद हाईकोर्ट ने इस पुस्तक के छपने में हार्दिक सहानुभूतिपूर्ण सहायता दी है। उपरोक्त इन चारों सज्जनों को—जो कि 'श्री शिवशर्मा संस्कृत पाठशाला, दारागञ्ज, प्रयाग' की प्रबन्ध-कारिणी समिति के सम्मान्य सदस्य हैं—मैं अति विनम्र भाव से हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। पाठशालीय अध्यापकगण व्याकरणाचार्य पं० शोभमणिजी मिश्र और पं० रामचन्द्रजी त्रिपाठी ने प्रयोजनीय निरीक्षणादि में सहायक होकर उपकार

किया है; इन्हें भी बहुशः धन्यवाद है। इंडियन प्रेस, लिमिटेड के अन्यतम स्वत्वाधिकारी श्रीयुत बाबू हरिप्रसन्न घोष ने सौजन्य भाव से पुस्तक छापने के विषय में जो सुविधा प्रदान की है, तथा 'सरस्वती'-सम्पादक पं० देवीदत्तजी शुक्ल ने भी संशोधनादि में सहायता करने की जो कृपा की है, एतदर्थ इन दोनों महाशयों को भी बहुत धन्यवाद है।

पौष कृष्णा २,
सं० १९९२ वि०

श्री सत्यव्रत भट्टाचार्य्य
मन्त्री, 'श्री शिवशर्मा संस्कृत पाठशाला',
दशाश्वमेध, दारागंज, प्रयाग

महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य, एम० ए०

महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य्य की संक्षिप्त जीवनी

कुल-परिचय

पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य्यजी के पूर्वज कलकत्ते के पास, जिला चौबीस परगना के अन्तर्गत, राजपुर नामक ग्राम के निवासी थे। बङ्ग देश के ब्राह्मणों में कुछ लोग 'पाश्चात्य वैदिक श्रेणी के ब्राह्मण' कहलाते हैं। उसी श्रेणी के अन्तर्गत भट्टाचार्य्यजी का घराना है। इस श्रेणी के ब्राह्मण बङ्ग देश में सबसे अधिक मर्यादावान् माने जाते हैं। भट्टपल्ली तथा नवद्वीप आदि के जो बड़े-बड़े नामी विद्वान् होते आये हैं वे सब प्राय: इसी श्रेणी के ब्राह्मण थे। प्राचीन काल में इस श्रेणी के ब्राह्मणों के पूर्वज, महाराज आदिशूर के समय में, कन्नौज से बङ्ग देश में गये थे। इसी से इस श्रेणी के ब्राह्मण पाश्चात्य कहलाते हैं। उस समय तन्त्र-मार्ग के प्राबल्य के कारण बङ्ग देश में वैदिक क्रिया लुप्तप्राय हो गई थी, उसी को पुनर्जीवित करने के लिये ये लोग बुलाये गये थे। इस श्रेणी के ब्राह्मणों के सिवा बङ्ग देश में एक दाक्षिणात्य वैदिक श्रेणी के ब्राह्मण पाये जाते हैं। इनके पूर्वज लोग सम्भवत: द्राविड़ की ओर से तीर्थ-यात्रार्थ आकर वहीं बस गये थे, फिर नहीं लौटे।

पण्डित आदित्यरामजी का गोत्र घृतकौशिक है और इनकी शुक्ल यजुर्वेदान्तर्गत कण्व शाखा है। इनके मातामह-वंश में भी बड़े-बड़े विद्वान् हो गये हैं। स्मार्त रघुनन्दन के प्रसिद्ध टीकाकार, पण्डित काशीराम वाचस्पति के पौत्र, महाविद्वान् पं० राजीवलोचन न्यायभूषण इनके मातामह थे। इनका गोत्र मौद्गल्य था और ये ऋग्वेदीय ब्राह्मण थे। इन्हीं के कारण पंडितजी का निवास प्रयाग में हुआ। पं० राजीवलोचन बङ्ग देश के विष्णुपुर (बाँकुड़ा जिला) के निवासी थे। आप अपने एकमात्र प्रतिभाशाली पुत्र की युवावस्था में मृत्यु हो जाने पर, शोकातुर होकर, सकुटुम्ब काशी चले आये थे। काशी के पण्डित-समाज में अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त होने के कारण आप राजकीय संस्कृत कालेज में वेदान्त के अध्यापक पद पर नियुक्त हो गये थे। यह सन् १८२८ ईसवी की बात है।

काशी में रहते रहते इनका मन फिर वहाँ से भी उचट गया और कृष्णभक्त वैष्णव-कुल के होने के कारण इन लोगों ने अपना अन्तसमय वृन्दावन में बिताने का निश्चय किया। फलतः काशी को त्यागकर इन लोगों ने वृन्दावन के लिये प्रस्थान किया। प्रयाग में आकर ये कुछ दिनों के लिये ठहर गये। उन दिनों रीवाँ के तत्कालीन नरेश महाराजा जयसिंहजू देव हर साल, मकर-स्नान के लिये, प्रयाग आते थे और यमुनाजी के दक्षिण तट पर अपनी छावनी डालकर माघ मास भर 'कल्पवास' करते थे। तब रीवाँ राज्य की सीमा प्रयाग तक थी।

एक दिन पण्डित राजीवलोचन स्नान करके नदी-तट पर पूजन समाप्त कर स्तोत्रादि द्वारा भगवद्-वन्दना कर रहे थे। उनके निकट ही महाराज जयसिंहजी भी नाव से इस पार आकर सन्ध्या-पूजन करने लगे। जब महाराज ने उनका स्तोत्र-पाठ सुना तब उनका ध्यान पण्डितजी की ओर आकृष्ट हुआ और वे पण्डितजी के भक्ति-भाव पर अत्यन्त मुग्ध हो गये। महाराज ने उनको बुलाकर उनका परिचय प्राप्त किया और बहुत कह-सुनकर वृन्दावन जाने का विचार छुड़वाकर तीर्थराज में ही अंतिम जीवन बिताने पर उन्हें राजी किया। यही नहीं, उनके निवास के लिये यमुना के निकट कीटगञ्ज मुहल्ले में एक छोटा सा मकान खरीद दिया और उनकी चरण-पूजा कर वृत्ति-स्वरूप अपने राज्य मे एक गाँव दान में दिया। इसका दान-पत्र संवत् १८६१ का है।

महाराज जयसिंहजू देव स्वयं बड़े विद्वान् थे और विद्वानों के पोषक भी थे। अन्त में पं० राजीवलोचन ने त्रिवेणी पर जल में खड़े होकर, जप करते-करते, अपना नश्वर शरीर त्याग दिया था। पं० आदित्यरामजी के पिता का नाम पं० रामकमल भट्टाचार्य्य था। वे बाल्यकाल मे ही पितृ-मातृहीन होकर नाना के यहाँ पले थे, पर बड़े होने पर अपने मकान राजपुर को चले गये थे। उस समय घर में उनके एक पितृव्य थे जो विपत्नीक और सन्ततिहीन थे। उन्होंने तीर्थ-यात्रा के लिये काशी, प्रयाग तथा वृन्दावन जाने का निश्चय किया। युवक रामकमल ने भी उनके साथ चलने का विनयपूर्वक आग्रह किया। उस समय उन्हें रामकमल के इस विनयपूर्ण आग्रह को स्वीकार करना पड़ा और घूमते-घामते वे दोनों प्रयाग आये तथा यहाँ अपने सजातीय पं० राजीव-लोचन से मिले। पं० राजीवलोचनजी के एक कन्या थी जिसका नाम श्रीमती धन्यगोपी देवी था। 'कन्याप्येव पालनीया शिक्षणीया च यत्नतः'—मनुजी के इस वचनानुसार पण्डितजी अपनी कन्या को संस्कृतादि की अच्छी शिक्षा

हे रहे थे; परमसुन्दर युवक रामकमल को दूर देश में अपने निकट पाकर उनको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने अपनी कन्या का विवाह रामकमल के साथ करने का प्रस्ताव किया। दोनों एक ही श्रेणी और उत्तम कुल के थे; परन्तु रामकमल के पितृव्य इस दूर देश में एकाएक इस बात को कैसे स्वीकार करते? वर के और-और सम्बन्धियों की भी अनुमति लेनी थी, फिर प्रयाग और राजपुर में फासला भी बहुत था। पं० राजीवलोचन प्रयाग छोड़कर वृद्धावस्था में कन्या के विवाह के लिये उतनी दूर स्वदेश जाना नहीं चाहते थे, अतएव यदि यहीं कन्या के लिये वर मिल जाय तो क्या कहना। अन्त में उनके आग्रह की विजय हुई, और वृन्दावन से लौटकर रामकमल के पितृव्य ने इनका विवाह पं० राजीवलोचनजी की सुन्दरी और सद्गुण-सम्पन्ना कन्या के साथ काशीजी जाकर कर दिया। बङ्ग देश में अपने घर में कोई न रहने के कारण और ससुराल का बन्धन अधिक होने से रामकमल वृद्ध सास-ससुर को इस दूर देश में छोड़कर अपनी पत्नी को साथ लेकर स्वदेश न जा सके। उनको यहीं बस जाना पड़ा। उनके जितनी सन्ततियाँ हुई थीं उनमें तीन पुत्र और तीन कन्याएँ जीवित रहीं। ज्येष्ठ पुत्र का नाम वेणीमाधव, मध्यम का घनश्याम और तृतीय का आदित्यराम भट्टाचार्य्य था। इन लोगों का जन्म प्रयाग में ही हुआ था। ज्येष्ठ और कनिष्ठ पुत्र प्रयाग में ही घर बनाकर स्थायी हो गये और मध्यम पुत्र घनश्याम बङ्ग देश में जाकर रहने लगे।

पण्डितजी का जन्म और बाल्य तथा पठनावस्था

पण्डितजी की माता धन्यगोपी देवी, अपने पिता से पढ़कर, बड़ी विदुषी हो गई थीं। सूतिकागार में ही उन्होंने पण्डितजी की जन्मकुण्डली बना ली थी जो अभी तक सुरक्षित है। ये बड़ी धर्म-परायणा थीं। रसोई बनाते-बनाते भी शास्त्रीय विषयों में ही मग्न रहती थीं। वे रात्रि को तीन बजे उठकर प्रति दिन पड़ोस की दो-चार स्त्रियों के साथ कीटगञ्ज से त्रिवेणी जाकर स्नान करती थीं। वे बड़ी दानशीला थीं। शरीर पर के सोने के गहने भी उतारकर दे देती थीं। कहते हैं कि जब पण्डित आदित्यरामजी गर्भ में थे तभी इनको स्वप्न हुआ था कि तुम्हारे गर्भ में एक विशिष्ट पुरुष आया है। तभी से इन्होंने निश्चय कर लिया था कि जन्म होने पर इस पुत्र का नाम आदित्यराम रक्खेंगी। इनका जन्म संवत् १९०४ के मार्गशीर्ष/कृष्ण द्वितीया को

(तदनुसार २३ नवम्बर सन् १८४७ ई०) को हुआ था। आदित्यराम ने अपनी बाल्यावस्था प्रयाग में ही बिताई थी। दस वर्ष की अवस्था में वे अपने कुटुम्बियों के साथ बङ्ग देश गये थे। वहाँ भट्टपल्ली (भाटपाड़ा) में गङ्गा-तट पर उनकी माता ने स्वर्ग-लाभ किया। इस दुर्घटना के बाद ये लोग प्रयाग लौट आये। यहाँ आदित्यराम की नानी जीवित थीं। इस स्थान में इनके विद्याभ्यास का प्रबन्ध ठीक-ठीक नहीं हो रहा था। उन दिनों यहाँ कोई अँगरेजी विद्यालय न रहने के कारण कुछ बड़े होते ही, तेरह वर्ष की अवस्था में, इनको इनके ज्येष्ठ भ्राता ने काशी भेज दिया। वहाँ जाकर इनका पढ़ने में बड़ा मन लगा। बड़े भाई प्रयाग में सरकारी नौकरी कर रहे थे। उन्हीं के पास ये रहते थे। पिता और मध्यम भ्राता बङ्ग देश में, राजपुर के मकान में, जाकर रहने लगे।

काशी में आदित्यरामजी सरकारी स्कूल में अँगरेजी और घर पर संस्कृत पढ़ने लगे। उनको इस बात की धुन थी कि उस समय काशी में जो बड़े-बड़े प्राचीन पण्डित थे उन सबके पास जा-जाकर कुछ न कुछ पढ़ते रहें। वे लोग भी उनको स्नेहवश पढ़ाया करते थे। इस तरह से उन्होंने पण्डित कैलाशचन्द्र शिरोमणि, पण्डित प्रेमचन्द्र तर्क-वागीश, पण्डित बेचनराम त्रिपाठी और पण्डित जयनारायण तर्कालङ्कार के पास संस्कृत का अध्ययन किया। उधर अँगरेजी पढ़ने में भी ध्यान रखते थे। सरकारी स्कूल से प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर कालेज में भरती हो गये। यह सन् १८६४ ई० की बात है।

कालेज में जाने के बाद कुछ ही दिनों में अपने प्रतिभा-बल से कालेज के अध्यक्ष स्वर्गवासी श्रीमान् ग्रिफिथ साहब की निगाह में पड़ गये। ग्रिफिथ साहब बड़े विद्वान् और संस्कृत के भी बड़े पण्डित थे। उन्होंने वेद, वाल्मीकीय रामायण तथा और भी अनेक संस्कृत काव्यों का अँगरेजी के गद्य और पद्य में अनुवाद किया था। उस समय उनको दो छात्र बड़े प्रिय थे। एक तो थे पं० लक्ष्मीशङ्कर मिश्र और दूसरे पं० आदित्यरामजी। उनमें पं० लक्ष्मीशङ्कर आदित्यरामजी से उच्च कक्षा में पढ़ते थे। बी० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद जब सर्वोच्च श्रेणी एम० ए० में पढ़ने का समय आया, तब आदित्यरामजी ने अँगरेजी साहित्य में एम० ए० पास करने का निश्चय किया जिससे कि ग्रिफिथ साहब के अँगरेजी भाषा के पाण्डित्य से लाभ उठावें, परंतु साहब ने कहा कि तुम पण्डित बनो। उनके आज्ञानुसार उन्होंने संस्कृत में ही एम० ए० पास करने का निश्चय किया।

उन दिनों इस प्रान्त में कोई विश्वविद्यालय नहीं था। आगरा तक के सब कालेज कलकत्ता विश्वविद्यालय के अन्तर्गत थे। काशी के कालेज में कुछ दिन एम० ए० में संस्कृत पढ़कर कलकत्ते के सरकारी संस्कृत कालेज में जाकर पढ़ने की आवश्यकता हुई। वहाँ स्वर्गवासी महामहोपाध्याय पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न की अधीनता में एक साल पढ़कर एम० ए० पास किया। पण्डितजी ने छात्रावस्था में बहुत सी वृत्तियाँ, सुवर्णपदक और पारितोषिक प्राप्त किये थे। एक-एक साल में दो-तीन वृत्तियाँ तक पाते रहे, इस कारण उनको घर से खर्च लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वे छात्रावस्था में प्रबन्ध आदि लिखकर पत्र-पत्रिकाओं में छपाया करते थे। अखबारों में प्रबन्ध आदि लिखने का शौक उनको उसी समय से हो गया था। इसी समय, बीस वर्ष की अवस्था में, उनका विवाह हुआ। कलकत्ते से कुछ दूर काँठालपाड़ा नाम का एक प्रसिद्ध कसबा है। सुप्रसिद्ध औपन्यासिक बाबू बङ्किमचन्द्र का वहीं मकान था। इसी स्थान के एक विद्वान्-कुल की कन्या श्रीमती श्यामाङ्गिनी देवी के साथ उनका विवाह हुआ।

एम० ए० पास करने पर उन्हें बुलाकर ग्रिफिथ साहब ने शिक्षा-विभाग में एक सरकारी पद पर नियुक्त कर दिया। मध्यप्रदेश में सागर के विद्यालय में, सन् १८७२ ई० के प्रारम्भ में, वे संस्कृताध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। उसी समय ग्रिफिथ साहब भी इस प्रान्त के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त होकर प्रयाग में आ गये। सागर में पण्डितजी का बहुत दिन तक रहना नहीं हुआ। उसी समय प्रयाग में म्योर सेंट्रल कालेज के नाम से सरकारी कालेज स्थापित किया गया। आजकल जिस कोठी का नाम 'दरभङ्गा कैसल' है, उन दिनों उसका नाम 'लौदर कैसल' (लौदर साहब की कोठी) था। उसी कोठी में यह कालेज खोला गया। पण्डितजी सागर में तीन-चार महीने भी न रह पाये थे कि ग्रिफिथ साहब ने उनको प्रयाग बुला लिया और नये कालेज में उन्हें संस्कृताध्यापक के पद पर नियुक्त कर दिया। इस पद पर से ५५ वर्ष की अवस्था में पण्डितजी ने अवकाश ग्रहण किया। बीच-बीच में कई बार आपको संस्कृत का पढ़ाना छोड़कर अँगरेजी साहित्य भी, थोड़े-थोड़े दिनों के लिये, पढ़ाना पड़ा था। काशीस्थ सरकारी संस्कृत कालेज में आप अँगरेजी भाषा के अध्यापक होकर करीब ढाई वर्ष तक रहे। यह पद उन दिनों अँगरेजों के लिये सुरक्षित था, परन्तु पण्डितजी ने कुछ

दिनों के लिये इसको सुशोभित किया था। आप ही ऐसे भारतीय विद्वान् थे जो इस पद पर पहले पहल नियुक्त किये गये थे। पीछे जब टीबो साहब, जो जर्मन थे, उस पद के लिये स्थायी रूप से नियुक्त होकर आये तब वे प्रयाग कालेज के अपने पुराने पद पर फिर लौट आये।

पण्डितजी ने इलाहाबाद युनिवर्सिटी के शिक्षा-विभाग के कार्यों में भी भाग लेकर अच्छी कीर्ति पाई थी। क्या देशी क्या अँगरेज, सभी उनको मानते थे। अवकाश ग्रहण करते समय संयुक्त प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर साहब, शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर साहब और म्योर कालेज के प्रिंसिपल साहब तथा विश्वविद्यालय की अन्यान्य शिक्षा-समितियों ने उनको, बहुत प्रशंसा करके, विदा किया था। विश्वविद्यालय के प्रबन्ध-विषयों में पण्डितजी ने बहुत स्वतन्त्रता और निर्भीकता से काम किया था, जिसके लिये उन्हें यश भी बहुत मिला था। वे प्रवेशिका से लेकर एम० ए० की परीक्षा तक के संस्कृत के परीक्षक होते थे। वे बड़े ही न्यायनिष्ठ थे और किसी के साथ तनिक भी पक्षपात नहीं करते थे। प्रयोजन पड़ने पर बड़े स्पष्टवक्ता थे। इस कारण कभी कभी अफसर लोग उनसे चिढ़ जाते थे, तो भी उनकी न्याय-परायणता के कारण उनका सदा सम्मान करते थे।

हिन्दी के भी वे बड़े ही प्रेमी थे और हिन्दी-साहित्य की उन्नति के लिये सदा उत्साह दिखाते थे। उस समय हिन्दी-भाषा में कोई अच्छी मासिक पत्रिका नहीं थी। इस अभाव को दूर करने के लिये उन्होंने बहुत चेष्टा की थी, और जब प्रयाग के इंडियन प्रेस ने सरस्वती नाम की पत्रिका निकाली तब उनको बड़ा सन्तोष हुआ। वे काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के सदस्य और शुभेच्छु थे।

हिन्दू-छात्र-मण्डली में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। छात्रों का पक्ष लेकर, समय-समय पर, वे अधिकारियों से लड़ तक बैठते थे, और इसका सदा ध्यान रखते थे कि उन छात्रों के साथ कोई अन्याय न हो। ये सब बातें अब पुरानी और विस्मृत कहानी सी हो गई हैं। छात्र लोग भी उनको देवता और गुरु के समान मानते थे। वे सब प्रान्तों के छात्रों का समान भाव से आदर करते थे, और जो छात्र अन्य प्रान्तों से पढ़ने के लिये आते थे उन पर तो और भी अधिक कृपा करते थे। उनके कितने ही छात्र दूर दूर स्थानों में उच्च पदों पर पहुँचे हैं और आज भी उनकी प्रीति और उनके उच्च चरित्र की वार्ता प्रायः कहते रहते हैं। सरकारी नौकर होने के कारण वे सार्वजनिक कामों में

योगदान नहीं कर सकते थे, तथापि लोगों को यथोचित उत्साह बराबर देते रहते थे और देश के कामों में सहानुभूति भी रखते थे। बीच-बीच में अँगरेजी समाचार-पत्रों में सामयिक विषयों पर अपने गम्भीर विचार के प्रबन्ध आदि भी छपवा दिया करते थे। वह समय आजकल के समान नहीं था, देश-हित की बातें कम लोग समझते थे और खड़े होकर बोलने-लिखनेवाले तो इस प्रान्त में बहुत ही कम थे। कुछ दिनों तक उन्होंने 'इंडियन यूनियन' नामक एक स्थानीय अँगरेजी समाचार-पत्र का अस्थायी रूप से और परोक्ष भाव से, प्रयोजन-वश, सम्पादन भी किया था। वे देश की बनी हुई वस्तुओं के व्यवहार के विषय में बड़े कट्टर थे। वङ्ग देश में इस विषय का पहले पहल आन्दोलन होने के बहुत पहले से ही वे इस विषय पर ध्यान देकर इसके अनुरागी हो गये थे। प्रयाग में 'हिन्दू-समाज' उन्हीं के उपदेश और प्रोत्साहन से स्थापित हुआ था। पण्डितजी की लिखी हुई अपील आज भी पढ़ने योग्य है। अँगरेजी राज्य के समय में हिन्दू-समाज के सङ्गठन का यह पहला प्रयत्न था। उससे हिन्दू सज्जनों का उत्साह बहुत बढ़ा था। हिन्दू-समाज कई वर्ष तक हिन्दुओं के सङ्गठन का कार्य करता रहा। पण्डितजी के उपदेश और प्रोत्साहन से मैं उसका सदस्य हो गया था। मैं उस समय म्योर सेंट्रल कालेज का छात्र था। पण्डितजी मुझ पर बहुत स्नेह रखते थे। उनके सम्पर्क से मुझमें देश-भक्ति का भाव दृढ़ होता गया।

पण्डितजी 'थियोसोफिकल सोसाइटी' में शामिल हो गये थे; क्योंकि उससे प्रारम्भ में हिन्दू-धर्म को बहुत सहायता मिली थी। अच्छे-अच्छे प्रतिभाशाली अँगरेज, ईसाई पादरियों का प्रतिवाद करके, जब हिन्दू-धर्म का समर्थन करने लगे तब हिन्दू-धर्म को बहुत बल मिला, और जिन अँगरेजी पढ़े देशी लोगों की श्रद्धा अपने धर्म पर शिथिल हो रही थी, उनकी बुद्धि लौटी और वे स्वधर्म के प्रेमी होने लगे। परन्तु पीछे जब थियोसोफिकल समाज में अवान्तर की बहुतेरी बातें ग्रहण की जाने लगीं तब उससे पण्डितजी की श्रद्धा घट गई; यहाँ तक कि उससे उनका सम्बन्ध भी शिथिल हो गया।

हिन्दू लड़कों का स्वधर्म में छात्रावस्था से ही प्रेम बना रहे और वे दूसरों के बहकाने से न बहकें, इस अभिप्राय से जब १८९८ ई० में काशी में श्रीमती एनी बेसेंट, बाबू गोविन्ददास, डाक्टर भगवानदास, बाबू उपेन्द्रनाथ वसु तथा अन्य सज्जनों ने सेंट्रल हिन्दू कालेज खोला तब पण्डितजी ने—उसके एक बड़े

समर्थक के रूप में—उत्साहपूर्वक उसमें सहयोग किया था, और जब उसके सञ्चालकों की यह राय हुई कि कोई प्रतिष्ठित हिन्दू विद्वान् उस कालेज का प्रिंसिपल बनाया जाय तब उन्होंने पण्डितजी को निमन्त्रित किया। उसकी अध्यक्षता ग्रहण कर उन्होंने उन हिन्दू सज्जनों का, जो उसको सन्देह की दृष्टि से देखते थे, सन्देह दूर कर दिया। यह कार्य उन्होंने सरकारी नौकरी से अलग होने के पीछे सन् १९०४ से १९०६ ई० तक किया था। फिर जब काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय स्थापित करने की चर्चा उठी तब फिर पण्डितजी का उत्साह दूना हो गया। यद्यपि इस समय उनकी अवस्था अधिक हो गई थी तथापि उस कार्य में उन्होंने बहुत प्रोत्साहन दिया। विश्व-विद्यालय के स्थापित हो जाने पर उसमें प्रो-वाइस-चांसलर का उच्च पद ग्रहण कर वे फिर काशी गये और सन् १९१६ से १९१८ ई० तक बड़े परिश्रम और उत्साह से उस पद का काम करते रहे। एक नवीन आदर्श विश्वविद्यालय की संस्थापना और उसका संगठन करने के लिये वृद्धावस्था में पण्डितजी को बहुत परिश्रम करना पड़ा। इसका यह परिणाम हुआ कि उनके नेत्रों की ज्योति जाती रही और शरीर भी टूट गया; अतएव ७१ वर्ष की अवस्था में वे अपने प्रयाग के मकान में लौट आये। फिर उनका स्वास्थ्य और दृष्टि-शक्ति नहीं सुधरी और तीन वर्ष बाद उनका शरीर भी छूट गया।

पण्डितजी के उच्च उदाहरण से ही अभिभूत होकर उनके एकमात्र प्रिय पुत्र, विद्वान्, त्यागी तपस्वी, और ब्रह्मचारी, पं० सत्यव्रतजी—जिन्होंने इति-हास में एम० ए० की परीक्षा पास की थी—अनेक वर्षों तक सेंट्रल हिन्दू-कालेज में अवैतनिक प्रोफेसर आफ् एकनामिक्स का कार्य बहुत प्रेम और योग्यता से करते रहे। इस युग में पं० सत्यव्रतजी ने पितृ-भक्ति और मातृ-भक्ति का बड़ा ऊँचा आदर्श दिखलाया है। इसी लिये जो लोग उनको जानते हैं वे उनका अत्यन्त समादर करते हैं।

पण्डितजी ने अपनी संस्कृत पाठशाला के लिये अपने घर से लगा हुआ जो भवन बनवाया था, उसी में आकर वे उन दिनों रहने लगे थे; गृहस्था-श्रम का मकान छोड़ दिया था। १८ अक्टूबर सन् १९२१ ई० (कार्तिक कृष्ण द्वितीया संवत् १९७८) को अरुणोदय के समय वे उसी भवन में परब्रह्म में लीन हुए। पण्डितजी को गवर्नमेंट ने सन् १८९७ ई० में महामहोपाध्याय की पदवी देकर सम्मानित किया था। इस समय उनकी अवस्था ५० वर्ष की

थी। इसी समय उनको गार्हस्थ्य शोक भी पड़ा। इसके पूर्व वर्ष में उनके मध्यम भ्राता श्री घनश्याम भट्टाचार्य्यजी का, जो अपने पूर्वजों के स्थान से हटकर कलकत्ते से कुछ ऊपर गंगा-तट पर विद्वज्जन-सेवित भट्टपल्ली गाँव में निवास कर रहे थे और यहीं रहने के लिये घर भी बना लिया था, देहान्त हो गया था। ये बड़े कर्मठ और मिलनसार थे तथा, सरकारी दफ़्तर के काम-काज में बहुत कुशल होने से, उच्च पद पर पहुँच गये थे। तीनों भाइयों में परस्पर गहरा भ्रातृ-भाव था। पण्डितजी को भ्रातृ-वियोग का शोक अभी ताजा ही था कि इसी समय उन पर दूसरा वज्रपात हुआ। उनका सुयोग्य और अत्यन्त स्नेहभाजन ज्येष्ठ पुत्र सत्यवान् भट्टाचार्य्य, चौबीस वर्ष की अवस्था में, माता-पिता तथा सब कुटुम्ब को गम्भीर शोक में डालकर परलोक को चला गया। इस दुर्घटना से पण्डितजी को प्राणान्तक पीड़ा पहुँची। उनका हृदय इस परम शोक से बहुत व्यथित हुआ, परन्तु उनके चरित्र की गम्भीरता का अद्भुत परिचय इसी समय मिला। उनको इस भारी शोक में भी अश्रुपात करते कभी किसी ने नहीं देखा। केवल निद्रा की अचेतनावस्था में शोक का गम्भीर उच्छ्वास सुनने में आता था। इस दुर्घटना के पूर्व तक इनके केश बिलकुल काले थे, किन्तु अब छः महीने के अन्दर आधे श्वेत हो गये। बाहर से ये पहले के समान ही अपनी दिनचर्या में लगे रहते थे, उसमें कोई त्रुटि नहीं होने पाती थी। उनकी पूजनीया पत्नी भी शोक से अभिभूत रहती थीं। उनका शेष जीवन रुग्णावस्था में ही व्यतीत हो रहा है।

इस दुर्घटना के बाद पण्डितजी ने और पाँच वर्ष तक नौकरी की। ३० वर्ष की नौकरी पूरी करके, ५५ वर्ष की अवस्था में, सन् १९०२ ई० में उन्होंने अपने काम से अवकाश ग्रहण किया। अधिकारी चाहते थे कि वे अभी और कुछ दिनों तक काम करें परन्तु इस बात को उन्होंने नहीं स्वीकार किया। कालेज के अध्यक्ष टीबो साहब और अन्य सब अध्यापकों तथा छात्र-मण्डली ने मिलकर सभा की और पण्डितजी की प्रशंसा करके, खेद के साथ, उनको बिदा किया। इस अवसर पर, आपस में चन्दा करके, पण्डितजी का एक बड़ा चित्र कालेज के पुस्तकालय में लगा दिया गया। इस पुस्तक में उनका जो चित्र दिया गया है वह महामहोपाध्याय के वेश में उसी समय का है। कदाचित् ही कभी किसी अध्यापक की इतने सम्मान-पूर्वक समारोह से बिदाई हुई हो।

नौकरी से अवकाश ले लेने पर भी प्रयाग की युनिवर्सिटी के साथ पण्डित-जी का सम्बन्ध बना रहा। अधिकारियों के आग्रह से उसकी समितियों में उनको और भी कुछ वर्षों तक काम करना पड़ा, पर जब उस युनिवर्सिटी का नवीन सङ्गठन होने लगा तब पण्डितजी अवसर पाकर हट आये; परन्तु हिन्दू-विश्वविद्यालय के कार्य के लिये उन्हें कई बार काशी जाना पड़ा था। इस तरह शरीर के अस्वस्थ हो जाने पर जीवन के अन्तिम तीन वर्षों को छोड़कर वे अपनी आयु भर बराबर विद्या-दान के पवित्र कार्य में ही लगे रहे।

पण्डितजी की आत्मानुभव-सम्बन्धी बातें

पण्डितजी बाल्यावस्था से ही बलिष्ठ, तेजस्वी और उद्यमशील थे। छात्रा-वस्था से प्रौढ़ावस्था तक बराबर व्यायाम करते रहे। बादाम का सेवन उन्होंने नियमपूर्वक आजन्म किया। गृहस्थी में रहकर भी वे ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। उनके ओजपूर्ण नेत्र उनके नाम को सार्थक करते थे। वे सत्यभाषी और स्पष्टवक्ता थे। घुमा-फिराकर बातें करना नहीं जानते थे। परन्तु व्यक्तिगत भाव से न तो किसी का प्रतिवाद करते थे और न कटुवचन कहकर किसी को दुखी करते थे। वे परमार्थ-साधन में नियमपूर्वक लगे रहते थे। अपने जीवन की नित्यचर्या में वे यह बात दिखला गये हैं कि अपनी गृहस्थी का काम, जनता का काम और पारमार्थिक काम, इन सभी की तरफ ध्यान रखकर और इनका सामंजस्य कर मनुष्य को किस तरह कर्मशील होना चाहिए। वस्तुतः वे एक गृहस्थ योगी थे।

उनके धार्मिक जीवन पर सर्वप्रथम एक योगाभ्यासी साधु बाबा सुदर्शन-दास का प्रभाव पड़ा। ये श्री वैष्णव-सम्प्रदाय के वैरागी साधु थे और प्रयाग के गङ्गापार पुरानी झूसी के समुद्रकूप नाम के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान में रहते थे। इनके सिवा एक और महात्मा थे जो प्रयाग के दारागञ्ज मुहल्ले में, उनके मकान के पास ही, रहते थे। इनका नाम पं० अम्बिकादत्तजी शास्त्री था। ये विशेष पढ़े-लिखे तो नहीं थे परन्तु दैवी विभूति के बल से बहुश्रुत, सर्वशास्त्रों के पण्डित, हो गये थे। बड़े-बड़े विद्वान् उनके पास जाकर उनसे भिन्न-भिन्न शास्त्रों की कठिन-कठिन समस्याओं का सामञ्जस्य करवाते थे। इनकी और भी बहुत सी अलौकिक बातें थीं। ये शक्ति के सुसिद्ध उपासक थे। इन्होंने ज्वालामुखी पर्वत पर बहुत दिनों तक कठोर तप किया था। पण्डितजी इनके भी बड़े भक्त थे और उन्होंने नौकरी करते समय इनसे भी कुछ विद्याभ्यास

किया था। इनके सत्सङ्ग के कारण वे आजन्म साधु-सन्तों के प्रेमी हो गये थे। वे अच्छे महात्माओं की खोज में सदा रहते थे और परिश्रम कर दौड़-दौड़कर जङ्गलों-पहाड़ों में भी उनके पास जा-जाकर उनका सत्सङ्ग किया करते थे। ऐसा करते-करते उन्हें एक विलक्षण महापुरुष की कृपा प्राप्त हुई। सपत्नीक पण्डितजी उनके शिष्य हो गये।

पण्डितजी के शरीर में जब तक बल रहा तब तक वे नित्य सायङ्काल त्रिवेणी-तट को जाते थे। सूर्य की उपासना भी विशेष रूप से करते थे। रात्रि में तीन बजे उठकर, पूजन आदि करके, सूर्योदय के समय सूर्य के अष्टोत्तर शतनाम का पाठ कर उनको साष्टाङ्ग प्रणाम करते थे। जब तक शरीर में बल बना रहा तब तक पण्डितजी बराबर ऐसा ही करते रहे। पीछे घटाते-घटाते बैठे ही बैठे अपनी साधना करने लगे और सायङ्काल को त्रिवेणीजी के भ्रमण-समय में गङ्गाजल घण्टी में ले जाते थे। जहाँ सूर्यास्त होने लगता था वहाँ जूता उतार खड़े होकर सूर्य को अर्घ देते थे। जब युनिवर्सिटी की कमेटियों में या और कहीं सायङ्काल आ जाता था तब भी पण्डितजी काम छोड़कर उसी घण्टी में रखे गङ्गाजल से अर्घ देते थे। वे दोनों समय अग्नि में आहुति भी देते थे। जीवन के अन्तिम दिवस तक इन सब नियमों का कभी उल्लङ्घन नहीं हुआ। उपासना के समय वे अपने पास एक इकतारा भी रखते थे। उसको लेकर नित्य दोनों वक्त, पूजा के अन्त में, भजन गाया करते थे। वे बँगला, हिन्दी, पञ्जाबी आदि सब तरह के भजन गाते थे। उनका क्या इष्ट था, कौन सम्प्रदाय था, यह उनके आचरण से कोई नहीं जान सकता था। वे सबके समान प्रेमी थे। साकार-निराकार, वैष्णव-शैव, आचारी-औघड़ और भिन्न-भिन्न दूसरे धर्मों के अनुयायी सब उनसे समान आदर पाते थे। क्रिस्तान, सूफी, मुसलमान, पारसी, सिक्ख—वे सभी का सम्मान करते और सबसे आदरपूर्वक मिलते थे। सबकी खातिर करते हुए भी वे अपने सनातन हिन्दू-धर्म में पूर्ण श्रद्धा और अनुराग से लगे रहे।

पण्डितजी का वासस्थान भी बड़ा उत्तम था। उनका मकान प्रयाग के दारागञ्ज मुहल्ले में, गङ्गा-तट पर, प्राचीन दशाश्वमेधजी से लगा हुआ है। इसे उन्होंने १८७६ ई० में खरीदा था। जिस समय यहाँ पहले कोई मकान नहीं था उस समय झोपड़ी बनाकर एक बड़े विद्वान् महापुरुष रहते थे। उनका नाम शिवशर्मा था। वे बालब्रह्मचारी विरक्त महात्मा नैपाल देश के थे। उन्हीं

के नाम पर पण्डितजी ने अपने व्यय से एक संस्कृत पाठशाला स्थापित कराई है, जिसका प्रबन्ध काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय करता है। वे हिन्दुओं की प्राचीन सम्पत्ति और धर्म के प्राण-स्वरूप शास्त्रों का सुरक्षण अत्यावश्यक समझते थे। इस काल में इसका अनादर होने से इसके मलिन हो जाने की भी उन्हें बड़ी आशङ्का थी। अतएव वे संस्कृत विद्या द्वारा उपार्जित अपनी स्थावर-जङ्गम सब सम्पत्ति इसी के पोषण के लिये अर्पित कर गये हैं। वह काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के हाथ में सुरक्षित है और वहाँ के प्रबन्ध से, उस धन के अधिकांश द्वारा, अपने गङ्गातट के मकान में पाठशाला के चलाने की व्यवस्था वे अपनी मृत्यु के पहले ही कर गये हैं।

ज्येष्ठ भ्राता पण्डित वेणीमाधवजी

पण्डितजी के ज्येष्ठ भ्राता पं० वेणीमाधवजी भी एक बड़े चरित्रवान् पुरुष थे। बाल्यकाल ही से ये बड़े सदाचारी और नैष्ठिक हिन्दू थे। ये अपने मातामह-कुल के शालग्राम नारायण को वंग देश से यहाँ अपने पास लाये थे। ऐसी किंवदन्ती है कि वहाँ शालग्रामजी ने स्वप्न दिया था कि हम गङ्गाजी के निकट रहना चाहते हैं। वहाँ के लोग कुछ सोच न सके कि क्या करना चाहिए, पर जब उन लोगों को वेणीमाधवजी की याद आई तब उनको पत्र लिखा कि तुम ठाकुरजी को अपने यहाँ ले जाकर इनके पूजन आदि का प्रबन्ध कर सको तो बड़ा अच्छा हो। इन्होंने इस बात को स्वीकार कर लिया। ये वहाँ जाकर ठाकुरजी को ले आये। उस समय ये १८ वर्ष के थे। तब से शुचितापूर्वक ये अपने हाथ से उनकी पूजा, आरती, भोग आदि—मरने के पूर्व तक—करते रहे। अपने बाद भी उनकी सेवा-पूजा ठीक-ठीक होती रहने के लिये ये अपना मकान, पुष्प आदि के लिये एक बाग और अन्यान्य व्यय के लिये नकद रुपया, रजिस्टरी करके—देव-सम्पत्ति बनाकर—छोड़ गये। इनके पुत्र नहीं थे परन्तु कन्या-दौहित्र आदि हैं। ये यहाँ के लाट साहब के दफ्तर में नौकर थे। ५० वर्ष की अवस्था में विपत्नीक हो गये थे। कुछ दिन पीछे नौकरी से अवसर भी ले लिया था। अधिकारी चाहते थे कि ये नौकरी न छोड़ें। उनको अधिक उच्च पद देने को भी कहा, परन्तु दूसरी तरफ उनकी चेष्टा देखकर उनको अन्त में इनकी बात माननी पड़ी। अवसर लेते समय इनको जो प्रशंसापत्र दिया गया था उसमें लिखा है कि यद्यपि ये पद में कोई अफसर

नहीं थे तथापि इनमें इतनी योग्यता थी कि ऊपर के बड़े अफसरों का सब कार्य इनके हाथ में सौंप दिया गया था। उसे ये योग्यतापूर्वक करते आये थे। वास्तव में दफ्तर में ये जो काम करते थे वह सब पहले इनके ऊपर के अफसर किया करते थे।

अवसर ग्रहण करने के बाद ये दोनों भाई माघ मेले के सरकारी प्रबन्ध-सुधार में लग गये। उन दिनों साधुओं और यात्रियों पर मुसलमान पुलिस बहुत अत्याचार किया करती थी। अतएव इस सम्बन्ध में उस समय के प्रसिद्ध समाचार-पत्र 'पायोनियर' में, जिसे राजपुरुष लोग बहुत ध्यान से पढ़ा करते थे, कनिष्ठ भाई ने प्रबन्ध लिखना शुरू किया। दोनों भाइयों ने, यहाँ के और कुछ भले आदमियों की सहायता लेकर, आन्दोलन करके अधिकारियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। इस तरह जब सब बातें ऊपर के अधिकारियों को मालूम हुईं तब उनका सुधार होने लगा, परन्तु पुलिस मुहकमे के मुसलिम कर्मचारियों की इससे बड़ी आर्थिक हानि हुई। तब बदला लेने की नीयत से पुलिसवालों ने पण्डित वेणीमाधवजी पर फौजदारी का एक झूठा मामला चलाया। ऊपर के कर्मचारियों को मिलाकर यह मामला ऐसा सजाकर चलाया गया था कि वेणीमाधवजी को जेल जाने की नौबत पहुँच गई थी। उन दिनों के फौजदारी के एक नामी अँगरेज बैरिस्टर ने इस मामले में बड़ी पैरवी की, और पक्षपात होने की शङ्का से यह मामला प्रयाग से उठवाकर मिरजापुर जिले में भेजा गया। वहीं उनकी जीत हुई। इस मुकदमे में इनका बहुत धन व्यय हो गया। ये मानसिक चिन्ता से भी पीड़ित रहते थे, परन्तु जब भीतर की बात खुल गई तब इनको बहुत यश और सम्मान प्राप्त हुआ। सरकार ने इनको पुरस्कार-स्वरूप अवैतनिक मजिस्ट्रेट बनाकर इनकी मर्यादा बढ़ाई। तबसे इनके ऊपर पुलिस को किसी प्रकार का आक्षेप करने का साहस न हुआ। ये सुरक्षित हो गये।

मजिस्ट्रेट के पद पर ये अंत तक स्थित रहे। ये कई बार स्थानीय म्युनिसिपैलिटी के मेम्बर भी हुए। अभी तक पुराने लोग कहा करते हैं कि माधव बाबू जो काम करके दिखला गये हैं वह कोई नहीं कर सका। ये बड़े कर्तव्यनिष्ठ और स्वाधीन प्रकृति के थे। हिन्दू-जाति और हिन्दू-धर्म के लिये सदैव कटिबद्ध रहते थे। विपत्नीक हो जाने पर वे अन्त तक स्वयंपाकी रहे। शहर में उपजाई गई कोई शाक-भाजी इसलिये

नहीं खाते थे कि यहाँ मल-मूत्र की खाद से खेती होती थी। पं० बेणीमाधवजी किसी का प्रतिग्रह नहीं लेते थे, यहाँ तक कि अपने सहोदर भाई के दिये हुए फल आदि भी नहीं ग्रहण करते थे। नारायण-सेवा और धार्मिक कार्यों में ही अपना सारा बुढ़ापा इन्होंने बिता दिया। ८० वर्ष की अवस्था में भाई-भतीजे, कन्या-दौहित्रादि से सेवित होकर, गङ्गाजी में अर्धनिमज्जित अवस्था में, इन्होंने अपना शरीर छोड़ा।

इन लोगों के नाना का मकान, जो रीवाँ-नरेश जयसिंहजूदेव का दिया हुआ कीटगञ्ज मुहल्ले में था और जहाँ ये लोग पले थे, सन् १८५७ ई० के सिपाही-विद्रोह में तोड़कर किले के परेड के साथ मिला दिया गया। उस मकान के इस तरह चले जाने से ये दोनों भाई दारागञ्ज में आकर रहने लगे। दोनों भाइयों ने यहाँ धीरे-धीरे अपना-अपना मकान भी बना लिया। ये दोनों भाई इस देश के निवासियों की तरह शिरोभूषण के बिना मकान से नहीं निकलते थे। बड़े भाई धोती पर पगड़ी बाँधते थे और छोटे भाई पण्डिताऊ टोपी पहनते थे।

पण्डितजी की अन्य बातें

'दुर्गा-सप्तशती' में भगवती से भक्त प्रार्थना करता है कि 'पत्नीं मनोरमां देहि मनोवृत्तानुसारिणीम्'। पण्डितजी को इसका पूरा सौभाग्य प्राप्त था। माताजी अत्यन्त नम्र प्रकृति की हैं। वे पति की सेवा बराबर प्रीति से करती थीं। इनके यहाँ रसोईदार रखने का नियम न होने से क्या सुख में क्या दुख में, सदैव स्वयं पाक करके पति की संतोषजनक सेवा करती थीं। और सब गार्हस्थ्य काम-काज में भी मनोवृत्तानुसारिणी होकर ही रही हैं। देहान्त के समय पण्डितजी इनको अपने एकमात्र पुत्र पं० सत्यव्रतजी को सौंप गये। वे एक कन्या भी छोड़ गये थे। इनके पौत्र-दौहित्र कोई नहीं है। परन्तु इनके मध्यम भ्राता घनश्यामजी के सुयोग्य पुत्र-पौत्रादिक भट्टपल्ली (भाट-पाड़ा) में हैं।

पण्डितजी संस्कृत पाठशालाओं के विद्यार्थियों को बहुत चाहते थे। उनके श्राद्ध और वार्षिक में यहाँ की सब पाठशालाओं के अध्यापकों और विद्यार्थियों को निमंत्रित करके, यथोचित दक्षिणा सहित, भोजनादि से सत्कृत किया गया था। पीछे से संस्कृत पाठशाला भी मकान में खुल गई और,

उन्हीं के आज्ञानुसार, उसका नाम 'श्री शिवशर्म्मा संस्कृत पाठशाला' रक्खा गया। जो महात्मा एक समय इस स्थान पर रहते थे और जिनको लोग भूल से गये थे उनकी एकमात्र कीर्ति 'वासुदेवरसानन्द' पुस्तक को छपवा-कर पण्डितजी ने प्रकट कर दिया और उनके नाम से पाठशाला खोलकर उनका नाम भी चिरस्थायी कर दिया। आशा है, इसी के साथ पण्डितजी की पवित्र कीर्ति भी चिरस्थायिनी रहेगी।

अन्तिम अवस्था की बीमारी में, कष्ट के कारण, निद्राहीन होकर पण्डितजी को दो-तीन महीने बिताने पड़े थे। एक दिन उन्होंने कहा कि इस बात से हमको बड़ा लाभ हो रहा है कि निद्रा से हमारे जप में भङ्ग नहीं होता। अन्तिम दिवस भी सायंकाल में सूर्यार्घ्य, हवन आदि नित्य नियम उन्होंने सम्यक् रूप से किये थे, परन्तु बहुत कष्टपूर्वक। जब रात्रि में शरीर की अवस्था और शिथिल हुई तब यह समझकर कि समय निकट आ गया है, उन्होंने समय पूछा। उस समय १ बजा था। यह सुनकर उनको बड़ी चिन्ता हुई कि राक्षसी समय निकल जायगा या नहीं। परन्तु वह समय निकल गया, सबेरा हुआ। पूर्व की ओर आकाश में लाली छा गई। सूर्योदय के किंचित् पूर्व उनका इस जन्म का अध्याय शान्तिपूर्वक समाप्त हो गया।

मात: ! फिर पं० वेणीमाधव भट्टाचार्य्य और पं० आदित्यराम भट्टाचार्य्य के समान, गृहस्थ तपस्वी, त्यागी, भगवद्भक्त, देशभक्त, हिन्दू-धर्म और हिन्दू-जाति के प्रेमी, धर्म में दृढ़ पुरुषों को जन्म दो।

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय,
आश्विन शुक्ला त्रयोदशी,
संवत् १९९२ वि०

उन महात्माओं का भक्त और स्नेह-भाजन—
मदनमोहन मालवीय

पुस्तक-परिचय

सौ वर्ष से अधिक हुआ होगा कि किसी देश के महाराज प्रयाग में आये। इन्होंने कुछ दिनों के लिये यहाँ डेरा किया। ये महाराज बड़े उदारचरित और विद्वान् थे। संस्कृत विद्या में भी निपुण थे। ये महाराज प्रतिवर्ष प्रयाग में माघ महीने में, राजा हर्ष की तरह, गङ्गा-स्नान के लिये आया करते थे। परन्तु इस समय यह अनुमान नहीं हो सकता था कि यह महाराज कौन थे। संयोगवश मुझको एक दानपत्र देखने को मिला, जिसके द्वारा रीवाँ-नरेश महाराज जयसिंहजूदेव ने प्रयाग-निवासी पण्डित राजीवलोचन को एक गाँव अपने राज में, पाय पखाल करके, दान में दिया था। दानपत्र मिती कार्तिक वदी ११ भौमवार, संवत् १८६१, मुकाम अरैल सोमेश्वरघाट (अर्थात् प्रयाग में यमुनाजी के उस पार) का लिखा हुआ था[१]।

इसको देखने से मुझको विश्वास हुआ कि वे महाराज कौन थे। सर विलियम हंटर ने अपने गजेटियर में लिखा है कि राजा जयसिंहजूदेव ने सन् १८०९ से १८३५ तक रीवाँ में राज्य किया था। ये बड़े विद्वान् थे। इन्होंने कई पुस्तकें भी रची थीं। ये विद्वानों के बड़े पोषक थे[२]। इस वृत्तान्त का

---

(१) दानपत्र की प्रतिलिपि—

सिद्धि ॥ ४ ॥ श्री महाराजाधिराज श्री महाराजा श्री राजा बहादुर जैसिंहदेवजू देव पादारघ दीन श्री भण्टाचार्जे राजीवलोचन का ग्रामे रेहडहा परिगने तेउथरि के सजल सकास्ठ सख्रज सेत्रिन सहित चर्तुसीवाउ कीन कै दीन सो पाऐ रहे लैकर पाठ लिषि दीन औ आगु ते कोहूणा गाड़ि अहलहाने अमलो रहै। मिती कातिक वदि ११ भौमे का संवत् १८६१ मुकाम अरैल सोमेस्वर घाट।

श्रीमान् पं० आदित्यरामजी के प्रयत्न से ६ अप्रैल सं० १९२१ से रीवाँ स्टेट ने कृपा कर, दाता श्री महाराज जयसिंहजूदेव और ग्रहीता श्री पं० राजीवलोचनजी के स्मारक-रूप, इस ग्राम का नाम 'जयराजीव पुरवा' रख दिया है। अब रीवाँ दरबार के सरकारी कागज़ात में इसी नाम का व्यवहार होता है।

(२) सर विलियम हंटर—इंडियन गजेटियर, जिल्द ११, पृष्ठ २८१—१९०८।

समय भी यही था। इससे निश्चय हुआ कि हो न हो वह दानशील और विद्यापरायण नरेश राजा जयसिंहजूदेव ही थे।

कहते हैं कि महाराज साहब ने प्रयाग में पण्डितों की सभा की और अपनी शङ्का के समाधान के लिये उसमें प्रश्न किया। पण्डितों ने, अपनी समझ और विद्या के अनुसार, उत्तर दिया; परन्तु उससे महाराजा साहब को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने लोगों से पूछा कि कोई अन्य विद्वान् प्रयाग में हैं जिनसे अपनी शङ्का का समाधान कर सकें। उनसे कहा गया कि गङ्गा-तट पर, दशाश्वमेध महादेवजी के मन्दिर के पास, एक महात्मा रहते हैं। उनसे बढ़कर विद्वान् प्रयाग में कोई नहीं है। महाराज साहब ने उनको बुलवाना चाहा परन्तु जब यह कहा गया कि महात्माजी अपना आसन छोड़कर किसी के यहाँ नहीं जाते तब वे उनके पास आप ही गये और अपना प्रश्न किया। महात्माजी का उत्तर ऐसा सन्तोषजनक था कि महाराज साहब अत्यन्त प्रसन्न हुए। एक स्थान पर दो विद्वानों के एकत्र होने पर एक दूसरे के साथ जो वार्त्तालाप होता है उसका क्या कहना! महात्माजी का नाम तो शिवशर्म्मा था; परन्तु वे विष्णु भगवान् के उपासक थे। दशाश्वमेध शिवजी के मन्दिर के निकट रहने के कारण उनको 'महिम्न' आदि अनेक शिवस्तुतियाँ प्रतिदिन सुननी पड़ती थीं, इसका उनको खेद न था। परन्तु उनकी भक्ति विष्णु भगवान् के चरणों में ही बढ़ती गई। उसी समय उन्होंने 'विष्णु-महिम्नः स्तोत्र' लिखा और वासुदेवरसानन्द नाम की पुस्तक भी रची थी। महाराज साहब से जब इस पुस्तक का हाल कहा गया तब उन्होंने महात्माजी से उसको देखने की इच्छा प्रकट की और कहा कि प्रयाग छोड़ने के पहले वह पुस्तक उन्हें लौटा देंगे। उस पुस्तक को पढ़ने के लिये महाराज साहब अपने डेरे में ले गये।

एक दिन की बात है कि महात्माजी ने सुना कि महाराज साहब के नौकर-चाकर गङ्गा-पार जा रहे हैं। उन्होंने एक पड़ोसी को महाराज साहब के पास भेजा और पुस्तक मँगवाई। महाराज साहब ने कहला भेजा कि वे पुस्तक को पूरी पढ़कर और महात्माजी को देकर प्रयाग छोड़ेंगे और उन्होंने ऐसा ही किया।

महात्मा शिवशर्म्माजी ने इस पुस्तक के अन्त में अपना कुछ हाल लिखा है। उससे ज्ञात होता है कि वे मकरन्द पण्डित के पुत्र थे। उनकी माताजी का नाम गङ्गादेवी था। वे त्रितुङ्गाचल (अर्थात् नेपाल) के अन्तर्गत बसन्त-

पुर के निवासी थे। बसन्तपुर नेपाल की राजधानी काठमाण्डू से पूर्व एक बस्ती है। कोई यह भी कहते हैं कि यह बस्ती काठमाण्डू का ही एक मुहल्ला है। महात्मा शिवशर्म्माजी ने इस पुस्तक को वैशाख शुक्ल ५ बुधवार, संवत् १८९० (२४ अप्रैल सन् १८३३ ई०) को समाप्त किया था। कहते हैं कि शिवशर्म्माजी छोटी उमर में नेपाल से विद्योपार्जन के लिये काशी चले आये थे। वहाँ उन्होंने पूर्ण रीति से संस्कृत पढ़ी।

मैं सन् १८८१ ई० में प्रयाग के म्योर सेंट्रल कालेज में भर्ती हुआ। उस समय पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य्यजी उस कालेज में संस्कृत के अध्यापक (प्रोफेसर) थे। मैंने भी उनसे संस्कृत में शिक्षा पाई। पण्डित आदित्यरामजी के पूर्वज कलकत्ते के पास राजपुर के निवासी थे। पण्डित राजीवलोचन, जिनका नाम पूर्व में लिख चुका हूँ, इनके मातामह थे। पण्डित आदित्यरामजी चिरकाल से अपने मातामह के साथ प्रयाग में रहते थे। उस समय प्रयाग-निवासियों का मुख्य स्थान किले के पास यमुनाजी के तट पर था और वहाँ पर पण्डित आदित्यरामजी अपने नाना के घर रहते थे। पण्डितजी संस्कृत पढ़ने के लिये काशी चले गये। वहाँ पर उन्होंने सम्पूर्ण शिक्षा पाई।

सन् १८७२ ई० में जब म्योर सेंट्रल कालेज स्थापित हुआ तब पण्डित आदित्यरामजी उसमें संस्कृत के अध्यापक नियत हुए। उस समय प्रयाग में गङ्गा के तट पर, दशाश्वमेध महादेवजी के मन्दिर के पास, वे एक मकान में रहने लगे। जिस समय उन्होंने वहाँ पर नया मकान बनवाया उस समय महात्मा शिवशर्म्माजी की पूर्वोक्त कथा एक वृद्ध प्रयागवाल ने पण्डितजी को सुनाई। उनको बताया कि महात्मा शिवशर्म्माजी उसी स्थान पर रहते थे जहाँ पर उन्होंने अपना नया मकान बनवाया है।

पैंतालीस वर्ष से कुछ अधिक समय हुआ कि किसी अँगरेज की डिगरी में कुर्क होकर कई बोरे हस्तलिखित पुस्तकें प्रयाग के सदरआला की कचहरी में आईं। उस समय पण्डित मोतीलालजी नेहरू के ज्येष्ठ भ्राता पण्डित बंसीधरजी सबजजी की कुर्सी पर विराजमान थे। ये महाशय ज्योतिष में श्रद्धा रखते थे। उनसे कहा गया—"ये हस्तलिखित पुस्तकें उन ज्योतिषीजी की हैं जो किसी समय काशी-नरेश के यहाँ ज्योतिषी थे। उनकी सन्तान उन पुस्तकों की रक्षा नहीं कर सकी, इसी कारण उस समय उन हस्तलिखित पुस्तकों की दुर्दशा देखने में आई।" मैं उस समय प्रयाग में वकालत करता

था। थोड़ी बहुत संस्कृत जानने के कारण मुझको सदरआला साहब ने उन पुस्तकों को नीलाम करने के लिये कमिश्नर नियत किया; प्रयाग के एक सम्मानित विद्वान् और पुस्तकों के प्रेमी पण्डित बालकृष्ण भट्ट द्वारा उन पुस्तकों का सूचीपत्र बनवाया गया। जब वह छपकर आया तब मैंने उसको देश-देशान्तर में भेजा। नियत समय पर उन पुस्तकों का नीलाम, कई दिनों तक, होता रहा। उन पुस्तकों को मोल लेने के लिये दूर-दूर के विद्वान् उपस्थित हुए थे। पण्डित आदित्यरामजी को पुस्तकों का संग्रह करने का और पढ़ने का प्रेम किसी से कम नहीं था। उन्होंने भी कई पुस्तकें मोल लीं।

समय पाकर जब पण्डितजी ने उन पुस्तकों को देखा तब उनमें वासुदेवरसानन्द नाम की वही पुस्तक मिली जो महात्मा शिवशर्म्मा की रची हुई थी और जिसका वृत्तान्त उन्होंने उस वृद्ध प्रयागवाल से, जैसा ऊपर कहा गया है, सुना था। पुस्तक के पढ़ने के कुछ दिन उपरान्त पण्डितजी ने उन महात्माजी की कथा कृपा कर मुझे बतलाई। अपरम्पार महिमा भगवान् वासुदेव की कि वह भक्ति-रस से भरी अनुपम पुस्तक न जाने कहाँ-कहाँ उड़ती-फिरती अन्त में फिर उसी स्थान पर पहुँच गई जहाँ अनेक वर्ष पहले रची गई थी। भगवान् की ऐसी लीला हुई कि जिन रीवाँ-नरेश ने उस पुस्तक को बड़े आग्रह से पढ़ा था उन्हीं के दान-पात्र पण्डित राजीवलोचन के विद्वान् दौहित्र पण्डित आदित्यरामजी के हाथ में वह अचानक पहुँच गई। इस घटना पर किसको आश्चर्य न होगा ?

पण्डित आदित्यरामजी स्वयं भगवान् के भक्त और भक्त जनों के प्रेमी थे। उनके ऊपर इस आश्चर्यमयी घटना का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने, महात्मा शिवशर्म्माजी का नाम सदैव जागृत रखने के लिये, एक संस्कृत पाठशाला उसी स्थान पर स्थापित की जहाँ पूर्व में शिवशर्म्माजी रहते थे और उसका नाम 'शिवशर्म्मा संस्कृत पाठशाला' रक्खा। उसी पाठशाला में उन्होंने एक पुस्तकालय, अपनी माता श्री धन्यगोपीदेवीजी के नाम से, स्थापित किया। उन्होंने अपने जीवन भर की संग्रह की हुई सब संस्कृत-पुस्तकें—हस्तलिखित अथवा छपी हुई—सर्वसाधारण के लाभ के लिये इस पुस्तकालय के अर्पण कर दीं। इसी पुस्तकालय में महात्मा शिवशर्म्माजी के हाथ का लिखा मूल वासुदेवरसानन्द ग्रन्थ भी सुरक्षित है। उन्होंने अपने जीवन-काल में वासुदेवरसानन्द की प्रतियाँ छपवाकर संस्कृत के विद्वानों को भेंट की थीं। इस

पाठशाला और पुस्तकालय का काम भली भाँति चलते रहने के लिये उन्होंने अपना कुल धन काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के हाथ सौंप दिया। पण्डितजी लिख गये कि उसका विशेष भाग एक कार्यकारिणी समिति के द्वारा 'श्री शिवशर्म्मा संस्कृत पाठशाला और 'श्री धन्यगोपी पुस्तकालय' के चलाने में व्यय किया जाय और पाठशाला तथा पुस्तकालय किसी भी समय इस मकान से अन्यत्र हटाये न जायँ।

पण्डित आदित्यरामजी के पुण्य से और उनके दान से ये दोनों संस्थाएँ भली भाँति, उन्हीं के स्थान पर, चल रही हैं। इस पाठशाला में काशी के संस्कृत कालेज की आचार्य परीक्षा तक के लिये विद्यार्थी पढ़ाये जाते हैं। विद्यार्थियों के रहने के लिये एक छात्रावास बना दिया गया है। उसमें विद्यार्थियों को पर्याप्त भोजन आदि मिलता है। संस्कृत पाठशालाओं में इस पाठशाला को अच्छा यश प्राप्त है।

उनके पुत्र पण्डित सत्यव्रत भट्टाचार्य्य, एम० ए० भी अपना सर्वस्व संस्कृत विद्या के प्रचार में और भगवद्भक्ति में अपना अमूल्य समय लगाकर पूज्य पिताजी के पुण्यवृत्त को सींचने और हरा-भरा रखने में संलग्न हैं और बराबर 'शिवशर्म्मा पाठशाला' और 'श्रीधन्यगोपी-पुस्तकालय' की देख-रेख किया करते हैं। वे उसकी कार्यकारिणी समिति के मन्त्री हैं। उनके इच्छानुसार 'वासुदेवरसानन्द' अब दूसरी बार, हिन्दी-अनुवाद सहित, सर्वसाधारण के हितार्थ प्रकाशित हो रहा है। हिन्दू-विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र के प्रधानाध्यापक पण्डित राधाप्रसाद शास्त्रीजी ने इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद किया है। इस अमूल्य परिश्रम के लिये मैं शास्त्रीजी को, सर्वसाधारण की ओर से, धन्यवाद देता हूँ। उनके परिश्रम से अब सर्वसाधारण भी महात्मा शिवशर्म्मा की तपस्या और भगवद्भक्ति के अविनाशी फलस्वरूप वासुदेवरसानन्द की अमृतधारा के पान का आनन्द उठा सकेंगे। इस फल का विशेष पुण्य पण्डित सत्यव्रतजी भट्टाचार्य्य, एम० ए० को प्राप्त है।

कैलाश, नैनीताल
मिती श्रावण शुक्ल १५
संवत् १९९२ विक्रमीय

बलदेवराम दवे

ओं

मुखबन्ध

हमारे दर्शनों के चरम सिद्धान्तों के प्रति नाना प्रकार के आक्षेप हुआ करते हैं। इनमें सबसे बड़ा आक्षेप यह होता है कि ये सिद्धान्त बुद्धिगोचर नहीं होते, समझ में नहीं आते। पर ये आक्षेपक इस बात को भूल जाते हैं कि दर्शन के चरम सिद्धान्त बुद्धिगोचर हो ही नहीं सकते। जो 'अवाङ्मनसगोचर' है उसके प्रति बुद्धि का व्यापार क्या हो सकता है? ये चरमसिद्धान्त तो स्वयम्प्रकाश हैं—पर प्रकाश के भासित होने के लिये स्वच्छातिस्वच्छ 'तल' अपेक्षित है। यह तल परिशुद्ध अन्तःकरण है। जब अन्तःकरण परिशुद्ध होता है तब स्वयम्प्रकाश तत्त्व भासित होता है। इसी से इस तत्त्व को 'स्वानुभवजन्य' कहा है।

जिज्ञासु का प्रश्न हो सकता है—मुझे क्या मालूम कि ऐसा तत्त्व है भी जिसके अनुभव के लिये मैं यत्न करूँ?

इसके उत्तर में यही निवेदन है कि विज्ञान के जितने तत्त्व आविर्भूत हुए हैं या हो रहे हैं उनका आविर्भाव कैसे हुआ? किसी वैज्ञानिक ने प्रयोग करने का साहस किया तभी ये आविर्भूत हुए। दूसरा प्रकार तत्त्वज्ञान का हो ही नहीं सकता। पर अन्तर इतना है कि दृष्टिगोचर तत्त्वों के विषय में एक आदमी के किये हुए प्रयोग से दूसरे आदमी भी लाभ उठा सकते हैं। किन्तु हमारे दार्शनिक परम तत्त्वों के विषय में एक आदमी का प्रयोग तथा ज्ञान दूसरे आदमी के लिये उपकारक नहीं होता। पर यह भी विचारणीय है कि वैज्ञानिक तत्त्वों के प्रसङ्गों को या तो प्रयोगकर्ता की बातों पर विश्वास कर ही हम बहुधा स्वीकार कर लेते हैं अथवा यदि संशय हुआ भी तो उन्हीं के प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन करके हम भी उन तत्त्वों का साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसी तरह दार्शनिक तत्त्वों में भी मैं यही कर सकता हूँ—या तो जिन महानुभावों ने शास्त्रोक्त प्रयोग द्वारा तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है उनको वैसा ही मान लें अथवा उसी शास्त्रोक्त प्रयोगानुष्ठान द्वारा हम स्वयं उन तत्त्वों

का साक्षात् ज्ञान सम्पादन कर लें। यथार्थ में वैज्ञानिक और दार्शनिक अनुसन्धान-प्रकार में भेद नहीं है। परिश्रम भी दोनों अनुसन्धानों में लगभग बराबर है। भेद इतना ही है कि वैज्ञानिक अनुसन्धान में अपेक्षा 'अर्थ-बल' की है दार्शनिक अनुसन्धान में 'आत्मबल' का।

वासुदेवरसानन्द नामक ग्रन्थ के समझने में इन बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है। यह विषय ही ऐसा है कि इसके प्रसङ्ग में हेतु—तर्क-वितर्क नहीं हो सकता। यह आत्मानुभवमात्रगोचर है। इसी से इस ग्रन्थ की समादरणीयता भी सिद्ध होती है। इसके रचयिता थे एक ऐसे महापुरुष जो मेरे श्रद्धेय पूजनीय चिरस्मरणीय महामहोपाध्याय आदित्यराम भट्टाचार्यजी के श्रद्धापात्र हुए। महामहोपाध्यायजी ऐसे परीक्षकों में थे जिनकी कसौटी पर से निकल जाना सुगम नहीं था। फिर ऐसे परीक्षक के श्रद्धाभाजन जो महा-पुरुष हुए उनके लिये और अधिक लिखना व्यर्थ होगा।

ग्रन्थ देखने से इतना तो सभी को स्पष्ट होगा कि ग्रन्थकर्ता यथार्थ 'वासु-देवरस' के 'आनन्द' में मग्न होकर कृतकृत्य हुए हैं। पंक्ति-पंक्ति में यह भासित होता है। पर इसको समझने के लिये जैसा परिमार्जित अन्तःकरण अपेक्षित है वैसा विना तपस्या के सम्भव नहीं है।

इन कारणों से पाठकों के प्रति प्रार्थना है कि इसके पढ़ने से पहले यथासाध्य चित्त-संशोधन का प्रयत्न अवश्य करें। कलुषित चित्त से इसका पढ़ना व्यर्थ ही नहीं—कदाचित् अनर्थकारक भी हो।

मिथिला प्रयाग,
१७।७।३५

गङ्गानाथ झा

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति
विमन्यव:	विपन्यव:	८	६
नटी	नटो	२१	२२
ममतातात	ममापताल	३६	२२
इति ।	इति आपवोऽप्युपाचल्यौ ।	६७	२३
जितेम्द्रिस्या	जितेन्द्रियस्या	७१	३
मुन्प्रत्त	मुन्मत्त	८७	१७
द्रुलि	द्रूलि	९६	८
झटिति	झगिति	१२२	८
मजानानानां	मजानानां	२६४	४

श्रीगणेशाय नमः।

श्रीवासुदेवो विजयतेतराम्।

वासुदेवरसानन्दः

शिवशर्म्मसूरिविरचितः।

वेदव्यासमृषीन्द्रं वन्दे वेदाब्जवीथिभास्वन्तम्।
श्रीमन्तमद्भुतगिरं भजदनुकम्पासुधासरस्वन्तम्॥ १॥

(टीकाकृतमंगलम्)

[वन्दे श्रीजानकीजानिं रामभद्रं दयानिधिम्।
यत्कृपालेशतो जन्तुर्याति पारम्भवोदधेः॥ १॥
वासुदेवरसानन्दव्याख्यां कुर्मो यथामति।
विघ्नहर्ता स भगवान् वासुदेवो भवेदिह॥ २॥]

ऋषियों में श्रेष्ठ वेदरूपी कमलवीथि के सूर्य अर्थात् वेदरूपी कमल की पंक्तियों के खिलानेवाले, अद्भुत वाणीवाले, भक्तों के लिये दयारूपी अमृत के सरोवर श्रीमान् भगवान् वेदव्यास को मैं वन्दना करता हूँ॥ १॥ कर्म, ज्ञान, भक्ति, ये तीनों जिनसे जाने जायँ वे वेद हैं, उनका विस्तार जिसने किया उसको व्यास कहते हैं। पराशर के पुत्र व्यासजी का नाम यौगिक है, और रूढ़ि भी है। वेद के व्यास (विस्तार) करनेवाले को वेदव्यास कहते हैं। व्यास शब्द की प्रसिद्धि समस्त कथावाचकों में है। व्यास शब्द के पहले वेदशब्द लगा देने से उनकी व्यावृत्ति हो जाती है। मन्त्रद्रष्टा भारद्वाजादिक ऋषियों के हृदय में हिरण्यगर्भ ने वैदिक ज्ञान दिया, उस वैदिक ज्ञान का विस्तार करने से वे भी व्यास शब्द से कहे जा सकते हैं, इस आशङ्का को हटाने के लिये "ऋषीन्द्रम्" यह विशेषण दिया है। अब ऋषि शब्द का लक्षण कहते हैं

"यत्स्वयम्भू स्वयमभ्यानर्षत्तदृषीणामृषित्वम्"। इसका अर्थ यह है—जिसको स्वयम्भू (वेद) स्वयं प्रकाशित हुआ वह ऋषियों का ऋषित्व है, अर्थात् वैदिक ज्ञान जिसके हृदय में स्वयं साक्षात्कार हुआ उसका नाम ऋषि है। ऋषियों में श्रेष्ठ को ऋषीन्द्र कहते हैं। यहाँ यह शङ्का होती है कि "वेदव्यास" इस शब्द का वेद का विस्तार करनेवाला यह अर्थ होने से वेद अनित्य सिद्ध होता है क्योंकि मीमांसकों के सिद्धान्त में वेद नित्य है, उक्तार्थ से अनित्य सिद्ध है अत: इसको हटाने के लिये "वेदाब्जवीथिभास्वन्तम्" यह विशेषण दिया है, वेदरूप कमल की पंक्तियाँ पहले से ही वर्तमान हैं। व्यासरूपी सूर्य ने उसकी कलियों को विकसित कर दिया है।

जब किसी व्यक्ति में स्तुतियोग्य गुण पाये जाते हैं तब स्तुत्य होने से उसकी स्तुति करना उचित समझा जाता है अन्यथा अन्धे को कमलनयन कहना स्तुति के स्थान में निन्दा होती है। इस आशंका को दूर करने के लिये ३ विशेषण दिये जाते हैं—सीमन्तम्, अद्भुतगिरम्, भजदनुकम्पासुधामरस्वन्तम्। शोभा और योग बुद्धि-वैभव जिसको है ऐसे श्रीमान् वेदव्यास अद्भुत आश्चर्यमय गीर्वाणीवाले हैं। उनकी वाणी में आश्चर्य यह है कि वैदिक गूढ़ अर्थों के मर्म को प्रकाश करती है। ऐसे गुणवाले अस्तुत्य किस प्रकार हो सकते हैं, स्तुत्य ही हैं ॥ १ ॥

वासुदेवो मम स्वामी वासुदेवं समाश्रये।
वासुदेवस्य दासोऽहं वासुदेवान्न मेऽपरः ॥ २ ॥

ग्रन्थकर्ता शिवशर्मासूरि वासुदेव में अनन्य भक्ति को दिखलाते हुए वेद-व्यास के स्तुत्यात्मक मंगल के अनन्तर अपने इष्टदेव के स्मरणात्मक मंगल को करते हैं—वासुदेव भगवान् मेरे स्वामी हैं, उन्हीं का आश्रय करता हूँ तथा उन्हीं का सेवक भी हूँ। वासुदेव के सिवाय और कोई मेरा नहीं है ॥ २ ॥

ये कीर्तयन्ति वचसा हरिनामधेयं
संचिन्तयन्ति हृदि माधवरूपधेयम्।
ते भुञ्जते सुकृतसम्भृतभागधेयं
तेषां न शिष्यत इतोऽन्यदिहावधेयम् ॥ ३ ॥

मन, वचन, कर्म, इन तीनों से हरि-भक्ति करना चाहिए, इसी से सब प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं, इस भाव को व्यक्त करते हुए अपने ग्रन्थ का

विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध, अधिकारी, स्पष्ट बतला रहे हैं कि जो पुरुष वाणी से भगवत् नाम का उच्चारण करते हैं, वह पुरुष पुण्य से भाग्य को भोगते हैं उनको कुछ ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य कोई वस्तु शेष नहीं रहती है, अर्थात् हमको यह वस्तु मिली जो भोगने की थी और यह दुर्लभ है यह चिन्ता उसे नहीं रहती है, यह निष्कर्ष अर्थ है ॥ ३ ॥

वासुदेवरसानन्दं निबन्धं नामतः सुधीः ।
शिवशर्मा विनिर्म्माति यथामति गतीप्सया ॥ ४ ॥

अपने अभिमान को दूर करते हुए और प्रयोजन को बतलाते हुए तथा अपनी कृति से योग्यता प्रकट करते हुए ग्रन्थ के निर्माण की प्रतिज्ञा करते हैं। शिवशर्मासुधी अपनी बुद्धि के अनुसार वासुदेवरसानन्द नामक निबन्ध की रचना करते हैं ॥ ४ ॥

स च व्याख्यानादिविचित्रगुम्फरूपः शान्तरसनिवासः श्रीनिवासजन्मनः प्रसादहेतुः ।

वह वासुदेवरसानन्द नामक निबन्ध व्याख्यानादिक अनेक सूत्रों से गुम्फित शान्तरस का स्थान भगवान् के जन्म की प्रसन्नता का कारण है, अर्थात् श्रीकृष्ण के जन्म से जैसा आनन्द है वैसा इस ग्रन्थ से भी है। विष्णुसहस्रनाम के अन्तर्गत 'श्रीनिवासः सतां पतिः' इस वाक्य में 'श्रीनिवास' पद भगवान के नाम में आया है।

परममूल

वासना वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम् ।
सर्वभूतनिवासीनां वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥

अथ वासना वासुदेवस्येत्येष श्लोकः श्रीमद्गिराचार्यस्वामिभिरुपष्टम्भकत्वेन धृतो नामभाष्ये। अत एव

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा न वा ॥

इति प्रतिज्ञातानामन्यतमो नूनमयं द्वैपायनीय एव। कुत्रास्तीति परं न विद्मः। महाभारतस्य त्रिलोकीविततत्वात्। पाठान्तरेण जनैः पठ्यमानोऽपि बहिरुपलभ्यते। नासावादरणीयः। भाष्ये बहुषु पुस्तकेष्वप्येष पाठस्य दृश्यमानत्वात् ॥

अथेति "वासना वासुदेवस्य" इस श्लोक का विचार ग्रन्थकार प्रारम्भ करते हैं। यह अथ का पर्यवसित अर्थ है। "वासना वासुदेवस्य" यह श्लोक श्रीमान् आचार्यस्वामियों ने विष्णुसहस्रनाम की वासुदेवपद की व्याख्या के अवसर में ४६ और ८७ श्लोकों में आश्रयरूप से ग्रहण किया है। अर्थात् इसी श्लोक का आश्रय लेकर वासुदेवपद की व्याख्या आचार्य स्वामी ने की है, इसलिये यह कहा जा सकता है कि आठ हजार आठ सौ (८८००) श्लोक जो गूढ़ हैं, उन्हीं को जिस विषय में ऐसा कहा जा सकता है कि या तो मैं जानता हूँ, या शुकदेवजी जानते हैं, सञ्जय जानते हैं या नहीं, इन्हीं प्रतिज्ञात श्लोकों में से यह भी एक श्लोक व्यासजी का ही निश्चय प्रतीत होता है। कहाँ है यह नहीं जानते, क्योंकि महाभारत की कथा अखिल भारतखण्ड में व्याप्त है। सम्भव है कि कहीं पर यह श्लोक महाभारत में हो। इस श्लोक का पाठान्तर कहीं भारत से अन्यत्र उपलब्ध होता है, जैसे—

वासनाद्वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूतनिवासोऽसि वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥

परन्तु यह पाठ आदरणीय नहीं है, क्योंकि नामभाष्य की सब पुस्तकों में उपरोक्त पाठ ही देखा जाता है।

नन्वेतस्य कोऽर्थ इति केश्चिदुद्भावितायां बुभुत्सायां प्रथमतो वासुदेवस्येति षष्ठ्यन्तस्य कुत्र सम्बन्धः। वासनापदे चेत्, भुवनत्रयपद निराश्रयम्। तस्मिन्नेव चेत्, वासनापदमनालम्बम्। अर्थस्तूभयत्रापि न स्फुरतीत्येकं सङ्कटम्। पुनश्च सर्वभूतनिवासीनामिति पदमेवेदं कीदृशमित्यपरं महत्सङ्कटमापतितम्। हे नारायण किमेतर्हि कर्तव्यम्। उत च स्थितस्य गतिश्चिन्तनीयेति न्यायेन उणादयोबहुलमितिभगवत्पाणिनिवाणीकामधेनुबलात्कदाचित्कथञ्चित्कश्चिद्वसतेरिकारप्रत्ययं ञितं णितं वा सम्पाद्य सम्भवेदपि षष्ठीबहुवचनम् ॥

इस परममूल श्लोक में "वासुदेवस्य" इस षष्ठ्यन्त पद का कहाँ सम्बन्ध है? यदि वासना पद में कहें तो भुवनत्रय पद के अन्वय के लिये आश्रय नहीं मिलता, यदि भुवनत्रय पद में ही इसका सम्बन्ध करें तो वासनापद निरालम्ब हो जाता है। वासुदेव की वासना और वासुदेव के भुवनत्रय ऐसे कहने पर भी कोई अर्थ दोनों स्थानों में नहीं प्रकाशित होता है यह एक सङ्कट है। और

"सर्वभूतनिवासीनाम्" यह पद ही कैसा है, यह महासङ्कट आ पड़ता है। अर्थात् निवासिन् नान्त शब्द के षष्ठी के बहुवचन में सकार में इकार दीर्घ नहीं हो सकता। हे नारायण! इस समय इसकी व्याख्या के विषय में हमें क्या कर्तव्य है। अर्थात् किसी श्लोक के पदों का सम्बन्ध न हो तो व्याख्या करना अशक्य है, जैसे "गौरश्वः पुरुषो हस्ती" गाय, घोड़ा, पुरुष, हाथी, यह परस्पर सम्बन्ध के बिना निरर्थक हैं वैसे ही यह भी निरर्थक हो सकता है। अथवा जो वस्तु वर्तमान है उसकी गति विचारणीय है। इस न्याय से "उणादयो बहुलम्" इस औणादिक सूत्र के अनुसार भगवान् पाणिनिजी की कामधेनु के समान वाणी के बल से कभी किसी प्रकार व्वित्, णित्, किसी इकार प्रत्यय को वस धातु से परे रखकर दीर्घ ईकार षष्ठी बहुवचन भी हो सकता है।

तच्च पुनर्व्याहृतम्। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा।
एको दाधार भुवनानि विश्वा।
नेह नानास्ति किञ्चन।

इत्यादि श्रुतिभिः एकः सर्वेषु भूतेषु परमात्मा प्रकाशते।

एकेन पुरुषेणेदं विश्वं व्याप्तं महीयसे ॥ इत्यादिस्मृतिभिश्च एकस्यैव तादृशः पुरुषस्य प्रतिपादनात्। तथैव सदनुभवाच्च। तस्मादत्र षष्ठी बहुवचनमचमत्कारि।

श्रुति और स्मृति ने परमात्मा को एक प्रतिपादन किया है, इससे "सर्वभूतनिवासीनाम्" इस षष्ठी बहुवचन के होने पर भी इस पद से एक ही ईश्वर प्रतीत होता है जैसा कि श्रुति में कहा है, एक ही देव द्योतन (प्रकाशरूप), सब प्राणियों के हृदय में छिपा हुआ तथा एक ही होता हुआ सब प्राणियों का अन्तरात्मा है, असहाय होकर सब जगत् को धारण करता है। यहाँ नाना कोई वस्तु नहीं है तथा स्मृति में भी कहा है कि सब प्राणियों में एक ही परमात्मा प्रकाशित है। एक ही महान् पुरुष से यह सब जगत् भरा हुआ है, इसी तरह श्रुति-स्मृति व्यापक ब्रह्म को प्रतिपादन करती हैं, ऐसा ही विद्वानों का अनुभव है। अतः षष्ठी बहुवचन यहाँ अचमत्कारी अनुचित प्रतीत होता है।

यद्यपि वासना इत्यादिशब्दानां प्रसिद्धतरत्वेनार्थज्ञाने सत्यपि परस्परसम्बन्धगोपनेन दुरधिगमाभिप्रायतया व्यामोहजनकत्वात्स्वस्य च

लघुत्वादन्धे तमसि निमग्ना बुद्धिरियमत्र प्रवेष्टुं नोत्सहते। प्रत्युत बहिरेव पलायते, पलायतां नाम। तथापि बुद्धेरुद्धतिरोद्धारं श्रीगुरुजनचरणाम्बुज-प्रभावमुपाश्रित्य यथाशक्ति विचारयितुं समीहामहे।

"वासनावासुदेवस्य" इस श्लोक में वासना इत्यादि शब्दों के प्रति प्रसिद्ध होने के कारण अर्थ-ज्ञान हो जाने पर भी पारस्परिक सम्बन्ध को श्लोक-निर्माता ने गोपन करके रक्खा है इसलिये इसका अभिप्राय दुरधिगम है, अर्थात् कष्ट से जाना जाता है, और व्यामोह को उत्पन्न करता है। मैं एक तुच्छ व्यक्ति हूँ इसलिये मेरी बुद्धि गहरे अँधेरे में गोता खा रही है। यह बुद्धि इस श्लोक के रहस्य समझाने का साहस नहीं करती, किन्तु बाहर ही भाग रही है। भागे, यह बात प्रसिद्ध है कि जिसको बुद्धि नहीं समझती उससे पृथक् हो जाती है, यद्यपि ऐसा है तो भी बुद्धि के प्रतिबन्धक का उद्धार करने-वाले श्रीगुरुजनों के चरण-कमलों के प्रभाव का उपाश्रय करके अपनी शक्ति के अनुसार विचार करने की चेष्टा करते हैं।

अत्र हि लक्षणयैव निस्तारो नेतरथेति सैवाभ्युपगन्तव्या।

यहाँ लक्षणा से ही पारस्परिक सम्बन्ध-ज्ञान का उद्धार हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस कारण लक्षणा ही मानना योग्य है।

तथा चोक्तं वामनाचार्य्यैः अनभिव्यक्तसम्बन्धानामुपस्थितशब्दानां प्रमेयविशेषपरत्वेन लक्षणा प्रवर्तते। ततश्च व्याख्यानसङ्गतिरिति। प्रमीयत इति प्रमेयः, प्रमाणविषयीभूतोऽर्थः। प्रपूर्वान्माङ्धातोरचो यत् ईद्यति इतिधातोरीकारादेशे सार्वधातुकेतिगुणः। प्रमाणसिद्धार्थविशेष-बोधकत्वेनेत्यर्थः।

उसी प्रकार वामनाचार्य ने भी कहा है, जिन शब्दों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है उन उपस्थित शब्दों को प्रमेयविशेषपरक मानकर लक्षणा प्रवर्त-मान होती है। लक्षणा की प्रवृत्ति होने से व्याख्यान की सङ्गति हो जाती है। प्रमा-ज्ञान से जिसका निश्चय हुआ वह प्रमेय है। अर्थात् जिसमें भ्रम और विपर्यय-ज्ञान न हो वही प्रमेय है, जिसको प्रमाण सिद्ध करता है वह अर्थ प्रमेय है। जैसे धुआँ में धूम-ज्ञान प्रमा है और धूम प्रमेय है। धूलीपटल (आकाश में उड़ती हुई धूलि के समूह) में धूम-ज्ञान भ्रम है, उलूक को प्रचण्ड मार्तण्ड की किरणों में गाढ़ान्धकार का ज्ञान होना विपर्यय कहा जाता है। जिसके पूर्व

में प्र उपसर्ग है ऐसे माङ् धातु से 'अचो यत्' इस सूत्र से यत् प्रत्यय हुआ और 'ईद्यति' इस सूत्र से आकार के स्थान में ईकार आदेश हुआ 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इस सूत्र से ई को ए गुण हुआ। प्रमाण से सिद्ध अर्थविशेष का बोधन होने से प्रमेयविशेष होता है, यह यहाँ निश्चितार्थ है।

अत्रायं प्रसंगः। ननु व्याख्यास्यमानश्लोकगतार्थस्य सिद्धत्वे किं प्रमाणम्। इति कश्चिदनिश्चितजनिदं कौलकौलटेयं कुमतिरसावस्मानपीदमचोद्यं चोदयति।

अब यहाँ यह अवसर है, जिस नास्तिक को चार्वाक नाम से कहते हैं वे चार्वाक नामधारी नास्तिक शरीर से पृथक् आत्मा को भी नहीं मानते हैं। उन्हीं का कथन है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच भूतों के सम्मेलन करने से ही चैतन्य उत्पन्न होता है, जैसे कि जिन वस्तुओं से मद्य (शराब) बनता है उन वस्तुओं को पृथक्-पृथक् कार्य में लाने से मादकता प्राप्त नहीं होती, जब उन्हीं को इकट्ठा कर सड़ा-गलाकर बनाते हैं तभी मादकता होती है।

कोई चार्वाक नामक नास्तिक 'ननु' पद से शंका करता है कि व्याख्यास्यमान (व्याख्या किये जा रहे) श्लोक का गतार्थ (सिद्धार्थ) सिद्ध करने में क्या प्रमाण है। अर्थात् सर्वभूतों का निवासी ईश्वर है, इस प्रकार निश्चय करने में क्या प्रमाण (सबूत) है ? इस प्रकार से कहनेवाला अनिश्चित जनिद [जिसके जनयिता का निश्चय नहीं, वाममार्गी के वंश में कुलटा (व्यभिचारिणी स्त्री)] का सन्तान दुष्टबुद्धिवाला हम लोगों को भी अप्रष्टव्य प्रश्न करने के लिये प्रेरणा करता है।

अहो धिक्धिक्कित्। प्रायः प्रतिकूलार्थाविकलकलनं किल कलिः।

धिक्कार है, धिक्कार है, आश्चर्य है। प्राणियों के प्रतिकूल अहित अर्थ में अविकल (पूर्ण) रूप से कलन (कलह लगानेवाला) कलि निश्चय है।

कुतर्ककर्कशमर्कटसंसर्गोऽप्यनङ्गीकृतः सङ्गीतसङ्गैस्तत्र पुनर्भाषणीयम्।

जो सङ्गीत में सङ्गत हैं, अर्थात् जो पुण्यकार्य करते हैं वह सहृदय हैं, उन्होंने कुतर्करूप कठिन मर्कट के सम्बन्ध को कभी नहीं माना, कभी कुतर्क की ओर दृष्टि भी नहीं करते इस प्रकार के श्रद्धालु होते हैं, श्रद्धालु होने पर भी नास्तिकों के प्रश्नों में कुछ न कुछ उत्तर रूप में बोलना ही होगा।

हंहो मन्द श्रृणिवति ब्रूमः ।

रे रे मन्द सुन जो हम लोग कहते हैं ।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा·यः करोति ॥ १ ॥
अचेतनं चेतयते स विश्वम् ॥ २ ॥
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ ३ ॥
येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः ॥ ४ ॥
न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः ॥ ५ ॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ॥ ६ ॥
तद्विप्रासो विमन्यवः ॥ ७ ॥
विष्णोर्मूकं विरजाणि प्रवोचम् ॥ ८ ॥
परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ ९ ॥

यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्व्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥ १० ॥

आत्मा वै नारायणः ॥ ११ ॥ यज्ञो वै विष्णुः ॥ १२ ॥ स लोकाधिपतिः स लोकपालाधिपतिः ॥ १३ ॥ न तस्येशः कश्चन ॥ १४ ॥ यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति ॥ १५ ॥ न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति ॥ १६ ॥ छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥ १७ ॥ न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप ॥ १८ ॥ अग्निर्व्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्व्वा अन्या देवता आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्व्वपन्ति ॥ १९ ॥ सर्व्वांनु ह वा इमाँल्लोकानधि महसा व्यश्नुवानो विष्णुरेकोऽधिपूरुषः ॥ २० ॥ इत्यादयः श्रुतयः ।

जिस तरह कई एक द्रव्यों के मिलाने से मादकता होती है उसी तरह पाँच भूतों के मिलने से शरीर में चेतनता होती है । आत्मा से कोई वस्तु भिन्न नहीं है तथा परमात्मा भी नहीं है । नास्तिकों की आशंकाओं का निरास श्रुति द्वारा किया जाता है । वह आत्मा एक है, सबको वश में रखनेवाला है, देह, इन्द्रिय जितने जड़-वर्ग हैं सब उसी के आश्रय हैं, सब प्राणियों का अन्तरात्मा है । एक चैतन्य ही रूप को देहेन्द्रिय-संघातादि उपाधि से अनेक प्रकार करता है अर्थात् मनुष्य, पशु, अश्व, हस्ती, कीट, पतंग इत्यादि

नाना रूपों को धारण करता है ॥ १ ॥ जड़ात्मक सब जगत् को वह चेतन करता है ॥ २ ॥ उसी आत्मा के प्रकाश से यह सब जगत् प्रकाशित है ॥ ३ ॥ जिसके तेज से दीप्त होता हुआ सूर्य तपता है ॥ ४ ॥ उस आत्मा का कोई आकार नहीं है जिसका अत्यन्त यश है ॥ ५ ॥ विष्णुव्यापक ब्रह्म के परमपद को विद्वान्‌गण सदा देखते हैं ॥ ६ ॥ क्रोध राग द्वेष से रहित विद्वान् ही उस परमपद को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ७ ॥ उस व्यापक ब्रह्म के पराक्रमों के उत्पत्ति, स्थिति, लय रूपों का प्रवचन (व्याख्या) करता हूँ ॥ ८ ॥ उस परमात्मा की स्वाभाविक नाना प्रकार की शक्तियाँ और ज्ञान, बल, कर्म सुनाई देते हैं, श्रुति में प्रतिपादित हैं ॥ ९ ॥ सृष्टिमात्र पर स्थावर-जङ्गम जो कुछ देखे और सुने जाते हैं उन सबके अन्दर और बाहर व्याप्त होकर नारायण विराजमान हैं ॥ १० ॥ आत्मा ही नारायण है ॥ ११ ॥ विष्णु यज्ञरूप हैं ॥ १२ ॥ वह लोक और लोक-स्वामियों के अधिपति हैं ॥ १३ ॥ उनका कोई स्वामी नहीं है ॥ १४ ॥ जो ब्रह्म को नहीं जानता है वह केवल ऋग्वेद से क्या कर सकता है अर्थात् वेद पढ़कर ब्रह्मज्ञान विशेष आवश्यक है ॥ १५ ॥ उसका वाणी में भी विभाग नहीं है, इससे इन्द्रियात्मवाद का खण्डन किया ॥ १६ । अन्त-काल में वेद इसको छोड़ जाते हैं ॥१७ ॥ हे विष्णो, हे देव ! जन्मधारी तथा अजन्मधारी पुरुष आपकी महिमा का पार नहीं पाते हैं ॥ १८ ॥ निश्चय करके अग्नि देवताओं में अवम (हीन) है क्योंकि वह पृथिवी में है । विष्णु परम (श्रेष्ठ) स्थान में हैं और सब देवता मध्य स्थान में हैं, अग्नि-विष्णु देवतावाले पुरोडाश को सब देवगण देते हैं ॥ १९ ॥ इन सब लोकों में अपने तेज से अधिपुरुष विष्णु ही केवल व्याप्त होते हैं, इत्यादि श्रुतियाँ, आत्मा तथा परमात्मा में प्रमाणरूप हैं । श्रुति के अनन्तर स्मृतियाँ भी प्रमाण हैं—

जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके ।
ज्वालमालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥ १ ॥
लुब्धा धनमयं विश्वं कामुकाः कामिनीमयम् ।
नारायणमयं धीराः पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ २ ॥
योऽसृजत्सर्वभूतानि योऽन्तरात्मेश्वरोऽवति ।
तं विष्णुं येऽवमन्यन्ते कृतघ्नास्ते पतन्त्यधः ॥ ३ ॥
कालुष्यवैरिविध्वस्तविज्ञानाः पापचेतसः ।
गोविन्दनिन्दया सद्यो विशन्ति नरकं नराः ॥ ४ ॥

ब्रह्मरुद्रादयो देवास्तीर्थदानार्चनाध्वराः ।
नैव शक्ताः परित्रातुं नरं कृष्णपराङ्मुखम् ॥ ५ ॥
सर्वपातकयुक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः ॥ ६ ॥
न विष्ण्वाराधनात्पुण्यं विद्यते कर्म वैदिकम् ।
अनादिमध्यनिधनं नित्यमाराधयेद्धरिम् ॥ ७ ॥
विष्णुसंचिन्तनं यत्तन्मानसं तीर्थमुत्तमम् ।
नित्यशस्तत्र यः स्नाति स याति परमां गतिम् ॥ ८ ॥
धर्मत्यागी परद्रोही सर्वाशीनोऽपि यो नरः ।
सेवया विष्णुभक्तानां स्वर्गं प्राप्य स मोदते ॥ ९ ॥ इत्यादयः स्मृतयः ।

जल, स्थल तथा पर्वत के मस्तक में, अग्नि की माला से व्याप्त देश में विष्णु हैं अर्थात् विष्णुमय सब जगत् है ॥ १ ॥ लोभी धनमय, कामुक कामिनीमय, धीर (ज्ञानदृष्टिवाले) नारायणमय जगत् को देखते हैं ॥ २ ॥ सब प्राणियों के उत्पत्ति-कारक तथा अन्तरात्मा ईश्वर सर्वरक्षक की जो निन्दा करते हैं वे नरक में जाते हैं ॥ ३ ॥ मलिनतारूप शत्रु से विध्वस्त ज्ञानवाले मनुष्य भगवान् की निन्दा सुनकर शीघ्र ही नरक को जाते हैं ॥ ४ ॥ ब्रह्म, रुद्र आदि देवता तथा तीर्थ, दान, अर्चन और यज्ञ, कृष्ण भगवान् के विमुख मनुष्यों की रक्षा करने के लिये समर्थ नहीं होते हैं ॥ ५ ॥ सब पातकों से युक्त भी पुरुष क्षणमात्र अच्युत भगवान् का ध्यान करने से पंक्ति-पावनों का भी पावन तपस्वी होता है ॥ ६ ॥ विष्णु की आराधना से अन्य कोई पवित्र वैदिक कर्म नहीं विद्यमान है। आदि, मध्य तथा नाश से रहित हरि भगवान् की नित्य आराधना करनी चाहिए ॥ ७ ॥ विष्णु का ध्यान ही मानस-रूप उत्तम तीर्थ है, उसमें स्नान करनेवाले परम गति को प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥ धर्म का परित्यागी तथा सर्वजन-द्रोही समस्त अन्न-भक्षक मनुष्य विष्णु-भक्तों की सेवा से स्वर्ग प्राप्त कर आनन्द को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥ इन स्मृतियों से आत्मा तथा परमात्मा सबके अन्दर चैतन्य को देनेवाला सबका अन्तर्यामी सिद्ध होता है।

तपोमयं तपोराशिं तपोमूर्तिं तपात्मकम् ।
तपसा त्वां सुतप्तेन पश्यामि पुरुषोत्तम ॥ १ ॥

शरीरे तव पश्यामि जगत् सर्वमिदं प्रभो ।
त्वमनादिरनिर्देश्यस्त्वामहं शरणं गतः ॥ २ ॥

इति श्रीरामायणम् ।

हे पुरुषोत्तम (पुरुषों में श्रेष्ठ) ! अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान से अर्थात् सुतप्त तप से तपोमय तप की राशि तप की मूर्ति तप के आत्मारूप तुमको देखता हूँ। हे प्रभो, आप अनादि (आदि-रहित), अनिर्देश्य (अकथनीय) हैं, आपके शरीर में समस्त जगत् को देखता हूँ, मैं आपकी शरण में प्राप्त हूँ। जगत् में व्याप्त परमात्मा श्रीरामायण से भी सिद्ध होता है।

आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ॥ १ ॥
असच्च सदसच्चैव यद्विश्वं सदसत्परम् ।
परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम् ॥ २ ॥
मङ्गल्यं मङ्गलं विष्णुं वरेण्यमनघं शिवम् ।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम् ॥ ३ ॥
ज्योतींषि शुक्लानि च यानि लोके
त्रयो लोका लोकपालास्त्रयी च ।
त्रयोऽग्नयश्चाहुतयश्च पञ्च
सर्व्वे देवा देवकीपुत्र एव ॥ ४ ॥
सर्व्वे वेदाः सर्व्वविद्याः सशास्त्राः
सर्व्वे यज्ञाः सर्व्व इज्ज्याश्च कृष्णः ॥
विदुः कृष्णं ब्राह्मणास्तत्त्वतो ये
तेषां राजन्सर्व्वयज्ञाः समाप्ताः ॥ ५ ॥
वासुदेवादिदं जातं वासुदेवेन रक्ष्यते ।
वासुदेवे लयं याति वासुदेवोऽखिलाश्रयः ॥ ६ ॥
पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः ।
विचेष्टयति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः ॥ ७ ॥
योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥ ८ ॥

राजाधिराजः सर्व्वेषां विष्णुः सर्व्वमयो महान् ।
ईश्वरं तं विजानीमः स पिता स प्रजापतिः ॥ ९ ॥
आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥ १० ॥
इति श्रीमहाभारतम् ॥

सृष्टि से पहले वर्तमान, अपनी सत्ता से सबको पूर्ण करनेवाले, सबके शास्ता, यज्ञ में बहुतों करके आवाहन योग्य, सर्वजनप्रार्थनीय, सत्यस्वरूप, एक अविनाशी ब्रह्म, व्यक्त (स्थूल जगत्) तथा अव्यक्त (सूक्ष्म जगत्) रूपवाले भगवान् हैं ॥ १ ॥ असत् (अव्यक्त), सदसत् (व्यक्ताव्यक्त) स्वरूप-युक्त विश्व ब्रह्म ही है पर तथा अवर जगत् का रचयिता सबसे प्राचीन, अविनाशी ब्रह्म है ॥ २ ॥ मङ्गल्य (कल्याण करने योग्य अर्थात् सुखप्रद) मङ्गलरूप, व्यापक, श्रेष्ठ, निर्दोष, कल्याणरूप, हृषीकेश, चराचर के गुरु हरिनामवाले भगवान् विष्णु को नमस्कार करके इन तीन श्लोकों में पठित विशेषणयुक्त भगवान् को नमस्कार किया है। वास्तविक रूप से जो इस प्रकार भगवान् कृष्ण को जानते हैं उनके यज्ञ पूर्ण होते हैं ॥ ३ ॥ संसार में जितनी ज्योतियाँ शुक्लरूप हैं उनके रूपवाले देवकी के पुत्र कृष्ण भगवान् ही हैं। ३ लोक और ३ लोकपाल तथा ३ वेद, ३ अग्नि, ५ आहुति, सम्पूर्ण देवता, देवकीपुत्र कृष्ण ही हैं ॥ ४ ॥ सब वेद, विद्या और शास्त्र तथा यज्ञ, पूजा सब कृष्ण ही हैं ॥ ५ ॥ वासुदेव भगवान् कृष्ण से यह जगत् उत्पन्न है, उन्हीं से रक्षित होता है और अन्त में उन्हीं में लय हो जाता है। सबके आश्रय वासुदेव ही हैं, जिसमें सर्वभूत निवास करते हैं वह प्रकाशरूप वासुदेव भगवान् ही हैं ॥ ६ ॥ मनुष्यों को मोक्ष देनेवाले और अभीष्ट देनेवाले सर्वभूतों के आत्मा पुरुषोत्तम भगवान् मानो क्रीड़ा करते हुए पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, जगदात्मक संघ को अपनी सत्ता से चेष्टा कराते हैं ॥ ७ ॥ निज स्वरूप को छिपाकर द्वितीय प्रकार के रूप को दिखलाता है अर्थात् देहेन्द्रियसंघात से अतिरिक्त अपने रूप को देहेन्द्रिय-संघातरूप मानता है उस अपने आपको चुरानेवाले चोर ने क्या पाप नहीं किया, वही आत्मघाती है जैसा कि ईशावास्योपनिषत् में कहा है। मन्त्र—असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ जो आत्मघाती मनुष्य हैं, जो देहेन्द्रियसंघात से अति-

रिक्त आत्मा को नहीं मानते हैं, विनाशी अनेक दूषणों के आकर शरीर को ही आत्मा समझकर प्राण में रत हैं उनको मरने पर गाढ़ अँधेरे से व्याप्त लोक प्राप्त होता है। मन्त्र में जो आत्महन् शब्द से कहा गया है वही यहाँ आत्मापहारि शब्द से कहा गया है। ८॥ जो राजाओं का अधिराज है, सबके अन्दर व्याप्त है, सर्वमय महान् है, उसको हम लोग ईश्वर जानते हैं। वही पिता है, वही प्रजापति है॥ ९॥ सर्वशास्त्रों के मथन करने और विचार करने से यह सिद्ध हुआ कि सदैव नारायण ध्यान के योग्य हैं॥ १०॥ इन महाभारत के वाक्यों से सिद्ध होता है कि सर्वव्यापक नियन्ता ईश्वर है।

नारायणपरा देवा नारायणपराः क्रियाः।
नारायणपरो यज्ञो नारायणपरा श्रुतिः॥ १॥
नारायणपरो मोक्षो नारायणपरा गतिः।
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरं तपः॥ २॥
नारायणपरं सत्यं नारायणपरं पदम्॥

ध्येयं मुमुक्षुभिरमेयमनाद्यनन्तं
स्थूलं सुसूक्ष्मतरमेकमनेकमीड्यम्।
ज्योतिस्त्रिलोकजनकं त्रिदशैकवन्द्य-
मक्ष्णोर्ममास्तु सततं हृदयेऽच्युताख्यम्॥ ३॥

क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम्।
आवां तवाङ्गसम्भूतौ तस्मात्केशवनामवान्॥ ४॥

इति श्रीहरिवंशः।

श्रीनारायणपरक सब देवता हैं तथा क्रिया, यज्ञ, श्रुति, मोक्ष, गति, ज्ञान, तप, सत्य यह सब भी नारायणपरक हैं, नारायण ही सबसे अन्तिम प्राप्य स्थान हैं॥ १-२॥ मुक्ति को चाहनेवाले पुरुषों के ध्यान के योग्य इयत्तारहित आद्यन्त-शून्य स्थूल अतिसूक्ष्म एक बहुतों से जिनकी स्तुति की जाय ऐसे ज्योतिरूप "भूर्भुवः स्वः" इन तीनों लोकों का उत्पन्न करनेवाला देवताओं से एक वन्दनीय अच्युत नामक मेरे हृदय में और मेरी आँखों के सामने सदा हों॥ ३॥ "क" यह ब्रह्म का नाम है और सब देहधारियों का ईश मैं हूँ। हम दोनों (ब्रह्मा, शिव), आप (विष्णु) के अंग से उत्पन्न हैं इस कारण केशव नाम आपका है॥ ४॥ इन वाक्यों से भी जड़वर्ग से भिन्न परमात्मा सिद्ध होता है।

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥ १ ॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।
वासुदेवपरो धर्म्मो वासुदेवपरा गतिः ॥ २ ॥
स विश्वकायः पुरुहूत ईशः
सत्यः स्वयंज्योतिरजः पुराणः ।
धत्तेऽस्य जन्माद्यजयाऽऽत्मशक्त्या
तां विद्ययोदस्य निरीह आस्ते ॥ ३ ॥
त्वय्यग्र आसीत्त्वयि मध्य आसीत्
त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे
त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं
घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात् ॥ ४ ॥
नाहं परायु ऋषयो न मरीचिमुख्या
जानन्ति यद्विरचितं खलु सत्त्वसर्गाः ।
यन्मायया मुषितचेतस ईश दैत्य-
मर्त्यादयः किमुत शश्वदभद्रवृत्ताः ॥ ५ ॥
उपतिष्ठस्व पुरुषं भगवन्तं जनार्द्दनम् ।
सर्व्वभूतगुहावासं वासुदेवं जगद्गुरुम् ॥ ६ ॥
स विधास्यति ते कामान्हरिर्दीनानुकम्पनः
अमोघा च भवद्भक्तिर्नैतरेति मतिर्मम ॥ ७ ॥
इति श्रीमद्भागवतम् ।

वेद, यज्ञ, योग, कर्म, ज्ञान, तप, धर्म, गति, वासुदेव भगवान् को ही प्रधान मान करके हैं। वह ईश (प्रभु) नाना रूपों से यज्ञों में अनेक यजमानों करके आहूत होता है इसलिये पुरुहूत कहा गया है। जिसका सब जगत् काय (शरीर) है वह सत्यस्वरूप स्वयंप्रकाश अजन्मा कहलाता है। वह अपनी शक्ति से अजा (माया) के द्वारा इस जगत् के जन्म, पालन, लय को धारण करता है, उस माया को ज्ञान से हटाकर ज्ञानी पुरुष निश्चेष्ट हो जाते हैं अर्थात् उनकी क्रिया सब समाप्त हो जाती है। उनको संसार में कुछ करना

शेष नहीं रहता है ॥ आत्मविचार शास्त्र में कहा गया है कि यह जगत् पहले आप में ही रहा, इसका मध्य और अन्त भी आप ही में हुआ, आप ही इस जगत् के आदि, मध्य, अन्त हैं, जैसे मट्टी घड़े की आदि, मध्य, अन्त है, वह ईश्वर से भी परे है अर्थात् मट्टी का लय जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का आत्मा में लय होता है। आत्मा से परे कोई वस्तु नहीं है जिसमें उसका लय हो, यह भाव 'पर:', 'परस्मात्' से व्यक्त हो रहा है ॥ ४ ॥ मैं और मुझसे भी अधिक अवस्थावाले मरीचि आदि महर्षि जिनकी मूर्ति सत्त्व से ही बनी हुई है वह भी परमात्मा की सृष्टि को नहीं जानते हैं। हे ईश ! हे प्रभो ! आपकी माया से जिनकी बुद्धि हर ली गई है, जिनका सदा अमङ्गल ही चरित्र है, ऐसे दैत्य मनुष्य आपकी सृष्टि को कहाँ तक जान सकते हैं ॥ ५ ॥ सबको अभीष्ट देनेवाले, सर्व प्राणियों के हृदय में निवास करते हुए जगद्गुरु वासुदेव भगवान की स्तुति करो। दीनों के ऊपर दया करनेवाले वे दीनानाथ आपकी कामनाओं को सफल करें, आपकी भक्ति सफल हो, किसी दुष्कर्म में हमारी बुद्धि न हो।

इन भागवत के वाक्यों से भी एक शासक ब्रह्म सिद्ध होता है, इससे ईश्वर के असद्वाद का निराकरण (खण्डन) जानना चाहिए।

सदक्षरं ब्रह्म य ईश्वरः पुमान्
गुणोर्मिसृष्टिस्थितिकालसँल्लयः ॥
प्रधानबुद्ध्यादिजगत्प्रपञ्चसूः
स नोऽस्तु विष्णुर्मतिभूतिमुक्तिदः ॥ १ ॥

ब्रह्मा दक्षादयः कालस्तथैवाखिलजन्तवः ।
विभूतयो हरेरेता जगतः सृष्टिहेतवः ॥ २ ॥
विष्णुर्मन्वादयः कालः सर्वभूतानि च द्विज ।
स्थितेर्निमित्तभूतस्य विष्णोरेता विभूतयः ॥ ३ ॥

विष्णुः क्षीरसागरवासी कारणविष्णुर्विष्णोः श्रीवैकुण्ठनिलयस्य महाविष्णोरिति पदद्वयार्थः ॥

रुद्रः कालोऽन्तकाद्याश्च समस्ताश्चैव जन्तवः ।
चतुर्धा प्रलयायैता जनार्दनविभूतयः ॥ ४ ॥

तत्तत्कार्यकारणमात्रयोग्यतयोपकल्पितानि रूपाणि हि विभूतयो नाम। तादृशीनां तासां स्वतन्त्रभावाभाव इति भावः॥

ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णु-
र्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च।
नद्यः समुद्राश्च स एव सर्व्वो
यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य्य॥ ५॥
स्मर्तव्यः सर्व्वदा विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्॥
अन्ये विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥ ६॥
शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि वर्तते।
श्रीकृष्णे भगवच्छब्दः सर्व्वकारणकारणे॥ ७॥
भगवान्सर्व्वशक्तीशः परमात्मा नराकृतिः।
सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः॥ ८॥
देवतिर्यङ्मनुष्यादौ पुन्नाम्नि भगवान्हरिः।
स्त्रीनाम्नि लक्ष्मीर्मैत्रेय नानयोर्विद्यते परम्॥ ९॥
इति श्रीविष्णुपुराणम्।

तीनों कालों में वर्तमान अविनाशी ब्रह्म प्रजारूप से अपने स्वरूप को बढ़ानेवाला सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों से युक्त तथा छः संख्यावाले उर्मि (जायते१, अस्ति२, वर्द्धते३, विपरिणमते४, अपक्षीयते५, विनश्यति६—जन्म लेता है१, है२, बढ़ता है३, रूपान्तर को प्राप्त होता है४, क्षीण होता है५, नाश होता है६,) से युक्त सृष्टि, स्थिति, काल इन सब के लयात्मक माया बुद्धि आदि जगत्प्रपञ्च के उत्पादक विष्णु भगवान् हमें मति, भूति, मुक्ति को देनेवाले हों॥ १॥

ब्रह्मा, दक्ष प्रजापति आदि लोकपाल, काल, अखिल प्राणी ये भगवान् की विभूतियाँ जगत् की रचना के कारणभूत हैं॥ २॥

स्थिति के कारणभूत विष्णु भगवान् की मनु आदि काल और सर्वभूत विभूतियाँ हैं। विभूति रूपवाले विष्णु क्षीरसागरवासी कहे जाते हैं। वे कारण विष्णु भी हैं, श्रीवैकुण्ठ में रहनेवाले विष्णु महाविष्णु हैं। उनकी यह विभूतियाँ हैं। यहाँ पर 'विष्णुः' "विष्णोः" इन दोनों पदों का अर्थ है॥ ३॥

रुद्र काल अन्तक आदि और समस्त जन्तु यह भगवान् की विभूतियाँ अन्त में प्रलय के लिये हैं॥ ४॥

उन उन कार्य और कारण मात्र के योग्य रूप से रचे हुए रूप परमात्मा की विभूतियाँ हैं। जैसे, समुद्र-मन्थन के समय अपने पृष्ठ के ऊपर पर्वत धारण करने के योग्य कमठरूप धारण करना भी एक विभूति है तथा वेदों के उद्धार के लिये शूकररूप धारण करना विभूति है इत्यादि। ऐसी विभूतियों का स्वतन्त्र-भाव नहीं है अर्थात् परमात्मा की सत्ता से ही इनकी भी सत्ता है। ज्योति, १४ भुवन, वन, पर्वत, दिशाएँ, नदी, समुद्र, ये सब विष्णु स्वरूप ही हैं। हे विप्रवर्य (ब्राह्मणश्रेष्ठ), भाव तथा अभाव भी विष्णुरूप है ॥ ५ ॥

सर्वकाल में विष्णु का ही स्मरण करना चाहिए, कभी नहीं भूलना चाहिए; और जितनी विधि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्स्वर्गकाम:' इत्यादि, दर्शपूर्णमास का याग स्वर्ग चाहनेवाले करें तथा ''कलञ्जं न भक्षयेत्' कलञ्ज (कच्चे मृगमांस) को न खावे इत्यादि निषेध हैं वे इन्हीं दोनों विधि-निषेधों के दास हैं ॥६॥

माया से रहित शुद्ध महाविभूति नामक परब्रह्म सर्व कारणों के कारण श्रीकृष्ण में भगवान् शब्द है ॥ ७ ॥

वह कृष्ण भगवान् सब शक्तियों के प्रभु हैं, सब शक्तियों के अधिपति हैं, परमात्मा ने अपनी लीला से नर-विग्रह (मनुष्य-शरीर) को धारण किया है, व्रज के अधिपति कृष्ण भगवान् सब काल में सभी भावों से सेवन योग्य हैं ॥ ८ ॥

देवता पशु पक्षी, मनुष्य आदि जितने पुरुष के नाम हैं उन सब में भगवान् हरि व्याप्त हैं, और स्त्री नामों में लक्ष्मी व्याप्त हैं। हे मैत्रेय, इन दोनों से अतिरिक्त कुछ भी वस्तु नहीं है। सब विष्णु-लक्ष्मी रूप हैं।

प्रजापतिपतिं विष्णुं नित्यं यः समुपाश्रितः।
प्राप्येह पुष्कलान् कामान् विष्णुलोकं स गच्छति ॥ १ ॥

इति श्रीवाराहपुराणम्।

दक्षादि प्रजापतियों के स्वामी विष्णु की जो नित्य भक्ति करता है अर्थात् विष्णु का सेवन करता है वह संसार में पुष्कल (पूर्ण) कामनाओं को प्राप्त करके विष्णुलोक को जाता है ॥ १ ॥

नारायणाय नम इत्यमुमेव सत्यम्
संसारघोरविषसंहरणाय मन्त्रम्।

शृण्वन्तु भव्यमतयो यतयोऽस्तरागा
उच्चैस्तरामुपदिशाम्यहमूर्द्ध्वबाहुः ॥ १ ॥
इति श्रीनृसिंहपुराणम् ।

संसाररूप घोर विष के अपहरण के लिये 'नारायणाय नमः' यही मन्त्र सत्य है। इस मन्त्र को अस्तराग (अपगतराग), भव्य (सुन्दर) मतिवाले संन्यासी (यति) सुनें। इसको बाहु उठाकर ऊँचे स्वर से उपदेश करता हूँ।

योऽच्युतन्यस्तहृदयः पूजयत्यच्युतं सदा ।
महात्मानं तमिन्द्राद्याः पूजयन्ति दिवौकसः ॥ १ ॥
इति श्रीवामनपुराणम् ।

जो अच्युत भगवान् में ही अपने हृदय को लगाये हैं, जो पुरुष अच्युत भगवान् को ही सदा पूजते हैं उन महात्माओं की पूजा इन्द्रादि दिवौकस (देवता) करते हैं।

सात्त्विकैः सेव्यते विष्णुस्तामसैः प्रमथाधिपः ।
राजसैः सेव्यते ब्रह्मा संकीर्णैस्तु सरस्वती ॥ १ ॥

अत्र चतुर्थचरणे एवं परिष्कुर्वन्ति तारतम्यविदः। येषु रजोगुणाधिक्यं सत्त्वतमसी न्यूने तैः सरस्वती सेव्यते। येषु सत्त्वगुणोद्रेको रजस्तमसी स्वल्पे तैर्लक्ष्मीरुपास्यते। येषु तमोगुणबाहुल्यं सत्त्वरजसी मन्दे तैः पार्वती परिचर्य्यते ॥

इति ब्रह्मपुराणम् ।

सात्त्विक पुरुषों से विष्णु, तमोगुणियों से प्रमथाधिप (प्रमथगण के प्रभु शिव), रजोगुणियों से ब्रह्मा, सत्त्व, रज, तम, इन तीनों की सङ्कीर्णता होने पर सरस्वती सेवित होती है। यहाँ चतुर्थ चरण में तारतम्य (भेद) को जाननेवाले इस प्रकार परिष्कार करते हैं—जिनमें सत्त्वगुण का उद्रेक (आधिक्य) है, रजोगुण और तमोगुण अल्प है उनसे लक्ष्मी की उपासना की जाती है। जिनमें रजोगुण अधिक, सत्त्व तम न्यून है उनसे सरस्वती सेवित होती है। जिनमें तमोगुण अधिक है, सत्त्व रज मन्द है उन मनुष्यों से पार्वती परिचर्या की जाती है।

गायन्नारायणकथां सदा पापभयापहाम्।
नारदो नाशयन्नेति नृणामज्ञानजं भयम्॥ १॥
इति नारदपुराणम्।

पापभय को नाश करनेवाली नारायण की कथा गाते हुए मनुष्यों के अज्ञान से उत्पन्न भय को दूर करते हुए नारद प्राप्त होते हैं॥ १॥

व्यामोहाय चराचरस्य जगतस्ते ते पुराणागमा-
स्तान्तामेव हि देवतां परमिकां जल्पन्तु कल्पावधि।
सिद्धान्ते पुनरेक एव भगवान् विष्णुः समस्तागम-
व्यापारेषु विविच्यते व्यतिकरं नीतेषु निश्चीयते॥ १॥
इति पद्मपुराणम्।

स्थावर-जंगमरूप सकल संसार के व्यामोह के लिये अनेक पुराण और आगम हैं। उन उन देवताओं को जिनका आप वर्णन करते हैं कल्प पर्यन्त सबसे प्रधान कहें, सम्पूर्ण आगम के व्यापार जो परस्पर मेलन को प्राप्त हैं। अर्थात् आचारोपदेशादि सब जगह पाये जाते हैं उनमें यद्यपि 'जिसका मड़वा उसका गीत' इस कहावत के अनुसार अपने-अपने ग्रन्थों में कहे गये देवता को प्रधान बताया है, तथापि विचार करने से सिद्धान्त में फिर एक ही भगवान् विष्णु सिद्ध होते हैं ऐसा निश्चय किया जाता है॥ १॥

हिरण्यगर्भो रजसा शङ्करस्तमसावृतः।
सत्त्वेन सर्वगो विष्णुः सर्वात्मा सदसन्मयः॥ १॥
इति लिङ्गपुराणम्।

हिरण्यगर्भ रजोगुण से, शङ्कर तमोगुण से आवृत हैं, सर्वत्र व्याप्त सर्वात्मा व्यक्त स्थूल जगत् सत्, अव्यक्त सूक्ष्म जगत् असत् है तन्मय व्यक्ताव्यक्तरूप सत्त्वगुण से युक्त हैं॥ १॥

बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः।
कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः॥ १॥
इति स्कन्दपुराणम्।

भवरूप पाश से बाँधनेवाले, भवपाश से मोचक (छुड़ानेवाले), कैवल्य (मोक्ष) को देनेवाले परब्रह्म सनातन विष्णु ही हैं॥ १॥

हरिरेकः सदा ध्येयो भवद्भिः सत्त्वसंस्थितैः ।
ओमित्येवं सदा विप्राः पठध्वं ध्यात केशवम् ॥ १ ॥
इति कैलासयात्रायामृषीन्प्रति श्रीशिव उवाच ।

हरि ही एक सदा सत्त्व में वर्तमान आप सब जनों से ध्येय (ध्यान के योग्य) हैं। हे विप्र! ॐ इस प्रकार केशव का ध्यान करो और पढ़ो। इस प्रकार का उपदेश कैलास-यात्रा में श्रीशिवजी ने कहा है।

निर्वाणप्रकरणे वशिष्ठम्प्रत्यपि स एवाह श्रीवैकुण्ठनायकमनुस्मरन् ।

निर्वाण प्रकरण में वशिष्ठ के प्रति भी शिव ने ही वैकुण्ठनायक विष्णु का स्मरण करते हुए कहा है।

स हरिः स शिवः सोऽजः स ब्रह्मा स सुरेश्वरः ।
अनिलानलचन्द्रार्कवपुः स परमेश्वरः ॥ १ ॥
परस्मात्परिनिर्याता ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
कणास्तप्तायस इव वारिधेरिव बिन्दवः ॥ २ ॥
ब्रह्मविष्णुहरादीनामतोऽयं परमः पिता ।
सर्वसत्ताप्रदो भास्वान् वन्द्योऽभ्यर्च्यश्च तद्विदः ॥ ३ ॥
आद्यं पूज्यं नमस्कार्य्यं स्तुत्यमर्घ्यं सुरेश्वरम् ।
एनं तं विद्धि वेद्यानां सीमानं महतामपि ॥ ४ ॥
एवं देवार्च्चनं नित्यं ज्ञः कुर्वन्मुनिनायक ।
यत्रास्मदादयो भृत्यास्तत्प्रयाति परं पदम् ॥ ५ ॥
इति योगवाशिष्ठम् ।

वह परमेश्वर हरि, शिव, अज, ब्रह्मा इत्यादि अनेक नामों से कहा जाता है। वह देवताओं का भी ईश्वर है; वायु, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य जिसके शरीर हैं वह परमात्मा परम ईश्वर है ॥ १ ॥

परब्रह्म से ब्रह्मा, विष्णु, शिव यह तीनों देवता निकले हैं, जैसे गरम लोहे से चिनगारियाँ निकलती हैं, जैसे समुद्र से बिन्दुएँ उड़ती हैं ॥ २ ॥

इस कारण यह परमेश्वर ब्रह्मा, विष्णु, शिव का परमपिता है, अपनी ही सत्ता सब जगह में देनेवाले हैं। भास्वान् (प्रकाशमान्) वन्दनीय हैं जो उनको जानते हैं उनके पूज्य हैं ॥ ३ ॥

आद्य (सबसे पहले) वर्तमान पूज्य नमस्कार के योग्य स्तुति और अर्घ्य के योग्य जो-जो सुरेश्वर जानने के योग्य और महान् हैं उनमें अन्तिम सीमा इस विष्णु को जानना चाहिए ॥ ४ ॥

हे मुनिनायक ! इस प्रकार के ज्ञाता पुरुष विष्णु का पूजन नित्य करते हुए उस परमपद को प्राप्त होते हैं जिस परम पद में हम सब भृत्य (सेवक) पहुँचते हैं ॥ ५ ॥

व्यूह्यात्मानं चतुर्धा वै वासुदेवादिनामभि: ।
सृष्ट्यादीन्प्रकरोत्येष विश्रुतात्मा जनार्दन: ॥ १ ॥
इति श्रीबादरायण: ।

वही जनार्दन भगवान् वासुदेव आदि नामों से अपने आपको चार भागों में विभाग करके अर्थात् एक प्रथम पुरुष हिरण्यगर्भ और उसकी विभूतियाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूप इन विभागों से सृष्टि आदिक को विश्रुतात्मा (जगद्विख्यातात्मा) भगवान् करते हैं ।

ब्रह्मादि ब्रह्म विष्णो त्वं त्वमेव ब्रह्मणो वपु: ।
स्रष्टृ ब्रह्म निदानञ्च शुद्धं ब्रह्म त्वमेव हि ॥ १ ॥
इति देवद्युति: ।

हे ब्रह्म, हे विष्णो ! आप ही ब्रह्मादि रूप हैं, आप ही ब्रह्मा के शरीर हैं, स्रष्टृ ब्रह्म सब जगत् के निदान कारण शुद्ध ब्रह्म आप ही हैं ॥ १ ॥

ब्रह्मविष्णुमहेशानां भेदो नास्ति कथञ्चन ।
भिन्नदृष्टिस्तु यो मूढस्त्रीनपि द्वेष्टि तानसौ ॥ १ ॥
अनादिपुरुषो विष्णुर्निर्गुणोऽपीश्वरोऽजया ।
एकोऽनेकानि रूपाणि स्वयं धत्ते नटी यथा ॥ २ ॥
इति कश्यप: ।

ब्रह्म, विष्णु, शङ्कर इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं हैं । जो मूर्ख इन तीनों में भेद-दृष्टि करता है वह तीनों से द्वेष करता है ॥ १ ॥ अनादि पुरुष निर्गुण एक ही ईश्वर माया के द्वारा अपने आप नट की तरह अनेक रूपों को धारण करता है ॥ २ ॥

हित्वाऽन्यत्कीर्तयेत्कृष्णं प्राज्ञो भवनिवृत्तये ।
ज्ञानं सम्यगवाप्नोति कृष्णनामानुकीर्तनात् ॥ १ ॥
इति गौतमः ।

विद्वान् अपने भव (संसार) की निवृत्ति के लिये कृष्ण का ही कीर्तन करें, कृष्णनाम के उच्चारण से सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करते हैं ।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत् ॥ १ ॥
इति वैयासकिः ।

हे राजन् ! दोष के निधि कलि का एक बड़ा भारी गुण है कि कृष्ण नाम के कीर्तन से ही बन्धन से मुक्त होकर परमधाम को प्राप्त होता है ।

ब्रह्मा यस्य सुतः साक्षात्पौत्रो यस्य च शङ्करः ।
लक्ष्मीर्यस्य कलत्रं हि तं वन्दे पुरुषोत्तमम् ॥ १ ॥
इति देवव्रतः ।

ब्रह्मा जिसके पुत्र हैं, शिव जिसके साक्षात् पौत्र हैं, लक्ष्मी जिसकी स्त्री हैं उस पुरुषोत्तम की वन्दना करते हैं ।

शम्भोः पितामहो धातुः पिता शक्राद्यधीश्वरः ।
रमाकान्तोऽसुराराातिः सतां सेव्योऽवतात्स माम् ॥ १ ॥
इति व्याघ्रपादः ।

शम्भु के पितामह, ब्रह्मा के पिता, शक्रादि देवताओं के अधीश्वर, लक्ष्मी के पति, असुरों के शत्रु, सत्पुरुषों से सेव्य ईश्वर मेरी रक्षा करें ।

शृणुध्वं मुनयः सर्वे वचनं मे विनिश्चितम् ।
सेवितव्यो महाविष्णुर्नान्यो देवः कदाचन ॥ १ ॥
इति भृगुः ।

हे ऋषियो ! आप सब मेरे विनिश्चित (सिद्धान्त) वचनों को सुनिए । महाविष्णु ही सेवन के योग्य हैं और कोई देव कभी भी सेवन के योग्य नहीं है ।

कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः ।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया नाभिभाष्याः कथञ्चन ॥
इति नारदः ।

कमल-नयन कृष्ण भगवान् का पूजन जो मनुष्य नहीं करेंगे उनको जीते ही मृत तुल्य जानना चाहिए। उनसे कभी भी भाषण नहीं करना चाहिए।

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजड़मूकता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत् ॥१॥

इति मार्कण्डेयः।

वासुदेव भगवान् का ध्यान न करना ही एक हानि है, काम-क्रोधादि के आने का वही एक द्वार है, वही अन्धता, वही जड़ता, वही मूकता है अतएव मुहूर्त, घड़ी, दो घड़ी अथवा क्षणमात्र अवश्य भगवान् वासुदेव का ध्यान करना चाहिए।

श्रमेणाराधिता देवास्त्रिवर्गफलदा नृणाम्।
पीतवासा महानेकश्चतुर्वर्गफलप्रदः ॥१॥

इत्यत्रिः।

अर्थ, धर्म, काम, इन तीन फलों को देनेवाले देवता बड़े परिश्रम से मनुष्यों से सेवित होते हैं। एक महान् पीतवस्त्रवाले कृष्ण वासुदेव ही चतुर्वर्ग फल अर्थात् अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष को देनेवाले हैं।

स्वपादसेविनां पुंसां लक्ष्मीभर्तुश्चतुर्भुजात्।
धर्म्मार्थकाममोक्षाणां दाता नान्योऽस्ति कश्चन ॥१॥

इति लोमशः।

अपने चरण के सेवक पुरुषों को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चतुर्वर्गों के दाता लक्ष्मीपति चार बाहुवाले कृष्ण भगवान् से अन्य कोई नहीं है।

ब्रह्मणा शम्भुनेन्द्रेण प्रजापतिभिरेव च।
योऽर्च्यते परया भक्त्या नार्च्चयेत्कस्तमच्युतम् ॥१॥

इति बृहस्पतिः।

ब्रह्मा, शिव, इन्द्र और प्रजापतियों से भी उत्कृष्ट मति करके जो विष्णु पूजे जाते हैं ऐसे अच्युत विष्णु की कौन नहीं पूजा करेंगे।

विष्णुर्ब्रह्मा च रुद्रश्च विष्णुर्देवो दिवाकरः।
तस्मात्पूज्यतमं नान्यमहं मन्ये जनार्दनात् ॥

इति याज्ञवल्क्यः।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सूर्यदेव यह सब विष्णुरूप ही हैं। इस कारण जनार्दन भगवान् से अन्य अधिक किसी को पूज्य नहीं मानते हैं।

कश्चित्पश्येद्यदा मातुरन्यं भर्तारमीप्सितम्।
विष्णोरन्यं तदा पश्येदीश्वरं भुवि मानवः॥
इति ऋष्यशृंगः।

जब कोई अपनी माता के ईप्सित अर्थात् जिसको माता चाहती है ऐसे पिता से अन्य भर्ता नाम पति को माने तब वह मनुष्य पृथिवी में विष्णु से अन्य ईश्वर को देखे।

हरेरभूच्चतुर्वक्त्रः पञ्चवक्त्रो हरेरभूत्।
हरेरभूत्सहस्राक्षो हरिः सर्व्वेश्वरेश्वरः॥
इति साङ्ख्यायनः।

हरि भगवान् से चार मुखवाले ब्रह्मा हुए, हरि से ही पाँच मुखवाले शिव हुए, इन्हीं भगवान् से हज़ार नेत्रवाले इन्द्र हुए। हरि सब ईश्वरों का ईश्वर है।

वर्णैराश्रमिभिः सर्वैः स्त्रीभिर्वृद्धैश्च बालकैः।
सेवनीयः सदा विष्णुः प्रयतैरिति चोदना॥
इति भगीरथम्प्रति त्रितलो महर्षिः।

चोदना वेदविदामुपदेश इत्यर्थस्तदुक्तं भट्टपादैः।

चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिन इति। भगवन्नैवेद्यमहिमप्रकाशिकाश्रुतिर्नृसिंहपरिचर्य्यायाम्। एक एव नारायण आसीन्न ब्रह्मा न रुद्रो नेमे द्यावापृथिव्यौ। सर्वे देवाः सर्वे ऋषयः सर्वे पितरः सर्वे मनुष्याश्च विष्णुनाऽशितमश्नन्ति। विष्णुना पीतं पिबन्ति। विष्णुना घ्रातं जिघ्रन्ति। तस्माद्विद्वांसो विष्णूपहृतं भक्षयेयुरिति। उपहृतं निवेदितम्। ऋग्वेदमन्त्रोऽपि—

वर्ण, आश्रमी, स्त्री, वृद्ध, बालक इन सबों से शुद्ध होकर विष्णु भगवान् सदा सेवने के योग्य हैं। यह शास्त्र की चोदना (विधि) है, वेद को जाननेवाले ऋषियों का लिङ्, लोट्, तव्यत्, यजेत्, यजताम्, यष्टव्यम् इत्यादि उपदेश चोदना है। करें, करो, करना चाहिए, यह लिङ्, लोट्, तव्यत् का अर्थ है, जैसा कि पूज्य कुमारिलभट्ट ने कहा है—चोदना, उपदेश, विधि यह सब समानार्थ

हैं। भगवान् को जो नैवेद्य तथा कोई वस्तु अर्पण की जाती है उसकी महिमा प्रकट करनेवाली श्रुति, नृसिंहजी की सेवा के अवसर पर, कही गई है। उस ग्रन्थ का नाम नृसिंहपरिचर्या है। एक ही नारायणदेव सृष्टि से पहले थे; ब्रह्मा, शिव, आकाश, पृथिवी, देव, ऋषि, पितर और मनुष्य कोई भी नहीं था। विष्णु भगवान् से अशित (भोजन किया हुआ) ही खाते हैं, विष्णु के पिये हुए को पीते हैं, विष्णु के सूँघे हुए को सूँघते हैं, अर्थात् विष्णु के प्रसाद को ही लेते हैं, इस कारण सब विद्वान् विष्णु को अर्पण करके ही भोजन करते हैं। उपहृत का अर्थ निवेदित है।

ओन्तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यान्नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥ १॥

अस्यार्थः। अभितः सर्वप्रकारैः प्रियं तत्पाथः विष्णुचरणोदकम्—अश्यां पिबेयम्। किं तत् यत्र पाथसि पीयमान इत्यध्याहारः। नरः पुरुषाः देवयवः देवत्वं प्राप्तुमिच्छवः मदन्ति हृष्यन्ति। ततः किमत आह। अस्य विष्णोः परमे पदे मध्वः मधुरसस्य उत्सः निस्यन्दः मधुरसरूपेण परिणतः। एवमुक्तं भवति। भगवतः पादोदनैवेद्यप्राशने उत्पद्यमानेनानन्देन भगवत्पादारविन्दमकरन्दास्वादमनिशमनुभवन्निति। ईदृशो यः स हि पुरुषः इत्था इत्थं उक्तप्रकारेण उरुक्रमस्य विष्णोः बन्धुः सखा भवति तदैकात्म्यं प्राप्नोति सच्चिदानन्दरूपो भवतीत्यर्थः। अत्र पाथः स्यादन्नजलयोरित्यनेकार्थदर्शी यास्कस्तावत् अस्य विष्णोस्तदभिप्रियं पाथः अन्नं अश्यां भुञ्जामीति वदन् नैवेद्यप्राशनपरत्वेन मन्त्रं व्याचख्यौ, कबन्धमुदकं पाथ इत्यमरादौ जलपर्यायमात्रदर्शिनः पूर्वशिष्टाः पुनश्चरणोदकग्रहणपरत्वेन व्याचख्युः। एवं च पाति रक्षतीति पाथ इति व्युत्पत्तेः उभयत्राप्ययमेव मन्त्र इत्यधुनातनाः सज्जनाः प्रतिपन्ना इति॥ १॥

नैवेद्य-महिमा का प्रकार उपरोक्त मन्त्र में भी दिखाया गया है। इस मन्त्र का अर्थ यह है:—(अभितः) सब प्रकार से प्रिय जो पाथ अर्थात् विष्णु की प्रतिमा को स्नान कराने से बचा हुआ जल (चरणामृत) उसको 'अश्याम्' पान करे। वह क्या है, जिस चरणोदक के पीने पर देवत्व की प्राप्ति की इच्छावाले मनुष्य 'मदन्ति' हर्ष को प्राप्त होते हैं। यहाँ मन्त्र में 'पीयमान' का

अध्याहार किया है, 'ततः इति' उस हर्ष की प्राप्ति से किया हुआ ? इसलिये कहते हैं कि इस विष्णु के परम पद में 'मध्वः' मधुर रस का 'निस्यन्द' मधुर रस से निकला हुआ सार पदार्थ—कारण के गुण कार्य में आते हैं इस न्याय से—मधुररसरूप ही परिणत होता है, अर्थात् मधुर ही होता है। तात्पर्य्य यह है कि जो पुरुष भगवान् के चरणोदक तथा नैवेद्य के पीने और खाने के द्वारा उत्पन्न आनन्द से भगवान् के चरण-कमल-सम्बन्धी पुष्प-रस के आस्वाद को सदा अनुभव करते हैं वे ही पूर्वोक्त प्रकार से 'उरुक्रम' जिसका बहुत पराक्रम है ऐसे विष्णु के बन्धु (सखा) होते हैं, उस ईश्वर के साथ एक स्वरूप को पाते हैं, सच्चिदानन्दरूप होते हैं। श्री यास्काचार्य ने 'पाथः स्यादन्नजलयोः' प्रमाण के अनुसार 'पाथः' शब्द को अनेकार्थ मानकर 'मैं विष्णु भगवान् के परम प्रिय अन्न को खाता हूँ' ऐसा अर्थ करते हुए इस मन्त्र को नैवेद्य-भोजन में लगाया है। किन्तु अन्य प्राचीन विद्वान् 'पाथस्' शब्द को, अमरकोशादि कोशों के अनुसार, एकमात्र जल का वाचक समझते हैं; वे इस मन्त्र का अर्थ विष्णु-चरणोदक ग्रहणपरक करते हैं। फलतः 'पाति रक्षतीति पाथः' इस व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर, आधुनिक विद्वानों की सम्मति में, मन्त्र की दोनों ही व्याख्याएँ ठीक ठहरती हैं।

यः श्राद्धकाले हरिभुक्तशेषं ददाति भक्त्या पितृदेवतानाम्।
तेनैव पिण्डाँस्तुलसीविमिश्रानाकल्पकोटिं पितरस्तु तृप्ताः॥
इत्याश्वलायनस्मृतिः।

विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्याः सर्वदेवताः।
इति स्मृत्यन्तरम्।

जो लोग श्राद्ध के समय भगवान् के भोग का शेष, भक्ति के साथ, देवताओं को देते हैं और तुलसीपत्र से मिले हुए उसी भोग के पिण्ड पितरों को देते हैं, उनके पितर कल्पपर्य्यन्त तृप्त होते हैं। विष्णु को अर्पित किये हुए अन्न से सब देवताओं का पूजन करना चाहिए।

गृहे यदस्ति सिद्धान्नं तद्विष्णोः प्राङ् निवेद्य च।
दद्याद्देवर्षिपितृभ्यस्तत्तेषां तृप्तिकारकम्॥ इति।
वायुपुराणम्।

गृहस्थ को चाहिए कि गृह में पका हुआ अन्न विष्णु को पहले निवेदन करे; पश्चात् देवों, ऋषियों और पितरों को दे। ऐसा करने से वह अन्न पितरों को तृप्त करनेवाला होता है।

एवं स्थिते—विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्।
पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते।

इति स्कन्दवचनं तु विगीतत्त्वान्नादरणीयमिति कश्चिदलिखत्। असौ किल नूनमुदाहृतश्रुतिस्मृतिपुराणानि नाशृणोत्। कथमन्यथा स्वयमाश्वलायनशाखीयो रामोपासकश्च भूत्वा श्रुत्यर्थानुसारिस्वाचार्यमतविरोधं समस्तनिगमागमगणोद्गीयमानमहत्ताया निजदेवताया लघुतां चापाद्य पाण्डित्याभिमानमावहेत्। एतेनैव देवतान्तराय दत्तस्य देवतान्तराय त्यागायोगादिति तदाशयं वर्णयन्तोऽपि प्रत्युक्ताः।

ऐसी दशा में किसी ने जो यह लिखा है कि 'विष्णोर्निवेदितान्नेनेत्यादि स्कन्दवचन' विगीत (निन्दित) होने के कारण अमान्य है, वह ठीक नहीं। क्योंकि उक्त लेखक ने, उदाहरण रूप से उपस्थित किये गये, श्रुति-स्मृति-पुराणों के वचनों का भाव ही नहीं समझा। अन्यथा स्वयं आश्वलायन शाखा को पढ़ते-पढ़ाते और रामोपासक होते हुए भी अपने ही आचार्य के श्रुति-सम्मत सिद्धान्त का विरोध करने तथा समस्त वेद-शास्त्रों के द्वारा प्रशंसित अपने उपास्य देवता की तुच्छता सिद्ध करने पर भी पण्डित होने का दम क्यों भरता? अतएव जो लोग उक्त श्लोक का आशय एक देवता को अर्पित की गई वस्तु का अन्य देवता को अर्पण न करना ही समझते हैं, उनके मन्तव्य का खण्डन भी स्वतः हो जाता है।

ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम्।
एकं सदेकः परमः परेशः स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति॥
इति सनत्कुमारसंहिता।

वासुदेव ही विशुद्ध, विमल, शोकरहित, समस्त लोभादि दोषों से मुक्त, अद्वितीय, सत्स्वरूप ज्ञान हैं; और वे ही सर्वश्रेष्ठ अधिपति। सभी पदार्थ वासुदेवमय हैं। उनसे भिन्न कुछ नहीं।

शेवधेरंशराशीनां कृष्णस्य परमात्मनः।
एकोऽप्यमंशो ब्रह्माण्ड इति जानीहि गालव॥

स्वरतेः शिशुकस्येव परमेशस्य मायया ।
एषा क्रीडा हि कृष्णस्य भावनावनसँख्यमाः ॥
यावत्पुमान् कृष्णचन्द्रो यावत्स्त्री रुक्मिणी स्मृता ।
रुक्मिणीकृष्णचन्द्राभ्यां व्याप्तं ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥

इति गर्ग्गगालवीयसंहिता ।

हे गालव ! परमात्मस्वरूप कृष्ण ही अंशराशियों के निधि हैं। यह ब्रह्माण्ड उनका एक अंश है। जिसको अपने में रति (क्रीड़ा) और आनन्द है ऐसे बालक की नाईं—अर्थात् बालक के मन में जब आता है तब स्वयं घर, हाथी, घोड़े आदि खिलौने बनाता है और मिटाता है, इसी तरह—परमात्मा की माया से जगत् रचा जाता और संहार किया जाता है। यह माया वासुदेव की क्रीड़ा है। इसकी निवृत्ति कृष्ण के उपासनापुञ्ज से होती है। संसार में जितने पुरुष हैं वे सब कृष्णरूप हैं और जितनी स्त्रियाँ हैं वे सब रुक्मिणी-रूप हैं। रुक्मिणी और कृष्णचन्द्र से सब ब्रह्माण्डमण्डल व्याप्त है।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्ज्जुन !
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

इति स्वयं श्रीभगवत्पादपद्माः ।

अथवा हे अर्जुन ! तुमको बहुत सी बातें जानने से क्या लाभ ? केवल इतना ही जानना योग्य है कि मैं इस समस्त जगत् को अपने एक अंश से व्याप्त किये हुए हूँ। निष्कर्ष यह है कि मेरे तीन अंश अपने स्वरूप में हैं जिनका संसार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। जैसा कि वेद में भी कहा है—"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतन्दिवि"। इस परमात्मा परब्रह्म के एक पाद में समस्त विश्व है और तीन हिस्से अपने प्रकाशमय रूप में हैं। यह गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है।

बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते !
प्राप्ते सन्निहिते मरणे न हि न हि रक्षति डुकृञ्करणे ॥

अत्र परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्न इति मन्दभाग्यतोपसादितदुरायतीनल्पमतीननुशोच्य गोविन्दं भज भजेत्युपदिशद्भिः सर्वविद्भिः पूज्यपादैः परब्रह्मरूपत्वेन श्रीगोविन्दभजनस्यैव परमार्थत्वमद्धा माविरकारि ।

प्राणी जब तक छोटा रहता है तब तक खेल-कूद में लगा रहता है और जब तरुण होता है तो युवती के प्रेमपाश में फँस जाता है, जब वृद्ध होता है तो चिन्ताओं में फँस जाता है किन्तु परब्रह्म की ओर कोई ध्यान भी नहीं देता। इसलिये हे मूढ़मति! गोविन्द-गोविन्द भजो, मृत्यु के समीप होने पर डुकृञ्-करणे की रट से रक्षा नहीं हो सकती। मन्दभाग्य होने के कारण परिणाम में अनिष्ट फल प्राप्त अल्प बुद्धिवाले प्राणियों की दुर्दशा पर शोक प्रकट कर सर्वज्ञ पूज्यपाद आचार्यों ने 'परमे ब्रह्मणि' इस वाक्य से गोविन्द को भजो, गोविन्द को भजो ऐसा उपदेश करते हुए परब्रह्मरूप श्रीगोविन्द-भजन की ही साक्षात् परमार्थता प्रकट की है।

एष निष्कण्टकः पन्था यत्र संपूज्यते हरिः।
कुपथं तं विजानीयाद् गोविन्दरहितागमम्॥ १॥

इति स्मृतिरपि तैरेवोपन्यस्ता मन्त्रदेवप्रकाशिकाऽऽदिषु महाप्रबन्धेषु। तत इतोऽन्यत्र च बहुशः सकलमहामन्त्रसमूहप्रतिपाद्यपरमेश्वरत्वेन सर्व्वव्यापकसर्व्वप्रकाशकसर्व्वात्मकपरब्रह्मत्वं श्रीमन्नारायणस्यैव महोड्डामरढक्काडिण्डिमसहितप्रतिज्ञापूर्वकं राद्धान्तयाञ्चक्रिरे वेदभाष्यकाराः।

जिस मार्ग में श्री भगवान् की पूजा होती है वही निष्कण्टक (काँटों से रहित) मार्ग है। विष्णु के चरित से रहित आगम का नाम कुपथ है। मन्त्र और देव-प्रकाशिका आदि जो महाप्रबन्ध हैं उनमें यह स्मृति भी उन्हीं पूज्यपाद आचार्यों से स्थापन की गई है, अतः इस स्थान से अन्यत्र भी श्रीमन्नारायणदेव के ही बहु बार सम्पूर्ण महामन्त्र-समूह से प्रतिपादित परमेश्वररूप होने से उनको ही सर्वव्यापक सर्वप्रकाशक सबका स्वरूप परब्रह्म रूपवाला कहा है। वेदभाष्य-कारों ने भी अति प्रचण्ड ढक्का के डिण्डिम शब्द द्वारा प्रतिज्ञा के साथ श्री-नारायण की ब्रह्मरूपता ही सिद्ध की है।

देवाः समस्ताः साद्यन्तास्तेषां तोषात्कियत्सुखम्।
लभेताल्पमतिर्मर्त्यो ह्यनाराध्य जनार्दनम्॥

इति मुक्तानन्दाचार्याः।

समस्त देवता, आदि और अन्त के सहित होने के कारण, विनाशशील हैं इसलिये जनार्दन भगवान् को न पूजकर अल्पमति मनुष्य उन देवताओं को

पूजकर या प्रसन्न कर क्या सुख पा सकते हैं अर्थात् कुछ भी सुख नहीं पा सकते। यह मुक्तानन्द आचार्य की सम्मति है।

नमस्कृत्य रमाकान्तमुमाकान्तस्वरूपिणम्।
भट्टोजिदीक्षितकृती कुरुतेऽमरदीपिकाम् ॥ १ ॥

अत्र बहुज्ञगणाग्रणीभिरपि निखिलनिगमागमतात्पर्य्यपर्यवसानमंशिनि श्रीरमाकान्त एव निरणायि।

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥ १ ॥

इति स्मृतिरपि सर्वाधारत्वेन समस्तसुधीवृन्दसमाराध्यत्वं श्रीकेशवस्यैव स्पष्टयति।

शिव-स्वरूपी रमाकान्त लक्ष्मीपति को नमस्कार करके भट्टोजिदीक्षित नामक पण्डित अमरदीपिका नाम के ग्रन्थ को रचते हैं ॥ १ ॥ इस पद्य में पण्डितों के अग्रगण्य दीक्षितजी ने भी सम्पूर्ण निगमों और आगमों का तात्पर्य शिवादि अंशवाले श्रीरमाकान्त लक्ष्मीपति में ही माना है। जिस प्रकार आकाश से वृष्टि द्वारा नीचे गिरा हुआ जल सागर में ही जाता है उसी प्रकार सब देवताओं के लिये किया हुआ नमस्कार केशव भगवान् को ही प्राप्त होता है। यह स्मृति भी श्रीकेशव भगवान् को ही, सब प्राणियों का आधार होने के कारण, समस्त विद्वानों के द्वारा पूजनीय बतलाती है।

येऽप्यन्ये नामशब्दाः स्युर्देवतान्तरवाचकाः।
तेषां च बलवल्लिङ्गैर्विष्णावेव समन्वयः ॥ १ ॥

इति अष्टाविंशतिपुरुषान्प्रति शाण्डिल्यः।

अन्य देवताओं के वाचक जितने भी नामशब्द हैं उन सबका भी बलवान् लिङ्गों से विष्णु में ही समन्वय है। शब्द के सामर्थ्य और अर्थ के सामर्थ्य को लिङ्ग कहते हैं अर्थात् शब्दशक्ति तथा अर्थ के बल से सब नामशब्दों का विष्णु से ही सम्बन्ध है। परमार्थ यह है कि सब विष्णुरूप ही है।

सत्त्वार्थकास्तु ये शब्दा ये च भावार्थका मुने।
सर्वेषां निश्चितस्तेषां वाच्यार्थो विष्णुरेव हि ॥

इति प्रमतिम्प्रति जाबालिः।

भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानीति यास्कः।

हे मुने! सत्त्वार्थक और भावार्थक जितने शब्द हैं उन सबका वाच्य अर्थ विष्णु ही है ऐसा प्रमति के प्रति जाबालि ने कहा है। जिसमें क्रिया प्रधान हो वह आख्यात है और जिनमें सत्त्व (द्रव्य) प्रधान हो वे नाम हैं। जैसे पचति, भवति, गच्छति (पकाता है, होता है, चलता है) यहाँ क्रिया प्रधान होने से ये सब आख्यात हैं। याजक:, पाचक: (यज्ञ करानेवाला, पकानेवाला) यहाँ द्रव्य-प्रधान होने से इन सबको नाम कहा जाता है। इसलिये आख्यात और नाम का वाच्य अर्थ भी विष्णु ही है।

शब्दार्थः सँव्विदर्थश्च वाच्योऽर्थो वाचकस्तथा।
सर्व एवाप्रमेयात्मा भगवान् गरुडध्वजः॥

इति सत्यव्रतः।

जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा के भेद से शब्द चार प्रकार के हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, घट, पट इत्यादि जातिशब्द हैं। मृदु, कठिन, नील, पीत, कृष्ण इत्यादि गुणशब्द हैं। पक्तिः, पाकः, पचति, पाठक: इत्यादि क्रियाशब्द हैं। बालक की उत्पत्ति के बारहवें दिन नामकरण संस्कार से जो नाम रक्खा जाता है—जैसे देवदत्त, यज्ञपति, विष्णुमित्र इत्यादि, ये सब यदृच्छा-शब्द कहलाते हैं तथा संविद् (ज्ञान), वाच्य (कहा जाता है), वाचक (कहनेवाला), इनके अतिरिक्त अन्यान्य सभी पदार्थ भगवान् गरुडध्वज के ही स्वरूप हैं।

प्रारब्धकर्म्मवेगेन जीवन्मुक्तो यदा भवेत्।
कश्चित्कालमथारब्धकर्म्मबन्धस्य संक्षये॥ १॥
निरस्तातिशयानन्दं वैष्णवं परमं पदम्।
पुनरावृत्तिरहितं कैवल्यं प्रतिपद्यते॥ २॥

इति वाक्यवृत्तिकाराः।

अविद्या दो प्रकार की है—एक लेशा अविद्या दूसरी पूर्णा अविद्या। पूर्णा अविद्या तो रागद्वेषादि कल्लोलों के साथ प्राणिमात्र में व्याप्त हो रही है; परन्तु लेशा अविद्या केवल ज्ञानीमात्र में रहती है। जिस प्रकार भुना हुआ चना और बीज अंकुरित नहीं होता, केवल भोगने के लिए ही होता है इसी प्रकार प्रारब्ध कर्म की समाप्ति न होने पर लेशा अविद्या बहुत के साक्षात्कार होने से भुने हुए चने के समान केवल भोगती है, किन्तु ऐसे नये कर्म को पैदा

नहीं करती जिससे पुनर्जन्म हो। इसी विषय को लेकर इस श्लोक में कह रहे हैं कि प्रारब्ध कर्म के वेग से अर्थात् बाण जब धनुष से फेंका जाता है तब उसमें जितना वेग भर जाता है उसकी समाप्ति होने पर ही बाण किसी जगह गिरता है, नहीं तो दूर तक चला ही जाता है इसी प्रकार प्रारब्ध कर्म के रहते जीव की मुक्ति असम्भव है। कर्मों के तीन भेद हैं—सञ्चित, भावी और प्रारब्ध। इन तीन कर्मों में से प्रारब्ध कर्म वह हैं जो छोड़े हुए बाण के तुल्य इस शरीर में भोगने के लिये छोड़ दिये गये हैं, चाहे जीव मुक्त भी हो गया है तो भी प्रारब्ध कर्मों के वेगों को सहना ही पड़ता है। यदि प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति साथ ही हो जाय तो जीव शीघ्र ही देह त्यागकर ब्रह्म में लीन हो जाता है तब वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष जब प्रारब्ध कर्म के वेग के साथ होता है तब कुछ समय तक प्रारब्ध कर्मरूप बन्धन को भोगता है, प्रारब्ध कर्म के नष्ट होते ही अप्रतिम आनन्दमय तथा पुनरावृत्ति से शून्य कैवल्य (मोक्ष) परम वैष्णवपद को प्राप्त होता है। इसी को विदेहमुक्त कहते हैं। तात्पर्य यह कि लोक में जितने पद हैं उनसे बड़े-बड़े अन्य पद भी हैं। किन्तु ब्रह्मरूप पद सबके लिये एकरस—बराबर—है। वह किसी के लिये कम और अधिक नहीं है।

दुर्वासनाविषावर्ते भवाब्धौ भ्राम्यतां नृणाम्।
कथञ्चिदुपसन्नानामेको रामः परायणम् ॥ १ ॥
इति स्वकृतज्ञानदर्पणे श्रीमत्तातपादाः।

दुष्टवासनारूपी विष के आवर्त (भँवर) से युक्त संसार-रूपी समुद्र में घूमनेवाले, शुभ कर्म से किसी प्रकार उपसन्न (शरणागत) हुए, मनुष्यों के लिए केवल राम ही परम स्थान हैं। ऐसा अपने बनाये हुए ज्ञानदर्पण नामक ग्रन्थ में श्रीमान् पूज्य पिताजी ने कहा है।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्व्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
इति श्रीरामचन्द्रचरणाः।

जो प्राणी एक बार भी मेरी शरण में आकर अभय-याचना करता है उसको मैं सम्पूर्ण प्राणियों की ओर से अभय कर देता हूँ। (भगवान् कहते हैं कि) यह मेरा व्रत है। यह श्री रामचन्द्रजी (दशरथनन्दन) कहते हैं।

शैवा वयं न पुनरत्र विचारणीयं पञ्चाक्षरीजपपरा नितरां तथापि ।
चेतोऽस्मदीयमतसीकुसुमावभासं स्मेराननं स्मरति गोपवधूकिशोरम् ॥ १ ॥
नितरां स्मरतीत्यन्वयः ।

अत्र आचार्य्यप्राचार्य्यसन्निपाते प्राचार्य्यायोपसङ्गम्योपसञ्जिघृक्षेदाचार्य्यमिति बौधायनानुशासनरीतिमुत्प्रेक्षमाणो भर्तृहरिरपि श्रीगोपवधूकिशोरस्यैव शिवेनापि ध्यातव्यत्वादस्माकं कोऽपि न विपर्यास इत्यभिप्रैति ।

'हम शैव लोग भगवान् शङ्कर के भक्त हैं। अतः हमको तो सदा पञ्चाक्षरी-मन्त्र के जप में दत्तचित्त रहना चाहिए। हमें भगवान् विष्णु की पूजा से क्या काम ?' ऐसे ओछे विचारों के लिये हमारे हृदय में स्थान नहीं। हम शिवभक्त अवश्य हैं तथापि श्यामसुन्दर, गोपवधूकिशोर, श्रीकृष्णचन्द्र (विष्णुरूप) के मनोहर-मुसकानयुक्त मुख की सुखद स्मृति हम लोगों के मन में सहसा आ ही जाती है। इस स्थल पर भर्तृहरिजी ने भी बौधायन आचार्य की 'स्वगुरु तथा गुरु के गुरु इन दोनों के एकत्र मिलने पर प्रथम अपने गुरु के गुरु का चरण-स्पर्श करे, पश्चात् अपने गुरु का' इस धर्मशिक्षा-पद्धति पर विचार करके अन्त में यही निष्कर्ष निकाला है कि आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र तो भगवान् शङ्कर के भी ध्येय (ध्यान करने के योग्य) हैं। अतः श्रीकृष्णजी (विष्णुरूप) का ध्यान करना शैव लोगों के लिये धर्म-विरुद्ध कार्य नहीं किन्तु धर्मानुकूल ही है।

अथ वस्तुतत्त्वदर्शिनो वृद्धाश्च पुनरेवमेवमुदाजहिरे ।

वस्तु के याथार्थ्य को समझनेवाले वृद्ध लोग भी नन्दनन्दन को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं।

अस्थिप्राणो विधातुर्या हिरण्यकशिपुः श्रियः ।
लेभे ताः स्मरणादेव प्रह्लादो मधुविद्विषः ॥ १ ॥
या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेन शङ्करात् ।
दर्शनादेव रामस्य सा विभूतिर्विभीषणे ॥ २ ॥
विधेर्वा धूर्जटेर्वापि वरदानेन दर्पिताः ।
दुष्टा जगद्द्रुहो जग्मुर्विष्णुवह्नौ पतङ्गताम् ॥ ३ ॥

वात्सल्यादभयप्रदानसमयादार्त्तार्त्तिनिर्व्वापणा-
औदार्य्यादघशोषणादगणितैश्वर्य्यास्पदमापणात् ।
सेव्यः श्रीपतिरेव सर्वजगतामेकान्ततः साक्षिणः
प्रह्लादश्च विभीषणश्च गजराट् पाञ्चाल्यहल्या ध्रुवः ॥ ४ ॥
सेव्य इत्यत्र श्रेयानिति पाठान्तरम् ।

हिरण्यकशिपु ने अस्थि-प्राणशेष होकर अर्थात् कठोर साधना करके ब्रह्माजी से जिस श्री को प्राप्त किया था उसे प्रह्लाद ने विष्णु भगवान् के स्मरण मात्र से ही प्राप्त कर लिया ॥ १ ॥ दशग्रीव को जो विभूति (श्री) अनेक बार शिर काटने से प्राप्त हुई वही विभीषण को रामचन्द्रजी के दर्शनमात्र से प्राप्त हो गई ॥ २ ॥ किन्तु ब्रह्मा तथा धूर्जटि (शिव) से वरदान प्राप्त कर लेने के कारण अभिमान में आकर दुष्ट दैत्य विष्णुरूप अग्नि में पतङ्ग की भाँति जल मरे ॥ ३ ॥ भक्तवत्सल, अभय प्रदान की प्रतिज्ञा से युक्त तथा दुखियों के दुःख के निवारक, उदार, पापों के विनाशक, महान् ऐश्वर्य के प्रदाता, श्रीपति ही सम्पूर्ण प्राणियों के आराध्य हैं—प्रह्लाद, विभीषण, गजराज, द्रौपदी, अहल्या और ध्रुव इसके साक्षी हैं । 'सेव्यः' के स्थान में श्रेयान् पाठान्तर है ।

वज्रम्पापमहीभृतां भवगदोद्रेकस्य सिद्धौषधं
मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशुबिम्बोदयः ।
क्रूरक्लेशमहीरुहामुरुतरज्वालाजटालः शिखी
द्वारं निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम् ॥ १ ॥
भवो भीमः सिन्धुस्तदपरतटे मुक्तिनगरी
परब्रह्मानन्दस्तनुसुखविरक्तिस्तरिरियम् ।
दृढो बोधो वोढा सुकृतमपरं वेतनधनं
निषेद्धारः कामास्तरति हरिनामाङ्कितमुखः ॥ २ ॥
ऋषिविबुधवरालीमौलिषु भ्राजमानो
हरिपदकमलोद्यत्पांशुपुञ्जो गरीयान् ।
विलसति हृदयाब्जे सन्ततं यस्य पुंसो
भवति स हि कृतार्थः कायभाजां वरीयान् ॥ ३ ॥

इत्यादि कोटिशः। तदेवं समस्तपुमर्थमूलमनायाससुलभं सद्यःसुखजनकं तावद्भगवद्भजनम्।

'कृष्णा' ये दो अक्षर, पापरूप पर्वतों के लिये वज्र, संसाररूपी प्रबल रोग की सिद्धौषध, अविद्या-निशा के प्रगाढ़-अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्योदय, क्रूर क्लेशरूप वृक्षों को भस्म करने के लिये प्रबल दावानल और मुक्ति-मन्दिर के सिंहद्वार हैं ॥ १ ॥ यह संसार ही भयङ्कर समुद्र है, इसके पार मुक्ति-नगरी है। सांसारिक भोगों की ओर से विरक्त कर देनेवाला परब्रह्मानन्द ही पार जाने के लिये नौका, प्रबल आत्मज्ञान कर्णधार, शुभकर्म खेवा, और विषय-वासनाएँ बाधा डालनेवाले (जलचर) हैं। इस भयङ्कर महासागर को भगवद्भक्त ही पार कर सकते हैं ॥ २ ॥ संसार में वही प्राणी कृतकृत्य और श्रेष्ठ है जिसके हृदय में भगवान् विष्णु के चरण-कमलों से उत्पन्न, ऋषि महर्षियों तथा विद्वानों के द्वारा वन्दनीय भगवती भागीरथी की भक्ति विराजमान है ॥ ३ ॥

इस प्रकार के करोड़ों वचन हैं, जिनके द्वारा आत्मा तथा परमात्मा की सत्ता, देह और इन्द्रिय आदि से पृथक् सिद्ध होती है तथा इन्हीं वचनों से अन्य देवताओं की अपेक्षा भगवान् विष्णु की श्रेष्ठता भी पूर्णरूप से सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार भगवद्भजन ही समस्त पुरुषार्थ का मूल, बिना आयास (परिश्रम) से सुलभ और शीघ्र सुख देनेवाला सिद्ध हुआ।

मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः।
तज्ज्यायः सर्वधर्म्मेभ्यः स धर्म्मः पर उच्यते ॥ १ ॥
अर्च्चयन्कीर्तयन्ध्यायन्नारायणमनन्यधीः ॥

मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम तप, सब धर्मों से श्रेष्ठ तथा परम धर्म है। अनन्यबुद्धि होकर एक नारायण में ही मन लगाकर उनकी पूजा, कीर्तन और ध्यान किया करे।

शुचिस्तदेकचित्तश्चेत्तस्य तत् सुकृतं स्मृतमित्याद्यनुशासनानुसारेण कायवाङ्मनोभिः क्रियमाणं त्रिविधं भवति। तत्राद्यं पूजनादिरूपं प्रशस्तम्। द्वितीयं पठनादिरूपं प्रशस्ततरम्। तृतीयं चिन्तनादिरूपं प्रशस्ततमम्। आद्यं द्वयं साधनभूतं यथावत्सुचिरविरचितस्य तस्य चित्तशुद्धिहेतुत्वात्। तृतीयं तु साध्यभूतम्। एकान्तभक्तिरसभाविते तस्मिन्नेव सिद्धे सति साधकः कृतकृत्यो भवति। नान्यथा।

मनुष्य पवित्र हो और उपास्य देव में एकचित्त होकर जो कर्म करता है वही कर्म सुकृत (अच्छी तरह से किया गया) कहा जाता है। इत्यादि शिक्षा के अनुकूल काय, वाक्, मन से किया जानेवाला कर्म तीन प्रकार का होता है। पहला पूजनादि-रूप, जैसे शालिग्राम की पूजा प्रशस्त है; दूसरा पठनादि रूप प्रशस्ततर (अधिक महत्त्व का) है; तीसरा चिन्तनादि रूप अधिकाधिक महत्त्व का है। इनमें पूजा और पाठ ये दोनों साधनरूप हैं; क्योंकि पाठ-पूजा देर तक करते करते जब चित्त-शुद्धि हो जाती है तो मन से चिन्तन (ध्यान) ठीक होता है, अन्यथा विक्षेप आने के कारण ध्यान ठीक ठीक नहीं होता। तीसरा, ध्यान है जो कि उन दोनों का साध्य है; क्योंकि नियत भक्ति के रस से जो ध्यान किया जाता है उसके परिपक्व हो जाने पर साधक (ध्यान में अनुष्ठान करनेवाला) कृतकृत्य होता है अन्यथा नहीं। अर्थात् पाठ-पूजा से जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो पाया है उनका ध्यान भी वस्तुतः ठीक नहीं होता और वे कृतकृत्य भी नहीं होते हैं।

यथा शिष्टा ऊचुः—

बालिकाविहितवस्त्रपुत्रिकाक्रीडनेन सदृशं तदर्चनम् ।
येन शाम्यति मनो न निर्मलं स्वान्तचिज्जलधिमध्यमागतम् ॥ १ ॥
अर्थमजानानां नानाविधशब्दमात्रपाठवताम् ।
उपमेयश्चक्रीवान्मलयजभारस्य यो वोढा ॥ २ ॥
ध्यायन्नस्ति निमील्याक्षि बहिर्धावति यन्मनः ।
स धूर्त्तः शठधीर्मत्स्यान्धत्तु बक इवोद्यतः ॥ ३ ॥

इत्यादि अर्थेनानुसन्धीयमानेन प्रलोभ्यमानं मनः शनैरन्तर्मुखीभवति। इतरथा तु कपिचपलत्वात्दुत्प्लुत्य ममतातालविपिनमेवाभिनिविशते। ततश्च यथा गायन्ति गायनाः प्राकृताः "आलिबेलि गुमानिआँ ३ वे इति।" तद्वदेव तेषां पठनमपीति गर्दभसाम्यमापादयत आर्याकर्त्तुः कटाक्षः।

देवताओं की मूर्ति का पूजन बालिकाओं के द्वारा बनाई गई वस्त्र की गुड़ियों के समान है। जैसे लड़कियाँ गुड़ियाँ बना-बनाकर उनके विवाह आदि उत्सव मनाया करती हैं उसी प्रकार भक्त लोग भी प्रतिमा आदि के द्वारा देवताओं की पूजा करते हैं। प्रतिमा-पूजन से निर्मल हो जाने पर भक्तों का मन आत्म-

ज्ञान के महासागर में बार-बार गोते लगाता हुआ भी नहीं अघाता। अन्त में आत्म-ज्ञान में मग्न होकर ब्रह्म को पा जाता है ॥ १ ॥ जो लोग अर्थ को न जानकर शब्दों को ही रटते रहते हैं, वे उस गधे के समान हैं, जो चन्दन को ढोता तो है किन्तु उसके गुण (गन्ध) का अनुभव नहीं कर पाता। अर्थ-ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि "अर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते" के अनुसार अर्थ का ज्ञाता ही समस्त कल्याणों को पाने का अधिकारी है ॥ २ ॥ जो व्यक्ति आँखें मूँदकर ध्यान तो लगाना चाहता है किन्तु बाह्य विषयों की ओर भागनेवाले अपने मन को नहीं रोकता वह कपटी, मछलियों को पकड़ने के लिये आँख मींचकर तालाब आदि के किनारे पर बैठे हुए, बगले के तुल्य है ॥ ३ ॥

इन सब वचनों से स्पष्ट है कि ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और मन की क्रियाओं का प्रवाह एक ही ओर होना चाहिए। क्रिया तो हो रही है किन्तु मन अन्यत्र है, यह ठीक नहीं। तात्पर्य्य यह है कि मन अर्थ (ध्येय) के लालच में पड़कर धीरे धीरे उसमें तल्लीन हो जाता है; अन्यथा बन्दर की भाँति चञ्चल होने के कारण माया-ममता की ओर ही दौड़ता रहता है। जैसे प्राकृत गायक (जो गाना तो जानते नहीं और) गाते हैं; यही दशा उनकी है जिनके मन बाहर हैं। भाव यह कि साधारण गायक लोग गाने के ताल आदि न जानते हुए भी मार्ग में चलते हुए कुछ न कुछ गाया करते हैं। मन अलग लगा हुआ है, वह वाणी का संयोग नहीं ले पाता; वैसे ही जप, पूजा और यज्ञ करनेवाले क्रिया को कर्मेन्द्रिय द्वारा कर रहे हैं और मन अन्यत्र है। वह सब बे-ताल स्वर के गाने के समान है। इसी प्रकार उनके पढ़ने को भी, आर्या छन्द के बनानेवाले, गर्दभ की समानता देते हुए कटाक्ष कर रहे हैं।

साधनाभावे साध्याभावः प्रसिद्धतरः।

साधन के अभाव में साध्य का अभाव जगत् में अति प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह कि मन और इन्द्रियों को एकत्र करके जो काम किया जाता है वही ठीक होता है; क्योंकि साधन ठीक होने से साध्य भी ठीक हो जाता है।

प्राक्तनसुकृतातिशयवतां तु केषाञ्चित्पुरुषपुङ्गवानां पुनरकस्मादाकाशात्सुपक्वस्वादुफलपातवत्साधनाभावेऽपि साध्यमबाध्यमेवोत्पद्यते। तादृशाः पुरुषा विरलाः क्वचिदुपलभ्यन्त इत्यभियुक्ताः प्रचक्षते। तदेतत्सकलमपि ह्येकतानया भगवद्भक्त्यैव सम्पद्यते।

हाँ, जिन लोगों ने पूर्व-जन्म में अनेक पुण्य किये हैं ऐसे महानुभावों को साधनों के बिना भी, आकाश से अकस्मात् गिरे हुए फल के समान, बिना किसी बाधा के साध्य की सिद्धि हो जाती है; पर ऐसे पुरुष संसार में कम हैं, कहीं-कहीं मिलते हैं—यह बात बड़े लोग कहते हैं। बिना परिश्रम के जो कुछ मिलता है वह केवल भगवान् की अनन्यभक्ति से ही मिलता है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ १ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ २ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ३ ॥
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ॥४॥
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।

इत्यादि श्रीमद्भगवत्सच्चिदानन्दमूर्त्तिशारदपर्व्वशर्व्वरीपरिवृढदृढगर्व्वसर्व्वस्वापहारिवदनारविन्दामन्दसमुद्गारनिस्सरदतिनिविडतरपेयपीयूषधाराप्रवाहात्।

हे अर्जुन! तुम मुझमें ही चित्त लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरा ही पूजन और मुझको ही नमस्कार करो। मैं सत्य कहता हूँ कि ऐसा करने से ही मुझको प्राप्त कर सकोगे—यह मेरी प्रतिज्ञा है। तुम मेरे प्रिय हो ॥ १ ॥ मैं अनन्य भक्ति से जानने और देखने योग्य हूँ; इसी रीति से मेरे पारमार्थिक रूप में प्रवेश हो सकता है। हे शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन! मुझमें ही मन और बुद्धि को लगाओ; ऐसा करने से ही मेरे रूप होकर मुझमें निवास करोगे। इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ३ ॥ मेरे भक्त इस तत्त्व को समझकर मेरे स्वरूप को ही प्राप्त करते हैं और वे ही लोग वास्तव में जो मैं हूँ और जितना हूँ इसको दृढ़ भक्ति द्वारा जान पाते हैं। तदनन्तर मेरे वास्तविक रूप को जानकर परमार्थ-ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर मुझमें प्रवेश करते हैं ॥ ४ ॥ इत्यादि।

आनन्द-कन्द, सच्चिदानन्दमूर्त्ति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के शारद-शर्वरीश्वर (शरद् ऋतु के चन्द्रमा) के समान सुन्दर वदनारविन्द से निकले हुए, सुमधुर अमृतमय वचनों से भी पूर्वोक्त भाव ही निकलता है।

एतादृशानन्यसदृशानुभावभगवद्गुणानुरक्तिसंभूतभक्तिसमासक्तिसम्पत्तिशालिनां सकलजगदुत्तुङ्गमङ्गलशीलानां मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनातीत्यादिवागुदाहरणीभूततयोपर्य्युपर्य्युल्लसतां सतां चरणरेणुमल्ली मल्ललाटपटलमतिवेलमलङ्कुर्वतामित्यलं बहुना।

इस प्रकार से, अनन्य-सदृश (उपमारहित) अनुभाव (प्रताप) से सम्पन्न भगवद्गुणों की अनुरक्ति (प्रेम) के कारण उत्पन्न भक्ति में तत्पर, लोकोत्तर मङ्गलमय शील-स्वभाव से शोभित, 'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति' (मेरा भक्त भुवन को पवित्र कर देता है।) के उदाहरणरूप होने के कारण भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ सत्पुरुषों के चरण-कमलों की असीम अनुकम्पा सदा मेरे ऊपर बनी रहे! बस एकमात्र यही इच्छा है।

हन्तैवं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणागमसमूहा गुरुगम्भीरतदभिप्रायसम्प्रदायवर्णनविधिनिपुणगुणमणिगणमहार्णवा महान्तश्च सहस्रशः प्रमाणभूताः सन्ति। ग्रन्थविस्तरभिया तु ततोऽस्माभिरुपरम्यते।

इसी प्रकार श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम और इतिहास आदि के हजारों प्रमाण दिये जा सकते हैं तथा श्रुति-स्मृति प्रभृति के मर्मज्ञ, सद्गुणों से अलङ्कृत हजारों महान् पुरुष (बड़े लोग) भी उदाहरणस्वरूप विद्यमान हैं जिनको प्रमाण मानकर आत्मा और परमात्मा को अचेतन देहेन्द्रियादि से पृथक् सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु ग्रन्थ-विस्तार के भय से अधिक न लिखकर इस विषय को यहीं छोड़ देते हैं।

तस्मादेतस्मिन्सर्वतोऽतिप्रशस्ततमे महदुत्तमाङ्गजागरूकार्थप्रस्तावेऽपि जन्मान्तरीयदुरीहातुरीकृतप्रकृतितया प्रोत्थितोदरशूलशिरोरुजां पुरोभागिनां कुबोधकबरचेतसां त्वादृशां कथञ्चिदिह जल्पितुं किल चञ्चुप्रवेशोऽपि नास्तीति बहिरेव हि रे निरेहि। इति प्रसङ्गादसद्वादिनिराकरणेन स्वविषयसंशोधनम्।

अतः इस विषय में आप जैसे जन्मान्तरीय पापों से पीड़ित छिद्रान्वेषी नास्तिकों को बोलने का कोई अधिकार नहीं। आप लोगों को तो इस विषय

से कोसों दूर रहना चाहिए। क्योंकि ईश्वर-जीव-सम्बन्धी विचारों को सुनते ही श्रीमान्‌जी के सिर और पेट में शूल पैदा हो जाता है और खण्डन करने में तरह-तरह के कुतर्क उपस्थित करने लगते हैं।

इस प्रकार "वासना वासुदेवस्य" इस श्लोक की व्याख्या के प्रसङ्ग द्वारा, आत्मा परमात्मा को न माननेवाले लोगों के मत का खण्डन करके अपने विषय की शुद्धि की गई है, जो कि "वासना वासुदेवस्य" इस श्लोक मे कहा गया है। चार्वाक् आदि नास्तिक लोग वेद का भी प्रामाण्य नहीं मानते, क्योंकि उनकी दृष्टि में वेद भी किसी साधारण मनुष्य का बनाया हुआ है, जैसे रघुवंश आदि कालिदास-कृत ग्रन्थ हैं। प्रमाद, आलस्य आदि दोष-युक्त मनुष्य के बनाये हुए ग्रन्थों का जैसे अप्रामाण्य माना जाता है वैसे ही वेद का भी अप्रामाण्य मानना चाहिए। अतः वेद के द्वारा देहेन्द्रियादि से भिन्न आत्मा और परमात्मा की सिद्धि कैसे हो सकती है? और वेदानुकूल स्मृति-पुराणादि ग्रन्थों का प्रामाण्य तो एक प्रकार से व्यर्थ है। क्योंकि यहाँ जितने प्रमाण दिये गये हैं वे सब शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत ही हैं, और चार्वाक् आदि नास्तिकों के लिये आत्मा तथा परमात्मा की सिद्धि के विषय में शब्द प्रमाण सन्तोषजनक नहीं है। अतः अनुमान-प्रमाण देना आवश्यक प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है—"क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्" पृथिवी, अङ्कुर आदि का भी कोई कर्ता है क्योंकि यह, घट के समान, कार्य है। घट कार्य है तो उसका कर्ता कोई चेतन कुलाल है, वैसे यहाँ भी कोई चेतन कर्ता सिद्ध होना चाहिए। ऐसा कहीं देखा नहीं जाता है कि कोई मनुष्य पृथिवी और अङ्कुर आदि को बना सके। अतएव किसी मनुष्य ने जब इन्हें नहीं बनाया तो सिद्ध हुआ कि इनका बनानेवाला कोई अवश्य है; वही ईश्वर परमात्मा आदि शब्दों से कहा जाता है। दूसरा अनुमान विश्वनाथ पञ्चानन ने मुक्तावली के आत्म-निरूपण प्रकरण में यह दिया है 'आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम्" चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक् इन ज्ञानेन्द्रियों का अधिष्ठाता आत्मा है क्योंकि जितने करण (साधन) हैं उनका अधिष्ठाता—कोई न कोई कर्ता—अवश्य होता है; जैसे छेदन का अधिष्ठाता छेदन करनेवाला मनुष्य है। अनुमान का स्वरूप यह है—"इन्द्रियाणि साधिष्ठातृकाणि करणत्वात् छिदादिकरणकुठारवत्।" तीसरा अनुमान साक्षात् यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में दिखाया गया है—"तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति" उस परमात्मा के कारण ही वायु कर्म को

धारण करता है अर्थात् चलता है। यदि परमात्मा को न मानें तो जड़ पदार्थ वायु में क्रिया नहीं हो सकती। अतः उसमें क्रिया करानेवाला कोई दृश्यमान प्राकृतिक सृष्टि के अन्दर दिखाई नहीं देता। इसलिये स्पष्ट है कि जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा अपनी सत्ता से सब जड़वर्ग में क्रिया को कराता है, वही जड़ वायु को चलाता है; क्योंकि किसी जड़ में स्वाभाविक गति प्रसिद्ध नहीं है। देखते हैं कि जहाँ इञ्जिन गाड़ियों को खींचता है वहाँ भी कोई ड्राइवर चेतन होता है जो उसके चलानेवाले यन्त्र को, उचित रीति से प्रयोग करता हुआ, चलाता है। नास्तिकों से पूछा जाय कि तुम किसके पुत्र हो तो इसका उत्तर वे यदि यह देते हैं कि अमुक के, तो उनसे प्रश्न किया जाता है कि वे किस प्रमाण से यह उत्तर देते हैं; क्योंकि प्रत्यक्ष का तो सम्भव नहीं है। क्योंकि नास्तिकों को गर्भस्थ दशा का प्रत्यक्ष तो है ही नहीं, तब बाध्य होकर उनको इस विषय में अनुमान प्रमाण मानना ही पड़ेगा कि मैं अमुक का पुत्र हूँ—अबाधित जनश्रुति होने से मोहन के पुत्र सोहन के समान। जब अनुमान प्रमाण से उनको अतिरिक्त आत्मा मानना ही पड़ा तब उसी अनुमान के सहायक वेद, स्मृति, पुराण, निगमागमादि में जो अतिरिक्त आत्मा बतलाया गया है उसकी सिद्धि भी शब्द-प्रमाण से सुस्थिर है। जैसे—द्यावाभूमी जनयन्देव एक आस्ते विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। द्यु-लोक और पृथिवीलोक को पैदा करनेवाला एक ही देव जगत् का निर्माता और रक्षा करनेवाला है। पीछे स्मृति श्रुति पुराणादि के जो वचन दे चुके हैं उनका भी अनुसन्धान करना चाहिए। इति असद्वादिवादखण्डनम्। यह असद्वादियों के मत का खण्डन समाप्त हुआ।

अथायमत्र सत्तमजनमनोविनोदरुचिरो विचारः।

इसके अनन्तर (असद्वादिवाद-खण्डनानन्तर) सत्पुरुषों के मन को प्रसन्न करनेवाला एक सुन्दर विचार प्रस्तुत किया जाता है।

वासु वासना वासितमिति त्रिष्वपि वस आच्छादन इति धातोस्तु नास्ति प्रवेशः। तदर्थासम्भवात्। किन्तु वस निवास इत्यस्यैव। अस्मात् वसन्ति भूतान्यस्मिन् भूतेष्वयं वा वसतीति विग्रहे बाहुलकादुण्प्रत्यये कृते वासुः स चासौ देवो द्योतनशीलश्च स्वार्थणिजन्तादस्मादेव

ल्युट्क्तयोः कृतयोः वासना वासितमिति च रूपसिद्धेः। निपूर्वाद्वसतेर्भावे घञ्। नितरां वसनं निवासः। तस्मिन्नर्थे वसधातुर्वर्त्तते। एवञ्च देवदत्तो निवसतीति प्रयोगनिष्पत्तिः। निवसतीत्यस्य सम्यगवस्थितो भवतीत्यर्थोपलम्भादत्र वसधातोर्विशेषोऽर्थः सत्तारूप एव लक्ष्यते। शब्द-शक्तिस्वभावात्। धातूनामनेकार्थत्वात्। निवसनक्रियायां सत्तावान्देवदत्त इति वाक्यार्थः।

वासु, वासना तथा वासित इन तीनों पदों में वस आच्छादने इस धातु का तो प्रयोग है नहीं क्योंकि उसके अर्थ की सम्भावना नहीं है, किन्तु वस निवासे इस धातु का ही प्रवेश है। यहाँ पर वासु शब्द का विग्रह इस प्रकार से करना चाहिए जिसमें भूत निवास करते हैं, अथवा भूतों (प्राणियों) में जो निवास करता है वह वासु कहा जाता है। 'उणादयो बहुलम्' इस सूत्र के द्वारा विकल्प से उण् प्रत्यय करने पर वासु बना है। वही वासु देव-प्रकाशशील होने से वासुदेव कहे जाते हैं। स्वार्थणिजन्त वस धातु से ल्यु और क्त प्रत्यय करने पर 'वासना', 'वासित' इन दोनों रूपों की सिद्धि हुई है। निवास शब्द निपूर्वक वस धातु से भाव में घञ् प्रत्यय करने पर बनता है। सदा बसने का नाम निवास है, क्योंकि उस अर्थ में वस धातु वर्तमान है। इसी प्रकार से 'देवदत्तो निवसति' इस प्रयोग की भी सिद्धि हुई है। 'निवसति' का साधारणतः अर्थ सम्यक् अवस्थित होता है, ऐसा है अवश्य किन्तु यहाँ वस धातु का विशेष सत्तारूप अर्थ ही लक्षणा से ज्ञात होता है। यह लाक्षणिक अर्थ शब्द की शक्ति के स्वभाव से जानना चाहिए तथा धातुओं के अनेक अर्थ भी होते हैं। एक ही हृ धातु के साथ प्र, आ, सं, वि इत्यादि जोड़ देने से जैसे प्रहार, आहार, संहार, विहार भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं, वैसे ही वस धातु में भी नि जोड़ने से निवसनक्रिया में सत्तावाला देवदत्त है यह वाक्यार्थ हो जाता है।

इत्थं लक्षणया निर्णीयार्थमधुना प्रस्तुतपद्ययोजना प्रतन्यते।

इस प्रकार वस धातु के अर्थ का लक्षणा से निर्णय करके प्रस्तुत कठिन पद्य "वासना वासुदेवस्य" की व्याख्या करते हैं। किन्तु वाग्देवी (सरस्वती) की उपासना के बिना वह पूरी नहीं हो सकती, इसलिये प्रस्तुत एक पद्य से वाग्देवी की वन्दना करते हैं।

स्वाभाविकस्मितसुविस्मितकैतवेन स्वीयेष्वनुग्रहसुधां चिरमुद्गिरन्तीम्।
वागम्बिकां सितशुकाम्बुजपुस्तकाक्षस्रग्भासिपाणिकमलाममलामुपासे ॥ १॥

सहज हास्य-युक्त सुविस्मित के छल से अपने भक्तों पर दयारूप अमृत की वर्षा करनेवाली श्वेत शुक, कमल, पुस्तक और जपमाला इन सबसे शोभित तथा हाथ में कमल को धारण करनेवाली वाणीरूप अम्बिका की मैं उपासना करता हूँ।

इस प्रकार भगवती का ध्यान करके आगे यह कहा जायगा कि "अथ इत्यादि ग्रन्थ से शुद्ध हृदयवाला कोई भक्त भगवान् को नमस्कार करता है"।

अथ स्वतःप्रादुर्भूतमहाश्चर्यनिजपारमैश्वर्य्यसाम्राज्यप्राज्यमहोत्सवनिवहसमुल्लसल्लीलाभिः परिक्रीडमानं स्वयम्प्रकाशमानं भगवन्तं तदभिनिवेशितेन मनसान्तरनुभूयमानमनुसन्दधान आनन्दपीयूषबिन्दुसन्दोहसम्प्लुततयोत्पुलकाकुलकायः कोऽपि खलु महाभागो भागवतः श्रीवासुदेवं नमस्करोति वासनेत्यादिना।

स्वयं उत्पन्न महान् आश्चर्य से युक्त अपने परमैश्वर्यरूप साम्राज्य के अनेक महोत्सवों के द्वारा प्रकाशित लीलाओं से क्रीड़ा करनेवाले स्वयंप्रकाशरूप भगवान् में लगाये हुए चित्त से भगवान् का ध्यान करता हुआ, आनन्दरूप अमृत के बिन्दुओं से भीगने के कारण रोमाञ्चित, कोई पुण्यात्मा भक्त "वासना वासुदेवस्य" इस श्लोक से श्रीवासुदेव को नमस्कार करता है—

वासुदेव भो भगवन् ते तुभ्यं नमोऽस्तु। नमः स्वस्तीत्यादिना चतुर्थी। ननु कोऽहं यस्मै मे नमः करोषि। अत आह। भुवनत्रयं वासितं सत्तायुक्तमिति यत् सा। सम्भवदुक्तिकत्वाद्यत्तदोरधिगमः। सेति स्त्रीत्वं विधेयप्राधान्यात्। वासुदेवस्य तवैव वासना सत्तेत्यर्थः। भवत्सत्तयैव भुवनत्रयं सत्तावत्प्रतीयते। न तु तस्य तादृक्सामर्थ्यं जडत्वादिति भावः।

हे भगवन्, वासुदेव! आपको नमस्कार हो। "नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधा" इत्यादि पाणिनि-सूत्र से चतुर्थी विभक्ति का रूप "ते" "तुभ्यम्" जानना चाहिए। शङ्का होती है कि मैं कौन हूँ जिसके लिये नमस्कार करते हो। इस शङ्का का समाधान देते हैं कि जिससे तीनों भुवन वासित हैं और जिसकी सत्ता से सत्तावाले हैं, यही सत्ता परमात्मा का स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि सत्तास्वरूप-

सम्पन्न परमात्मा को नमस्कार है। ऐसी उक्ति का सम्भव होने से 'त्वम्' 'तत्' का अधिगम (प्राप्ति) होता है। "सा" यह स्त्रीलिंग का निर्देश विधेय के प्राधान्य होने से समझना चाहिए। "वासना" शब्द विधेय है इस कारण 'सा' उसी का कहनेवाला है अतएव स्त्रीलिंग है। भगवन्, आप वासुदेव-स्वरूप हैं; आपकी वासना का नाम सत्ता है। आपकी सत्ता से ही तीनों भुवन सत्तावाले हैं, स्वयं अपनी शक्ति से सत्तावाले नहीं; क्योंकि जड़ में सत्ता असम्भव है।

तत्कथमित्यपेक्षायां। वासुदेवेति सम्बोधनात्त्वमिति लभ्यते। कीदृशस्त्वमिति तस्यैव हेतुगर्भं विशेषणम्। सर्वभूतनिवासीनामिति सर्वभूतनिवासी ना आम् इति पदत्रयम्। अकः सवर्णे दीर्घः। यस्मात् कारणात् सर्वेषु चतुर्विधेषु भूतेषु प्राणिषु चैतन्यरूपेण गुहायां निवसति तच्छीलः सर्वभूतनिवासी। सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये। ना पुरुषः। पुरुषाः पूरुषा नर इत्यमरः।

जिसको नमस्कार करते हो वह किस प्रकार का है, ऐसी अपेक्षा में कहते हैं—हे वासुदेव! इस सम्बोधन से "त्वम्" पद का लाभ हुआ जिससे आप अर्थ हुआ। आप कैसे हो इस प्रकार से प्रश्न होने पर उत्तर दिया जाता है कि "सर्वभूतनिवासीनाम्"। यह विशेषण हेतुगर्भ है। यहाँ सर्वभूतनिवासी, ना, आम्, ये तीन पद हैं। यहाँ पर "अकः सवर्णे दीर्घः" इस पाणिनि-सूत्र से दीर्घ होने पर पूर्वलिखित रूप बन जाता है। अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, जरायुज, इन चार प्रकार के प्राणियों में चैतन्यरूप से हृदय-गुहा में भगवान् बसता है इसी लिये उसका नाम सर्वभूतनिवासी है। "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इस सूत्र से णिनि प्रत्यय करने पर निष्पन्न "सर्वभूतनिवासिन्" इस नान्त शब्द का प्रथमा के एकवचन में 'दण्डी' के सदृश 'सर्वभूतनिवासी' ऐसा रूप जानना। "सर्वभूतनिवासीनाम्" इस वाक्य में पदच्छेद करके 'ना' शब्द निकलता है। इसका अर्थ, अमरकोश के प्रमाण से, पुरुष (आदमी) जानना चाहिए।

अन्तर्यामिरूपः। क्षेत्रज्ञरूपो वा। जीवसाक्षित्वोपाधिना अन्तर्यामी। बुद्ध्यादिसाक्षित्वोपाधिना क्षेत्रज्ञ इति तत्रोपाधिरेव भिद्यते न तु वस्तुभेदः। इयं चार्थ—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीत्येष मन्त्र एव निर्द्धारयति।

अन्यथा द्वौ तौ तृतीयो जीवात्माऽप्यन्तरस्तीति त्रयः सुपर्णा इति वेदो वदेत्। तस्मान्नास्ति तयोर्भेदः। आमित्यव्ययं प्रसिद्धौ। असीति शेषः। त्वमेव प्रसिद्धोऽसीत्यर्थः। यस्मादेवं तस्मात् हृदयकञ्जकर्णिकायामेव ज्योतीरूपं भवन्तं विद्वांस उपासते। नान्यत्र नान्यं वेति रहस्यम्।

यह आत्मा अन्तर्यामीरूप, सबका अन्तर्नियमन करनेवाला, तथा क्षेत्रज्ञरूप है; जीव की साक्षित्व(द्रष्टृत्व)रूप उपाधि से अन्तर्यामी, तथा बुद्ध्यादि साक्षित्वरूप उपाधि के कारण क्षेत्रज्ञ है। उपाधि के भेद से आत्मा में भेद है, वस्तु का भेद नहीं है क्योंकि आत्मा एक ही है। उपाधि-भेद से आत्मा दो प्रकार की है। इस विषय को "द्वा सुपर्णा" इस मन्त्र ने कहा है—इस शरीररूप एक वृक्ष के ऊपर दो आत्माएँ रहती हैं जो अच्छे पंखोंवाली हैं; साथ में रहने से परस्पर मित्र हैं। उन दोनों में से एक मीठे कर्मफल का आहार करती है; दूसरी केवल देखती है। इस प्रकार से आत्मा दो प्रकार की सिद्ध होती है—एक कर्मफल को भोगनेवाली और दूसरी देखनेवाली। यदि ऐसा न माने, अर्थात् क्षेत्रज्ञ और अन्तर्यामी शब्द से जीव-भिन्न ही आत्मा ग्राह्य हो तो दो आत्माएँ भिन्न हुई, तीसरा जीवात्मा हुआ। इस प्रकार तीन आत्माएँ हो जायँगी तब वेद को "द्वा सुपर्णा" के स्थान में "त्रयः सुपर्णा" कहना अनिवार्य (उचित) है। इस कारण उन दोनों से पृथक् जीवात्मा को मानना उचित न होगा। उन्हीं दोनों में तीसरे का भी अन्तर्भाव करना उचित है इसलिये क्षेत्रज्ञ शब्द से जीवात्मा और अन्तर्यामी शब्द से ईश्वर, जो पूर्व में प्रतिपादित हैं उन्हीं को लेना चाहिए। "सर्वभूतनिवासी—ना आम्" इस वाक्य में अव्ययार्थवाचक आम् शब्द प्रसिद्ध को कहनेवाला है। यहाँ "असि" पद का अध्याहार है। अर्थात् सर्वभूत (सम्पूर्ण प्राणियों) के निवासी प्रसिद्ध पुरुष आप ही हैं। इस प्रकार के आप हैं, इसी कारण से विद्वान् हृदय-कमल की कर्णिका (झल्लर) में ही ज्योतिरूप आपकी उपासना करते हैं। हृदय से बाहर तथा वासुदेव से भिन्न देवता की उपासना नहीं करते। यह इस श्लोक का रहस्यभूत अर्थ है। "वासना वासुदेवस्य" इस श्लोक की व्याख्या प्रकारान्तर से भी की गई है—

[वासना वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूतनिवासीनां वासुदेव नमोऽस्तु ते॥

वासन—अव—असुदेव—स्य—वासितं—भुवनत्रयम्—सर्वभूत-निवासि—ईनाम्—वासुदेव—नमः अस्तु ते ।

हे सब प्राणिमात्र को अपने में बसानेवाले, हे असुदेव (प्राणप्रभु) ! तीनों भुवनों की रक्षा कीजिए; आप सर्वभूतों के निवासस्थान हैं, कामादिकों की वासना का नाश कीजिए। हे वासुदेव (कृष्ण), आपको नमस्कार है। अथवा

वासन—अव—असुदेव—स्य—वासितम्—भुवनत्रयम्—सर्वभूत-निवासि—ईनाम्—वासुदेव—नमः अस्तु ते ।

हे वासुदेव !—आठ वसुओं के साथ क्रीड़ा करनेवाले इस अर्थ में "वसुभिर्दीव्यतीति वासुदेवः" ऐसा विग्रह करना, या वसुदेव शब्द शुद्ध सत्त्वगुण का प्रतिपादक है उसमें जो सदा वर्तमान रहे वह वासुदेव है—स्तुति करने में अशक्य आपको नमस्कार हो। कोई भी मनुष्य आपके निःशेष गुणों की स्तुति नहीं कर सकता; क्योंकि आपके गुण अनन्त हैं, उनका शेष होना अत्यन्त असम्भव है। अथवा

वासनावा—सुदे—अवसि—अवासितम्—भुवनत्रयम्—सर्वभूतनि-वासीन—अंवासुद इव नमः—अस्तु—ते ।]

(हे अम्बासुद ! अम्बा पार्वती माता तस्यै सुखं ददातीति अम्बासुद तत्सम्बुद्धौ) हे पार्वती माता को सुख देनेवाले, (हे सर्वभूतनिवासीन ! सर्वभूतैस्सह निवासकारी रुद्रः स इनः पितृत्वात्स्वामी यस्य तत्सम्बुद्धौ,) हे सर्व भूतपिशाचों के साथ निवास करनेवाले ! जिसके शङ्कर भगवान् पिता हैं ऐसे हे गणेश ! (हे इव ! ई महीं वाति भक्ताननुगृहीतुं प्राप्नोति तत्सम्बुद्धौ,) भगवन्, आप भक्तों के ऊपर कृपा करने के लिये पृथिवी पर अवतीर्ण होते हैं। आपको नमस्कार हो। आप तीनों लोकों का पालन करते हैं, आपके बिना तीनों लोक (अवासितम्—वासः आश्रयो जातो यस्येति वासितं न वासितमित्यवासितं निराश्रयमिति यावत्) निराश्रय हैं। किससे रक्षा करते हैं ? (वासना वा वासः आश्रय एव नौ दुःखसागरतरणाय हेतुभूता तरी तया वासना वा) आश्रयरूप नौका साधन से रक्षा करते हैं। कैसे रक्षा करते हैं ? (सुदे—शोभनप्रदे—वरदान-परायणे—वरदसमूहे—श्रेष्ठे सति) श्रेष्ठ होने पर।

अथवा हे इन् (स्वामिन्), हे अम्बासुद (अम्बा के समान कल्याण देने-वाले), हे इव (लक्ष्मी को प्राप्त करनेवाले) ! या "अम्बासुदेव" यह

सम्पूर्ण पद सम्बोधन होने से अम्बा शब्द का अर्थ माता हो जायगा और असुद शब्द का "असुद: प्राणद: पिता", इस प्रमाण से पिता अर्थ होगा। अब यहाँ पर अर्थ हुआ कि मातृ-पितृ रूप से लक्ष्मी को प्राप्त करनेवाला अम्बासुदेव कहा जाता है, अर्थात् जगत् के माता-पिता होकर अपने में मातृत्व-पितृत्व की शोभा को धारण करनेवाले भगवान् वासुदेव को नमस्कार हो।

न च नान्यं वेति वचनमनवधाननिबन्धनम्। तत्तदुपासकैरपि स्वस्वदेवताध्यानं हृदय एव क्रियत इति वाच्यम्।

पीछे कहा गया है कि हृदय-कमल में विष्णु का ही ध्यान किया जाता है अन्य का नहीं, यह कथन अनवधानतामूलक है; क्योंकि भिन्न-भिन्न देवताओं के उपासक अपने-अपने इष्ट देवता का ध्यान हृदय-कमल में ही करते हैं, इसलिये केवल विष्णु का ही हृदय में ध्यान किया जाता है यह ठीक नहीं।

ब्रह्मा ध्येयो नाभिपद्मे विष्णुर्ध्येयो हृदम्बुजे।
ललाटे शङ्करो ध्येयो गुरुर्ध्येयोऽथ मूर्द्धनि ॥ १ ॥
चतुर्दशदले ब्रह्मा विष्णुरष्टदलेऽम्बुजे।
शिवो दशदले पद्मे गुरुर्दशशतच्छदे ॥ २ ॥
ब्रह्मा जपाप्रभे विष्णुः कदलीकुसुमोपमे।
धात्रीपुष्पनिभे शम्भुर्गुरुः कुन्दसमप्रभे ॥ ३ ॥

नाभिकमल में ब्रह्मा का, हृदयकमल में विष्णु का, ललाट में शङ्कर का और मूर्द्धा में गुरु का ध्यान करना चाहिए ॥ १ ॥ चौदह पखुरियोंवाले कमल में ब्रह्मा का, अष्टदल कमल में विष्णु का, दश दल(पत्तों)वाले कमल में शिव का और सहस्रपत्रसम्पन्न (हज़ार पत्तों से युक्त) कमल में गुरु का ध्यान करना चाहिए ॥ २ ॥ जपाकुसुम के समान लाल कमलवाले आसन में ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिए। केले के पुष्प के समान आसन में विष्णु का, धात्री (आमलक) के पुष्प के समान आसन में शम्भु का और कुन्द के समान आसन में गुरु का ध्यान करना चाहिए ॥ ३ ॥

इत्यादि ध्यानस्थानासनविशेषनियमप्रतिपादकमान्त्रिकमहामुनिजनवचनैः श्रीविष्णोरेव हृदयाम्बुजे ध्यानमिति सिद्धान्तात्। विष्णुर्वा एषोऽन्तरात्मेति सामश्रुतेः। विष्णुः सर्व्वगुहाशय इत्यादिस्मृतेश्च। उक्तचतुर्व्यतिरिक्तदेवताध्यानं तु तत्तत्प्रतिमास्वेवेति। विश्वामित्रादीनां

संवादात् । यथोक्तस्थानध्यानमपि मन्दाधिकारिणां सहसा न सम्भवतीति पूर्वं तदभ्यासाय प्रतिमादावुपदिशन्ति सन्तः ।

यहाँ "ब्रह्मा ध्येयः" इत्यादि श्लोक से ध्यान, आसन और स्थान के विशेष नियमों के प्रतिपादक मन्त्ररूप महामुनिवचनों के अनुसार हृदयकमल में विष्णु का ही ध्यान करने का सिद्धान्त है। विष्णु ही सबके हृदय में अन्तरात्मा हैं, ऐसी सामवेद की श्रुति है। विष्णु सबकी हृदयरूपी कन्दरा के भीतर रहते हैं, इसमें स्मृति का प्रमाण है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गुरु इनका ध्यान उक्त विशेष स्थानों में कहा है। इनसे भिन्न देवताओं का ध्यान तो उनकी प्रतिमाओं में ही कहा गया है। विश्वामित्रादि ऋषियों ने ये स्थान ध्यान के लिये नियत किये हैं। ध्यान के लिये जैसा स्थान कहा गया है वैसे स्थान में भी मन्दाधिकारी के वास्ते ध्यान सहसा सम्भव नहीं है, इसलिये सज्जनगण प्रथम सब अधिकारियों के प्रति ध्यान के अभ्यासार्थ प्रतिमा आदि का उपदेश करते हैं।

तदुक्तं कल्पद्रुमाचार्य्यैः परिचर्याप्रदीपे—

प्रतिमायां तु चित्रे वा ध्यानाभ्यासवतः शनैः ।
स्वरूपध्यानयोग्यत्वं स्वयमाह पितामहः ।। इति ।।

'परिचर्याप्रदीप' में कल्पद्रुमाचार्य ने कहा है—प्रतिमा और चित्र में धीरे-धीरे ध्यान का अभ्यास करनेवाले पुरुष को देवस्वरूप के ध्यान करने की योग्यता स्वयं हो जाती है, इस प्रकार ब्रह्माजी ने कहा है।

श्रीपराशरादयोऽप्येवमिति च । अत एव गौतमः सौदासाय वैष्णवीं दीक्षामुपदेक्ष्यन् राज्यपरिपालनव्यग्रोऽयमिति विचार्य प्रथमतोऽभ्यासार्थं प्रतिमायां शिवध्यानमुपदिदेशेति नारदेनोपाख्यायत इत्यपि तत्रैवोक्तम् ।

बुद्ध्वा विधायकं शास्त्रं यत्कृतं तत्कृतं भवेत् ।
अन्यथा तु कृतं प्राहुर्भस्मनीव हुतं बुधाः ।।

इति प्राचां वाचां प्राबल्यात् ।

जैसा प्रजापति ने कहा है उसी को पराशरादि महर्षियों ने भी दर्शाया है कि प्रतिमा तथा चित्र में धीरे-धीरे ध्यान के अभ्यास से देवस्वरूप के ध्यानार्ह योग्यता प्राप्त होती है।

सौदास राजा को वैष्णवी दीक्षा का उपदेश देने के लिये गैातमजी ने सोचा कि यह राजा प्रजा के पालन में व्यग्र है, अतएव उन्होंने उससे प्रथम अभ्यास के लिये प्रतिमा में शिवजी का ध्यान करने के लिये कहा। इस बात को नारदजी ने वहाँ पर कहा है। प्राचीन ऋषियों के प्रबल वचन हैं कि विधायक शास्त्र को जानकर जो कर्म किया जाता है वही वास्तविक होता है; मनमाने ढंग से जो कर्म किया जाता है वह माने भस्म में आहुति देना है।

ननु चैवं सति सदा वसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानीसहितं नमामीत्यादिवचनविरोधो दुर्वार इति चेन्न। पदार्थस्मरणं हृदयवृत्तिभिर्भवतीति वृत्तिधर्मोऽधिष्ठान उपचर्यते। राजनीव तत्पुरुषकृतमित्यविरोधः। ध्यानस्थानं तूक्तमेव। यदि तु यो यो यं यमन्तर्ध्यायति तत्तद्रूपेण सर्वगतोऽनन्तरूपो भगवानेव स्फुरति।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्च्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

इति गीतासूक्तेस्तथा चेदपि किमसमञ्जसमिति ब्रूषे। हन्तैवं तर्हि चिरं जीवतु भवान्। इदानीं धीमद्ध्वानमभिमन्यमानस्त्वम्।

यहाँ पर शङ्का करनेवाला शङ्का करता है कि 'यदि हृदय में केवल विष्णु भगवान् का ही ध्यान करना चाहिए' यह बात मान ली जाय तो 'हृदय-कमल में सदा विराजमान भवानी समेत भगवान् शङ्कर को मैं प्रणाम करता हूँ' इस वचन के साथ विरोध होगा। किन्तु उक्त शङ्का ठीक नहीं; क्योंकि पदार्थों के जितने भी स्मरण हैं वे सब के सब हृदय की वृत्तियों के द्वारा ही होते हैं प्रकारान्तर से नहीं, और हृदय की वृत्तियों का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है। अत: शङ्का असङ्गत है। दूसरे यदि ऊपर की शङ्का को युक्तिसङ्गत मान लिया जाय तो 'ललाटे शङ्करो ध्येय:' इस वचन में वर्णित शङ्कर-ध्यान-विधि व्यर्थ होती है क्योंकि शङ्कर का ध्यान भी हृदय-कमल की वृत्तियों के द्वारा ही हो सकता है। इस कारण भी शङ्का की व्यर्थता स्पष्ट है। 'सदा वसन्तं हृदयारविन्दे' यहाँ पर वृत्तियों के धर्म का आरोप उनके आश्रय हृदय में किया गया है; जिस प्रकार राजा के सैनिकों द्वारा किये गये जय-पराजय का आरोप राजा में होता है। इसी लिये 'हृदयारविन्दे' ऐसा प्रयोग किया गया है। इस प्रकार भली भाँति विचार करने पर वचनविरोध के लिये

कोई अवकाश नहीं। किन देवताओं का ध्यान कहाँ करना चाहिए, इसका वर्णन पहले ही कर चुके हैं। यहाँ पर यदि वादी यह कहे कि उपासक लोग अपने हृदय में जिन-जिन देवताओं का ध्यान करते हैं उन-उन देवताओं के रूप में ध्यान के समय अन्तर्यामी अनन्तस्वरूप, सर्वव्यापक भगवान् ही स्फुरित होते हैं; जैसा 'गीता' में कहा भी है—भक्त लोग मेरी जिस-जिस मूर्त्ति (रूप) का श्रद्धा-पूर्वक पूजन करना चाहते हैं तदनुरूप ही मैं उनके हृदयों में अटल श्रद्धा उत्पन्न कर देता हूँ। ऐसी अवस्था में हम वादी से पूछते हैं—जब तुमने विष्णुरूप से शिवजी का हृदय में ध्यान करना स्वीकार कर ही लिया तब विरोध क्या रहा ? अन्त में आ गये न बुद्धिमानों के मार्ग पर !

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

इत्यपि तत्रत्यं नूनं जानीषे। एतदर्थमेवास्माभिरेतत्ताण्डवप्रकाण्डमखण्डमारब्धम् ।

यह तो आपको विदित ही है कि यह वचन भी वहीं है जहाँ पर "यो यो यां यां तनुं भक्तः" वचन है। देवताओं के पूजारूप जो-जो फल हैं वे सब इस वचन में नाशवान् कहे गये हैं। अल्पबुद्धिवालों की प्रवृत्ति उन्हीं में होती है। तत्तद्देवताओं के पुजारी तत्तद्देवताओं के स्वरूप को प्राप्त करते हैं, इसी लिये हम लोगों ने अखण्ड (पूर्ण) प्रकाण्ड (सबसे बढ़कर) ताण्डव (नृत्य) का आरम्भ किया।

यहाँ ग्रन्थकार ने अपने गम्भीर और स्पष्ट विचार को ही नृत्यरूप में कहा है। तात्पर्य यह है कि परमेश्वर के विषय में भक्ति के साथ पद-पदार्थ का विचार करना मानों नृत्य करना है।

कालकरालकालव्यालारालरदान्तरालगतैः कथमपि दैवयोगादनन्तसन्ततनिरुपमोदर्कसुखसम्पर्कपरवशतर्कसमुद्भवदर्कहीरतारेशदीधितिविशदीभवदुपलब्धिभाजनैः पञ्चजनैः खलु निर्भरनिर्भयमसदुरुदुर्गममभिसरवर्गनिसर्गनिरर्गलमन्तर्गताजितमार्गमभिनिविश्य चिराय सन्तोष्टव्यमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

यह कहने की अधिक आवश्यकता नहीं कि कराल काल के गाल में पड़े हुए प्राणियों को यदि भाग्यवश, अनन्त, निरन्तर अनुभवनीय और अनुपम सुख के जनक सद्विचारों के द्वारा सूर्य, चन्द्र तथा हीरे आदि के समान उज्ज्वल विशुद्ध बुद्धि प्राप्त हो जाय तो उन्हें चाहिए कि अभयप्रद, दुर्जनों को दुर्लभ, भक्तों के

लिये सहज-सुलभ, सब प्रकार के बन्धनों से रहित भगवत्प्राप्ति के मार्ग (भक्ति) में अपने मन को लगाकर असीम सन्तोष-सुख का अनुभव करें।

हे भगवन् एवं सर्वकारणानामप्यादिकारणत्वेन सर्व्वसेव्यत्वात्प्रणमदमितमनुमुनिदिविषद्दानवमानवप्रवरनिकरशिरोरत्नसुरुचिरच्छविराजिनीराजितचरणसरोजाय नमोऽस्तु त इत्येकोऽर्थः।

भगवन्, वासुदेव! आप सब कारणों के आदिकारण और सबके सेव्य होने से सम्पूर्ण देवताओं, ऋषि-मुनियों, मनुष्यों, दैत्य-दानवों और मनु प्रभृति के भी आराधनीय हैं, अत: आपके चरण-कमलों को नमस्कार हो। यह एक अर्थ हुआ जो आरम्भ से यहाँ तक वर्णन किया गया है।

अथवा अर्थान्तरमपि परिस्फुरति। तत्र च वासनापदव्याख्याने पूर्वसूरिभिर्विस्तरेण वर्णितो ज्ञानशास्त्रविषयो भूयान्प्रसङ्ग उपस्थितो भाति।

अथवा यहाँ अर्थान्तर भी मालूम होता है। इसी लिये पूर्व विद्वानों ने वासना पद का व्याख्यान करते हुए ज्ञानशास्त्र के विषय का, बहुत से प्रसङ्गों के साथ, विस्तार से वर्णन किया है।

यद्यपि तत्र नास्ति मादृशामधिकारस्तथापि तेषामेव सदुपपत्तिमदुक्तीरालम्बमानो मतिचाञ्चल्यादहं नातिजिह्रेमि। लोके हि पङ्गुरपि करचरणजानुघर्षणेनाभिसृत्याभिसृत्य कथमपि देवतटिनीतटमुपेत्य स्नानसुखमनुभवत्येव। तादृशी ननु ममापि गति:। अत: समासत: स्वमत्यनुसारेण तं च प्रसक्तानुप्रसक्तं च निरूप्य साधिकसहस्रद्वितयपरिमितप्रबन्धानन्तरं पुन: श्लोकं व्याख्यास्याम:।

यद्यपि मेरे जैसे पुरुषों को ज्ञानविषय में बोलने का अधिकार नहीं है तथापि विद्वानों की युक्तियुक्त उक्तियों का अवलम्बन कर व्याख्याकार बनने की धृष्टता दिखाने पर भी मैं बुद्धि की चपलता से लजाता नहीं हूँ, अर्थात् मैं चपलबुद्धि होने के कारण कठिन ज्ञानमार्ग में नहीं जा सकता, ऐसी लज्जा नहीं रखता। लोक में देखा जाता है कि पंगु भी अपने हाथ, पाँव तथा जङ्घा के सहारे घिसट-घिसटकर किसी तरह गङ्गा के किनारे पहुँचकर स्नान के सुख का अनुभव करता ही है। वही गति मेरी भी समझना। अत: संक्षेप में अपनी मति के अनुसार प्रसङ्ग-प्रसङ्ग से प्राप्त पदार्थों का निरूपण करके कुछ

अधिक दो हजार निबन्धों के पश्चात् इस श्लोक की व्याख्या करने का साहस करता हूँ।

श्रीमद्गुरूनादिगुरून् गरिष्ठान् वशिष्ठवाल्मीकिपराशरादीन्।
नमामि मातापितरौ च भूयो भूयासुरिष्टा भगवज्जना मे ॥ १ ॥

[ज्ञानशास्त्र के अनुसार "वासना वासुदेवस्य" इस श्लोक की व्याख्या का आरम्भ करने के पहले ग्रन्थकार नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण करता है।] वशिष्ठ, वाल्मीकि, पराशर आदि श्रेष्ठ आदिगुरुओं को तथा माता-पिता को नमस्कार करता हूँ। भगवान् की कृपा से भक्त जन मेरे मनोरथ को सफल करें।

अत्र तावत् वासनास्वरूपमुदाजहार वशिष्ठः।

"वासना वासुदेवस्य" इस श्लोक में आये हुए वासना पद का स्वरूप वशिष्ठजी ने इस प्रकार दिखलाया है—

दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम्।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥ १ ॥
भावितं तीव्रसंवेगादात्मना यत्तदेव सः।
भवत्याशु महाबाहो विगतेतरसंस्मृतिः ॥ २ ॥
तादृग्रूपो हि पुरुषो वासनाविवशीकृतः।
सम्पश्यति यदेवैतत्सद्वस्त्विति विमुह्यति ॥ ३ ॥
वासनावेगवैवश्यात्स्वरूपं प्रजहाति तत्।
भ्रान्तं पश्यति दुर्दृष्टिः सर्वं मदवशादिव ॥ ४ ॥ इति।

दृढ़ भावना के साथ पूर्वापर का विचार छोड़कर किसी वस्तु के ग्रहण करने का नाम 'वासना' है ॥१॥ और जिसने अपनी इन्द्रियों के प्रबल वेग द्वारा बुद्धि-बल से भावना को परिपक्व कर लिया है, वही पुरुष 'तन्मय' कहलाता है। महाबाहो! भावना की परिपक्वता तथा तन्मयता के प्राप्त होते ही साधक का ध्यान अन्य विषयों की ओर से एकदम हट जाता है—विषयों का स्मरण तक नहीं रह जाता ॥ २ ॥ अज्ञानी प्राणी वासना के वशीभूत होकर अपने स्वरूप को भी भूल जाता है, वह अपने को 'तद्रूप' मान बैठता है। उसके सामने चाहे बुरी से बुरी वस्तु क्यों न आ जाय किन्तु वासना का दास होने के कारण उसे अच्छी जँचती है ॥ ३ ॥ इन वासनाओं के प्रवाह में पड़ा हुआ प्राणी

अपने स्वरूप को खो बैठता है, मतवाले व्यक्ति के समान उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती और वह सब को भ्रान्तिमय अनुभव करता है ॥ ४ ॥

द्विविधो वासनाव्यूहः शुभश्चैवाशुभस्तथेत्यादि च । तत्र सच्छास्त्रविचारदेवताध्यानादिविषयःशुभः। परदारपरद्रव्यादिविषयोऽशुभ इत्यर्थः ।

वासना का समूह दो प्रकार का है—शुभ और अशुभ । सत्शास्त्र के विचार तथा देवता-ध्यानादि से सम्बन्ध रखनेवाला वासना-समूह शुभ कहा जाता है और परदार-परद्रव्य-विषयक अशुभ कहा जाता है ।

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत् ।
स्वमनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर ॥

हे राम प्रबलेन पुरुषप्रयत्नेनेत्यर्थः ।

बलवानों में श्रेष्ठ हे राम ! मनुष्य को चाहिए कि अशुभ कर्म में लगे हुए अपने मन को हटाकर शुभ कार्य में लगावे, क्योंकि मन अति चञ्चल है। उसका निग्रह करना अत्यन्त दुःसाध्य है । अतएव मन को अत्यन्त प्रयत्न से शुभ कार्य में प्रवृत्त करना चाहिए ।

शुभायां वासनावृद्धौ तात दोषो न कश्चन ।
वासनौघेन शुद्धेन तत्र चेदुपनीयसे ॥

तत्क्रमेणाशु तेनैव पदं प्राप्स्यसि शाश्वतमित्यादि तत्र तत्र स एवाह ।

हे तात (प्रिय राम) ! यदि तुम फल-कामना से रहित शुद्ध वासना के समूह द्वारा परमात्मा के निकट पहुँचते हो तो शुभ वासना के बढ़ाने में कोई दोष नहीं है । शुभ वासना के क्रम से उत्तरोत्तर बढ़ने पर ही सनातन ब्रह्मपद को शीघ्र प्राप्त करोगे । यह उपदेश श्रीरामचन्द्र को वशिष्ठजी ने ही भिन्न-भिन्न स्थानों में दिया है ।

अत्रैव विश्वरूपाचार्य्याः—

शुभैराप्नोति देवत्वमशुभैर्नारकीं गतिम् ।
उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः ॥ इति ।

वाल्मीकिरपि भरद्वाजम्प्रति—

वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा ।
मलिना जन्मनो हेतुः शुद्धा जन्मविनाशिनी ॥ १ ॥

अज्ञानसुघनाकारा घनाहङ्कारशालिनी ।
जन्ममृत्युकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः ॥ २ ॥
पुनर्जन्माङ्कुरं त्यक्त्वा स्थिता सम्भ्रष्टबीजवत् ।
देहार्थं ध्रियते ज्ञातज्ञेया शुद्धेति सोच्यते ॥ ३ ॥

इसी विषय में विश्वरूपाचार्य ने भी कहा है कि मनुष्य शुभ वासनाओं से देवभाव को प्राप्त करता और अशुभ वासनाओं से नरक की गति को पाता है तथा पुण्य-पाप के कारण जीव लाचार होकर मनुष्ययोनि में जन्म लेता है।

वाल्मीकिजी ने भी भरद्वाजजी से कहा है कि वासना दो प्रकार की है—शुद्धा तथा मलिना । मलिना जन्म की कारणभूत है, शुद्धा जन्म का नाश करनेवाली—मुक्ति का कारण है । अज्ञान की जननी, अहङ्कारमयी वासना को विद्वानों ने मलिना वासना कहा है । वह जन्म-मृत्यु का कारण है । भुने हुए बीज के समान, जन्म-मरण के कारण-स्वरूप बीज शोक का त्याग करके जन्म-मरण के चक्कर से छुड़ानेवाली, शुद्धा वासना कही जाती है । लेशा अविद्या के बने रहने से जब तक शरीर है तब तक अर्थात् प्रारब्ध-भोग के नाश होने पर्यन्त देह की स्थिति के लिये उसका रहना आवश्यक है ।

अयमर्थः । पञ्चकोशास्तैत्तिरीयोपनिषदि । अन्नमयादानन्दमयान्तान् पञ्चकोशान्कल्पयित्वा तदधिष्ठानमकल्पितं ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तत्र पञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मको विराट्मूर्तराशिरन्नमयकोशः स्थूलसमष्टिः । तत्कारणीभूतोऽपञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मको हिरण्यगर्भः सूत्रममूर्तराशिः सूक्ष्मसमष्टिः ।

उपर्युक्त विषय तैत्तिरीयोपनिषत् में पञ्चकोशों को दिखलाते हुए अच्छे प्रकार स्फुट किया गया है । अन्नमय से लेकर आनन्दमय-पर्यन्त पाँच कोशों की कल्पना करके उनके रहने का आधार, जो कि नित्य है अर्थात् कल्पित नहीं है, ब्रह्म-प्रतिष्ठा को बताया गया है । वहाँ पर "पुच्छम्" यह दृष्टान्त दिया गया है । जैसे कुत्ता बैठने के समय अपने शरीर का भार पुच्छ पर रखता है ऐसे ही सब संसार ब्रह्म को आधार बनाकर प्रतिष्ठित है । उन कोशों में अन्नमय कोश का स्वरूप यह है—पञ्चीकृत (पञ्चमहाभूत) के संयोग से कार्यरूप तथा स्थूल समष्टिमय विराट् ब्रह्म के मूर्तराशिरूप चराचर (संसार) का नाम अन्नमय कोश है । अन्नमय कोश के कारणरूप मेलनरहित पञ्चमहाभूत

के कार्यरूप कुल सूक्ष्म समष्टि, अमूर्त के राशिरूप सूत्रात्मा का नाम हिरण्यगर्भ है।

अयं वा इदं नामरूपं कर्मेति बृहदारण्यकोक्तोऽन्नात्मकः सकर्मात्मत्वेन क्रियामात्रमादाय प्राणमयकोश उक्तः। नामात्मकत्वेन ज्ञानशक्तिमादाय मनोमयकोश उक्तः। रूपात्मकत्वेन तदुभयाश्रयतया कर्तृत्वमादाय विज्ञानमयकोश उक्तः। ततः प्राणमयमनोमयविज्ञानमयात्मैक एव हिरण्यगर्भाख्यो लिङ्गशरीरकोशः। तत्कारणीभूतस्तु मायोपहितचैतन्यात्मा सर्व्वसंस्कारशेषोऽव्याकृताख्य आनन्दमयकोशः कारणसमष्टिः। ते च सर्वे एकस्यैव परमात्मनः शरीराणि। अतः सान्तानि मायिकत्वात्। तथा च भाष्यम्। सर्वं विनश्यद्वस्तुजातं पुरुषान्तं विनश्यति। पुरुषो विनाशहेत्वभावान्न विनश्यतीति।

बृहदारण्यक उपनिषद् में नाम, रूप और कर्म ये तीनों अन्नमय कोश नाम से कहे गये हैं। इन तीनों में से ही एक-एक के धर्म को लेकर तीन कोश और बतलाये गये हैं वे निम्नलिखित हैं—

शरीर की सारी क्रियाएँ प्राणवायु के सम्बन्ध से ही होती हैं, इसलिये प्राण सकर्मात्मा कहा जाता है। यदि शरीर में क्रिया न हो तो लोग कहने लगते हैं कि शरीर में प्राण नहीं है, इस अनुभव के द्वारा सिद्ध होता है कि क्रिया के साथ होने से ही क्रिया प्राणात्मा है, उस क्रिया को ही लेकर प्राणमय कोश कहा जाता है। मन के नामरूपात्मक होने से उसकी ज्ञानशक्ति अर्थात् मननशक्ति को लेकर मनोमय कोश की कल्पना की गई है। मन में कोई रूप नहीं मालूम होता। उसमें जो क्रिया है वह सब प्राणवायु की है; इसलिये नाम, रूप तथा कर्म इन तीनों में से रूप और कर्म को छोड़कर केवल नाम ही मन का स्वरूप है। रूप स्वरूप होने से, रूप और नाम के आश्रय होने से कर्तृत्व धर्म को लेकर ज्ञान क्रिया का कर्ता होने के कारण विज्ञानमय कोश कहा गया है। अतएव प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, ये तीनों कोश मिलकर ही एक आत्मावाला हिरण्यगर्भ नामक लिङ्गशरीर कोश है। उस लिङ्गशरीर की कारण-स्वरूप माया की उपाधि के सहित, चैतन्य आत्मा सर्वसंस्कारशेष (अङ्ग)भूत अव्याकृत कारण-रूप की समष्टि ही आनन्दमयकोश है। ये सब एक ही परमात्मा के शरीर हैं इसलिये माया के विकार होने से नाशवान् हैं।

ऐसा ही भाष्यकार ने भी कहा है—सम्पूर्ण विनाश होनेवाले वस्तुसमूह पुरुष की अवधि बनाकर विनष्ट हो जाते हैं। विनाश के कारण के अभाव से पुरुष का विनाश नहीं होता।

देहादीनामुक्तपञ्चकोशानान्तत्साक्षिणश्चिदात्मनश्च भेदावरकं विमोहनमज्ञानं तेन सुष्ठु घनीभूत आकारो यस्याः सा तथा। घनीभावोऽत्र भ्रान्तिपरम्परा। सा चासुरसम्पद्विवरणे गीतास्वभिहिता। प्रवृत्तिं च निवृत्तिं चेत्यादिभिरन्यायेनार्थसञ्चयानित्यन्तैः षड्भिः श्लोकैः। घनाहंकारोऽपि तत्रैवोदीरितः।

उक्त देहादि पञ्चकोशों और उनके साक्षी चिदात्मा के वास्तविक भेद को तिरोहित करनेवाला तथा जीवों को मोह-जाल में फँसानेवाला केवल अज्ञान है। उसी के द्वारा घनीभूत मलिना वासना के स्वरूप की वृद्धि होती है।

घनीभाव से मतलब यहाँ भ्रान्तियों की परम्परा से है। उसका वर्णन असुर-सम्पत् के विवरण के समय गीता में "प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च" श्लोक से "अन्यायेनार्थसञ्चयान्" तक छः श्लोकों में किया गया है।

इदमद्य मया लब्धमित्यारभ्य ततो यान्त्यधमां गतिमित्यन्तैरष्टभिः। एतेन पुनर्जन्मकारकत्वं स्पष्टमुक्तं भवति। अत इयं मलिनवासना।

यह वस्तु मैंने इस समय पाई इत्यादि अर्थवाले श्लोक से लेकर उसके बाद अधमा गति को प्राप्त होता है यहाँ तक आठ श्लोकों में घने अहंकार का वर्णन भी उसी स्थल पर कर दिया है। इसी से पुनर्जन्म भी होता है यह स्पष्ट हो जाता है, इसलिये यह मलिन वासना है।

शुद्धवासना तु ज्ञातज्ञेया। ज्ञेयस्वरूपं त्रयोदशाध्यायेऽभीयते। ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामीत्यारभ्य हृदि सर्वस्य धिष्ठितमित्यन्तैः षड्भिः पद्यैः। सा हि यथा संभ्रष्टानि व्रीह्यादिबीजानि पुनः सस्यनिष्पत्तये न भवन्ति तथा पातकप्रचयवन्मम भूयः पुण्यपुञ्जमपि नाथ लुनीहि। काञ्चनी भवतु लोहमयी वा शृङ्खलैव पदयोर्न विशेषः इति न्यायेन पुनर्जन्महेतुभूतं काम्यनिषिद्धात्मकं कर्म परित्यज्य देहार्थं ध्रियते केवलं देहजीवनमात्रायोपयुज्यते इत्यर्थः।

ज्ञानज्ञेया (ज्ञेय के स्वरूप का ज्ञान करानेवाली) वासना शुद्धा कही जाती है। ज्ञेय के स्वरूप का त्रयोदश अध्याय में "ज्ञेयं यत्तद् प्रवक्ष्यामि" से आरम्भ कर "हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्" तक, ६ श्लोकों में, वर्णन किया है। जिस प्रकार भुने हुए व्रीह्यादिकों के बीज से सस्य (गेहूँ, चना इत्यादि) की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार हे नाथ! मेरे पातक-समूह के समान पुण्य-समूह को भी नष्ट कर दो। शृङ्खला चाहे सोने की हो चाहे लोहे की, पैरों का बन्धन ही है; वह भूषण नहीं हो सकती। इसी प्रकार समान रूप से बन्धन के जनक होने के कारण पाप और पुण्य में कोई अन्तर नहीं मालूम होता। इस न्याय से शुद्ध वासनावाला ज्ञानी, पुनर्जन्म के कारणभूत काम्य तथा निषिद्ध कर्म का परित्याग कर, उतना ही कर्म करता है जितना शरीर के लिये पर्याप्त हो।

लोकवासना शास्त्रवासना देहवासना चेति तिस्रः। षोडशाध्याये गीतासूक्ता आसुरसम्पद्रूपा चतुर्थी वासना। तत्र लोकवासना यथा—सर्वे जना मां स्तुवन्ति न निन्दन्ति यथा तथैवाहमाचरामीति। दुष्करं तत्। सत्त्व-रजस्तमोगुणभिन्नप्रकृतीनां जनानामैकमत्यस्य खपुष्पोपमत्वात्। यथोक्तं महाभारते—

मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्व्वतः।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः॥
विद्यते न खलु कश्चिदुपायः सर्वलोकपरितोषकरो यः।
सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः॥ इत्यन्यत्र।

लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना, इन भेदों के अनुसार वासनाएँ तीन प्रकार की हैं। गीता के १६वें अध्याय में आसुर सम्पत्रूप एक चौथी वासना भी वर्णित है। लोकवासना का स्वरूप यह है—'मुझे ऐसा आचरण (बर्ताव) करना चाहिए जिसके फलस्वरूप लोग मेरी स्तुति करें और अपनी निन्दा सुनने का अवसर ही न मिले'। किन्तु यह अत्यन्त कठिन है क्योंकि सत्त्व, रज, तम, इन तीनों गुणों के प्रभाव से भिन्न-भिन्न स्वभाव के मनुष्यों का ऐकमत्य होना आकाश के फूल के समान अर्थात् असंभव है। जैसा महाभारत में कहा है—वन में रहकर अपने कर्म का सम्पादन कर रहे मुनि को भी मित्र, उदासीन तथा शत्रु मिल ही जाते हैं। जगत् में सबको सन्तुष्ट करनेवाला कोई उपाय नहीं है। अतः सर्वदा अपना हित ही करना चाहिए। बकवादी

मनुष्य क्या कर सकता है ? तात्पर्य यह कि कोई पुरुष अभीष्ट का चिन्तन कर रहा है; उसका अभीष्ट यदि किसी को अभिप्रेत न हो तो वह उस विषय में अंटशंट बोलता है तो बोलने दे। उससे किसी प्रकार की हानि नहीं है; क्योंकि वह कुछ कर नहीं सकता।

शास्त्रवासना यथा—यावन्ति शास्त्राणि सन्ति तावन्ति सर्वाण्यहं पठामीति। तच्च दुर्घटम्। वेदशास्त्राणामानन्त्यात् स्वस्य चाल्पायुष्ट्वान्मृत्युकालस्यानियतत्वाच्च। श्रेयस्साधनहानिप्रसक्तेः। न च अध्ययनमात्रेण कश्चित्सिध्यति। अत्र पञ्चदशी—

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषकम्॥ इति।

एकादशस्कन्धे—

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥ इति।

गोविन्दपादाचार्याः—

वेदशास्त्राण्यधीत्यापि किं कृतं जडबुद्धिना।
तेन येन परे तत्त्वे न मनो विनिवेशितम्॥ इति।

शास्त्रवासना इस प्रकार की है—'जितने शास्त्र हैं उन सबको मैं पढ़ता हूँ या पढ़ूँगा'। परन्तु सब शास्त्रों का पढ़ना बहुत कठिन है; क्योंकि वेद-शास्त्र का तो अन्त नहीं पर आयु थोड़ी है तथा मृत्यु का भी कोई निश्चित समय नहीं। इसलिये श्रेयःसाधन की हानि का प्रसङ्ग है। यह भी नहीं है कि केवल ग्रन्थ पढ़ने मात्र से ही कल्याण हो। इसको पञ्चदशीकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—ग्रन्थ का अभ्यास करके साधारण तथा विशेष ज्ञान में तत्पर मेधावी (बुद्धिमान्) पुरुष उसी प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ को छोड़ दे जिस प्रकार धान को चाहनेवाला मनुष्य पुआल को छोड़ देता है।

भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में भी कहा है—पुरुष यदि शब्द-ब्रह्म में तो कुशल हो किन्तु परब्रह्म में कुशल न हो तो उसका श्रम उसी प्रकार निष्फल है जिस प्रकार बाँझ गौ की रक्षा करनेवाले पुरुष का प्रयत्न।

गोविन्दाचार्य ने भी कहा है कि उस मन्दबुद्धि पुरुष ने वेद-शास्त्र को पढ़कर क्या किया जिसने परतत्त्व परमात्मा में अपने मन को नहीं लगाया।

भरद्वाजोऽपि साधिकपुरुषायुषत्रितयं वेदानधीयानोऽप्यपूर्ण इन्द्रेण निवार्य सगुणब्रह्मविद्यामुपदिष्ट इति तैत्तिरीयब्राह्मणे श्रूयते। अतः स्वकार्य-मात्रोपयुक्तमध्ययनं साम्प्रतम्।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ इति भगवदुक्तेः।

भरद्वाज ऋषि, पुरुष की कुछ अधिक तिगुनी आयु तक, वेदों को पढ़कर भी जब अपूर्ण ही रहे—अर्थात् इतने समय में सब विद्याएँ समाप्त नहीं हुई—तब इन्द्र ने उनको रोककर ब्रह्म-विद्या का उपदेश किया। यह उपाख्यान तैत्तिरीय ब्राह्मण में पाया जाता है। इस कारण उतना ही पढ़ना उचित है जितना अपने कार्य के लिये उपयुक्त हो। सरोवर के लबालब भरे रहने पर भी जिस प्रकार प्यासा व्यक्ति उतना ही जल ग्रहण करता है जितने से उसकी पिपासा शान्त होती है, इसी प्रकार विज्ञानी ब्राह्मण वेदों से उतना ही ज्ञान प्राप्त कर ले जितना उसे आवश्यक हो। गीता में यह भगवान् ने कहा है।

सारांश यह कि वेद-विद्या का सम्पूर्ण रूप से अनुष्ठान करना एक जन्म में असम्भव है। इसलिये सार मात्र ग्रहण करना उचित है।

देहवासना यथा—ममायं देहः सौगन्ध्यादियुक्तः सर्वदैव जनैः श्लाघ्यमानः सुन्दरो यथा भवेत्तथैव तत्तद्द्रव्यसंस्कारेणाहङ्करोमीति। तत्त्वाति मौर्ख्यम्। दैवाधीनत्वात्। तादृशदेहाभिमानवतो मन्दमतेस्तस्य यून एव सतः कदाचित् अन्यत्र चिन्तितं कार्यं दैवमन्यत्र चिन्तयेदिति-न्यायेन कश्चिदुग्रो रोग उत्पद्य स्थितमपि रूपं नाशयति।

प्रायश्चित्ताद्विशुद्धिः स्यान्नृणां गोवधकारिणाम्।
देहाभिमानिनां पुंसां प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥

इति स्मृतिमुदाहृत्य नरकपात एव कुयोनिसंसरणं वा केवलं देहाभि-मानफलमित्याह। असुर्या नाम त इति मन्त्रे भाष्यविवरणकारः। अत्र श्रीवासवेया व्याहार्षुः—

सर्व्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः।
शरीरकस्यापि कृते नराः पापानि कुर्वते ॥ १ ॥
यदि नामास्य देहस्य यदन्तस्तद्बहिर्भवेत्।
दण्डमादाय हि जनः शुनः काकांश्च वारयेत् ॥ २ ॥

श्रूयतेऽपि मैत्रायणीशाखायाम्—भगवन्नस्थिचर्म्मस्नायुमज्जामांसशुक्र-शोणितश्लेष्माश्रुदूषिते विण्मूत्रवातपित्तसंघाते दुर्गन्धे निस्सारेऽस्मिञ्शरीरे किं कामोपभोगैः। येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्। यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति।

देहवासना का प्रकार कहते हैं—'मेरा शरीर सुगन्ध आदि पदार्थों से युक्त हो, लोग सदा मेरी प्रशंसा किया करें, मैं जिस प्रकार सुन्दर बनूँ उसी प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओं से संस्कार करके अपने आपको बनाऊँ।' किन्तु यह बड़ी भारी मूर्खता है; क्योंकि सुन्दरता आदि की प्राप्ति दैव के अधीन है। शरीर को ही सब कुछ माननेवाले मन्दमति मनुष्य का, युवावस्था में ही, कभी-कभी प्रकारान्तर से सोचा हुआ कार्य दैववश दूसरे ही रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस न्याय के अनुसार कोई बड़ा रोग उत्पन्न होकर उसके उपस्थित रूप को भी नष्ट कर देता है।

स्मृति में भी कहा है कि गोवध करनेवाले मनुष्य की भी प्रायश्चित्त से शुद्धि हो जाती है किन्तु देहाभिमान रखनेवाले पुरुषों का प्रायश्चित्त ही नहीं है। ऐसे लोगों का नरक में जाना निश्चित है अथवा कुत्सित योनियों में ही उनकी उत्पत्ति होती है। इस देहाभिमान के फल को, "असुर्या नाम ते" इस मन्त्र की व्याख्या करते समय, भाष्यकार के विवरणकार ने कहा है। इसी विषय में श्रीवासवेय ने भी कहा है—सम्पूर्ण अपवित्रताओं के भाण्डार, विनाशी, कृतघ्न शरीर के लिये भी मनुष्य तरह-तरह के पाप करते हैं। इस देह के भीतर जो कुछ हड्डी, मज्जा, रुधिर और मांस है वह यदि बाहर हो तो मनुष्य को लाठी लेकर कुत्ते और कौवे हटाने पड़ें। मैत्रायणी शाखा में भी यह विषय स्पष्ट किया गया है—भगवन्! हड्डी, चर्म, स्नायु, मज्जा, मांस, शुक्र, शोणित, श्लेष्मा, अश्रु, इन सब से दूषित और मल, मूत्र, वायु, पित्त से भरे हुए निःसार दुर्गन्धयुक्त इस शरीर के द्वारा कामों के उपभोगों से क्या लाभ? जिसकी सहायता से मैं कभी मुक्त न हो सकूँ वह शरीर मेरे किस काम का है? जो आप समझें वही मुझे उपदेश करें।

चतुर्थी वासना तु—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥

इत्यादि तत्रैव बहुधा प्रपञ्चिता। सर्वा एता मलिना वासना उच्यन्त इति दिक्।

चौथी वासना इस प्रकार है—'हे अर्जुन! दम्भ, गर्व, अभिमान, क्रोध, वाणी की रूक्षता (गाली), दण्ड की रूक्षता और अज्ञान, यह सब जिन्होंने ग्रहण किये हैं उनकी आसुरी सम्पत्ति है।' गीता के इन सब श्लोकों में आसुरी सम्पत्ति का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। पूर्वोक्त ये सब मलिना वासना हैं। मैंने यहाँ दिग्दर्शन मात्र किया है।

अमूषां चावान्तरभेदप्रपञ्चो वशिष्ठवैदेहीनाथसंवादादाचार्य्यजनकृताकरनिबन्धेभ्यश्च ज्ञातव्यः। वयं तु विस्तरभयाज्जोषमास्महे। अमूभिर्वशीकृतः पुमानधीताध्येयोऽपि स्वार्थाद् भ्रश्यति। स्मरन्ति हि—

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते॥ १॥
ज्ञानवान् वासनाहीनः शान्तिमाप्नोति शाश्वतीम्।
अज्ञानी वासनाऽधीनः क्लेशौघैः परिभूयते॥ २॥

उन वासनाओं के भेदों का विस्तार वशिष्ठ और जानकीपति (राम) के संवाद तथा अन्य आचार्यों के बड़े-बड़े निबन्धों से जानना चाहिए। विस्तार के भय से हम इस विषय में मौन का अवलम्बन करते हैं। पूर्वोक्त वासनाओं के वशीभूत पुरुष, चारों वेदों को पढ़ लेने पर भी, अपने लक्ष्य से गिर पड़ता है। इस विषय में ऋषियों का स्मरण है कि लोक-वासना, शास्त्र-वासना, देह-वासना से प्राणी को यथावत् ज्ञान नहीं होता। ज्ञानवान् पुरुष वासनाहीन होकर सनातन शान्ति को प्राप्त करता है। अज्ञानी पुरुष वासना के वश में होकर अनेक क्लेश भोगता रहता है।

उक्तविधां वासनामभिप्रेत्य श्रूयते बृहदारण्यके—स यथाकामो भवति तथाक्रतुर्भवति यथाक्रतुर्भवति तत्कर्म्म कुरुते यत्कर्म्म कुरुते तदभिसम्पद्यत इति लीलोपाख्याने।

उक्त वासना के विषय में बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है—पुरुष जैसी कामना करता है, वैसा ही सङ्कल्पवाला होता है। सङ्कल्प के अनुसार ही वह कर्म करता है और कर्म के ही अनुसार फल प्राप्त करता है। यह सब लीलोपाख्यान में कहा गया है।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ज्ञानाभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ १ ॥
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा ।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम् ॥ २ ॥

आद्य एवशब्दो भिन्नक्रमः । इदं दृश्यं जगत् अहं च सर्गादौ नोत्पन्नमेवेत्यन्वयः । सृष्टेः पूर्वं नैवासीदित्यर्थः। सदेव सौम्येदमग्र आसीत् । एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेतिच्छान्दोग्यश्रवणात् । सदा सर्गान्तेऽपि न स्यादेव । एकं ब्रह्मैव शिष्यत इति श्रुतेः। तत् ततो हेतोः वर्तमानेऽपि नास्त्येवेत्यर्थः । तज्जगदुर्गौडपादाचार्य्याः—

शुभ वासना द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने के कारण ज्ञान उत्पन्न होता है । उसका अभ्यास जिस प्रकार से किया जा सकता है उसका वर्णन निम्नलिखित है—ब्रह्म का चिन्तन करना, परस्पर सभा में ब्रह्म का ही विचार करना तथा उसी को जानना और उसी में एकनिष्ठ होना—इन्हीं सब को विद्वानों ने ज्ञानाभ्यास कहा है । इसका वर्णन प्रकारान्तर से करते हैं—सृष्टि के आदि में यह जगत् दिखाई नहीं देता और मैं उत्पन्न ही नहीं हुआ, यह जगत् सदा ही नहीं है; यह जगत् है, यह मैं हूँ, इसको विद्वानों ने केवल बोधाभ्यास समझा है। पहला एव शब्द भिन्नक्रम है, अर्थात् अपने स्थान से पृथक् है । ठीक अन्वय करने से अर्थ इस प्रकार है—यह दृश्य जगत् और मैं उत्पन्न हुआ ही नहीं । सृष्टि के आदि में यह जगत् नहीं था । हे सौम्य ! सृष्टि से पहले यह जगत् सत्‌रूप ब्रह्म ही था। ब्रह्म एक और अद्वितीय है, ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। इस प्रकार से छान्दोग्य उपनिषत् में कहा गया है । यह सम्पूर्ण जगत् सृष्टि के अन्त में भी न रहेगा; केवल ब्रह्म ही शेष रह जाता है । ऐसा श्रुति वर्णन करती है । आदि तथा अन्त में जगत् का अभाव होने के कारण उसकी सत्ता वर्तमान में भी नहीं मानी जा सकती, यह अर्थ सिद्ध होता है । आचार्य गौड़पाद का भी यही कहना है—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । इति ।

आभासस्य तत्त्वज्ञानेन सद्यो बाधादिति भावः ।

यदज्ञानादिदं भाति यज्ज्ञानाद्विनिवर्तते ।
नमस्तस्मै चिदानन्दवपुषे परमात्मने ॥ इति भाष्यकारः ।

जो वस्तु आदि और अन्त में नहीं है वह वर्तमान में भी नहीं है। आभासरूप जो जगत् प्रतीत होता है उसका तो तत्त्वज्ञान से शीघ्र ही बाध हो जाता है, यह भाव है। जिस परमात्मा के ज्ञान के अभाव से यह जगत् भासता है और जिसका ज्ञान होने पर निवृत्त हो जाता है, ऐसे उस चिदानन्दमय शरीरवाले परमात्मा को नमस्कार हो। यह सब ज्ञानाभ्यास का विशेष-विशेष आकार है। यह भाष्यकार कहते हैं।

अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुतः।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये तेऽप्यत्राभ्यासिनः स्थिताः॥ ३॥

ज्ञातृज्ञेययोर्मिथ्यात्वबुद्धिरभावसम्पत्तिः। स्वरूपतोऽप्यप्रतीतिरत्यन्ताभावसम्पत्तिस्तस्यामिति विषयसप्तमी। युक्त्या—योगेनेत्यर्थः।

वास्तव में ज्ञाता और ज्ञेय के अत्यन्ताभाव की प्राप्ति होने पर शास्त्र और युक्ति (योग) के द्वारा जो लोग प्रयत्न करते हैं वे सभी यहाँ अभ्यासी कहे गये हैं। ज्ञाता और ज्ञेय इन दोनों में मिथ्याबुद्धि ही अभाव की सम्पत्ति है; इन दोनों का स्वरूप से भी प्रतीत न होना अत्यन्ताभाव की सम्पत्ति है। "तस्याम्" यह विषय सप्तमी है। "युक्त्या" इस पद का 'योगेन' अर्थ समझना।

दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे।
रतिर्घनोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते॥ ४॥ इति।

अध्ययनवतोऽपि वासनाग्रस्तस्य नैतत्सम्भवति, विवेकानुदयात्। इदं सदादेयमिदमसदनादेयमिति विवेचनं हि विवेको नाम। विभज्य निश्चय इत्यर्थः। अस्य परमोपकारकत्वेनात्युत्तमत्वमूचुः पूर्वाचार्य्याः--

उत्पद्यमाना रागाद्या विवेकज्ञानवह्निना।
तदा तदैव दह्यन्ते कुतस्तेषां प्ररोहणम्॥ इति।

दृश्य जगत् के असम्भव ज्ञान द्वारा राग-द्वेष, काम क्रोध आदि के दूर करने के लिये उत्पन्न घनिष्ठ प्रेम ही ब्रह्माभ्यास है। वासना से ग्रसित मनुष्य को, शास्त्रों का ज्ञान रहते हुए भी, तब तक यह ब्रह्माभ्यास सम्भव नहीं है जब तक उसके हृदय में विवेक का उदय नहीं होता। यह सद्वस्तु है, इसे ग्रहण करना चाहिए; यह असत् है, इसको ग्रहण नहीं करना चाहिए—इस विवेचन को विवेक नाम से अभिहित किया गया है। परम उपकारक होने के कारण प्राचीन आचार्यों ने विवेक को अति उत्तम कहा है। यदि उत्पन्न होते

ही रागद्वेषादि को विवेकरूप ज्ञान की अग्नि से जला दिया जाय तो उनका अङ्कुर निकल ही नहीं सकता।

अभ्यासबलादेतादृशि विवेके जाते प्रवृत्तिमार्गे दुःखदर्शनाद्विषयनिगड-निर्विण्णः सत्सङ्गत्या वेदान्तवाक्यश्रवणेन शमदमतितिक्षोपरतिसमाधान-श्रद्धाभिधानषट्साधनानि समभ्यस्य वासनाक्षयमनोनाशौ च सम्पाद्य गुरु-शास्त्रवाक्यदृढविश्वासात्—

निवृत्तं कर्म्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्।
जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत्कर्म्मचोदनाम्॥

इतिशास्त्रमाश्रित्य सर्वमिदं दृश्यं रूपरसाद्यात्मकं जगन्मायारचितत्वा-द्रज्जुभुजङ्गवन्मिथ्यैव वेदतात्पर्य्यवृत्तिप्रतिपाद्यवस्तुभूतवासुदेवशब्दवाच्यं ब्र-ह्मैव सत्यमिति निश्चयाकारं तत्त्वज्ञानं पुरुषः प्राप्नोति। ततश्च तेन हृदि श्रीवासुदेवं विज्ञातुमेव प्रयतितव्यम्।

ब्रह्माभ्यास के बल से सत् और असत् के विचार-रूप विवेक के हो जाने पर प्रवृत्ति-मार्ग में दुःख ही दुःख के होने के कारण विषय-रूप बन्धन की ओर से विरक्त हुआ पुरुष सत्सङ्गति तथा वेदान्त-वाक्यों के श्रवण से शम (बाहर की इन्द्रियों का दमन), दम (भीतर मन को दबाना), तितिक्षा (सहनशीलता), उपरति (विषय से हटना), समाधान (सावधान होना) और श्रद्धा इन छः साधनों का भली भाँति अभ्यास करके, वासना तथा मन का नाश करके, गुरु और शास्त्र-वाक्य में दृढ़ विश्वास रखता हुआ, निवृत्ति-मार्ग के कर्म का सेवन करे; और मुझमें परायण हो प्रवृत्ति-मार्ग के कर्मों के फल का त्याग कर दे। ब्रह्म के विचार में लगा हुआ पुरुष कर्म-विधि का आदर न करे। इस वचन से सिद्ध होता है कि माया से रचा हुआ रूपरसादिस्वरूप यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् रस्सी में सर्प की तरह मिथ्या है। वेद के तात्पर्यबोधक, वस्तु-वाचक, वासुदेव शब्द से प्रतिपादित ब्रह्म ही सत्य है। इस प्रकार निश्चया-त्मक तत्त्वज्ञान के हो जाने पर परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। अतएव प्राणी अपने हृदय में ही श्रीवासुदेव भगवान् को जानने का प्रयत्न करे।

तथा चैते आम्नायामृतरत्नाकरतरङ्गाः—

तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १॥
तमेवैकं विजानीथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ॥ २॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्व्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायेद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ ३ ॥
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीन्महती विनष्टिः ॥ ४ ॥
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ ५ ॥
प्रत्यगात्मस्वरूपप्राप्त्या देवं ज्ञात्वेत्यर्थः ।
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व्वपाशैः ॥ ६ ॥ तरति शोकमात्मवित् ॥ ७ ॥
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ॥ ८ ॥ तमेवं विद्वानमृत इह भवति ॥ ९ ॥

श्रुति-वचनों से भी यही ज्ञात होता है—उस ब्रह्म को ही जानकर मृत्यु को जीत लेता है। मुक्ति के लिये और कोई रास्ता नहीं है। उसी एक आत्मा को जानो, अन्य शब्द-जाल को छोड़ दो। धीर पुरुष उसी ब्रह्म को समझकर ब्रह्मज्ञानी होता हुआ उत्तम ज्ञान का सम्पादन करे। वह शब्दाडम्बर में न पड़े अर्थात् बहुत शब्दों के ध्यान, चिन्तन और स्मरण में लग जाने से ब्रह्म का चिन्तन नहीं हो सकता। ये सब कार्य इन्द्रियों को थकानेवाले हैं, इनसे जीव को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस शरीर के रहते हुए यदि आत्मा को जान लिया तो ठीक है; यदि नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि है। धीर पुरुष अपनी आत्मा में योग के द्वारा दिव्यस्वरूप परमात्मा को जानकर हर्ष-शोक को छोड़ देता है। आत्मा के जानने का अर्थ है सबके भीतर वर्तमान, आत्मस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेना। दिव्यस्वरूप ब्रह्म को भली भाँति जानकर जीव सब पाशों से छूट जाता है। आत्मज्ञानी शोक के पार हो जाते हैं। ब्रह्म को जाननेवाले लोग ब्रह्म ही हो जाते हैं। उस पुरुष को इस प्रकार जाननेवाला यहीं अमृत (स्वर्ग) को प्राप्त हो जाता है।

बृहदारण्यकेऽपि ।

बृहदारण्यक में भी ऐसा ही कहा है।

यदा सर्व्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १ ॥

जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः । कठवल्लीषु च—
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १ ॥
विमुक्तश्च विमुच्यते ॥ २ ॥

अयमर्थः—जीवन्नेव हृद्बन्धनात्कामादेर्विशेषेण मुक्तः सन् देहपाते भाविबन्धाद्विशेषेण मुच्यते विदेहमुक्तिं लभत इति । एवं ध्यानाद्यभियोगेन नित्याभ्यासवतः शनैर्भगवज्ज्ञानलाभो जायते । ततोऽसौ मुदितमनाः पुनः पुनस्तदेव दृढीकरोति । दुर्दैवप्रतिबन्धात्सद्गुरूपसदनालाभेऽपि शास्त्रानुगतया स्वबुद्ध्यैव ज्ञानप्रतिपत्तिर्भवतीति ।

जब मनुष्य के हृदय में रहनेवाली कामनाएँ छूट जाती हैं, तब वह मुक्त हो जाता है। उस समय इसी शरीर में वह ब्रह्म को प्राप्त करता है, अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है।

कठवल्ली में भी कहा है कि नित्यों में नित्य और चेतनों में चेतन, बहुतों के मध्य में एक, परमात्मा प्राणियों की कामनाओं को धारण करता है। जो धीर पुरुष अपने भीतर उस परमात्मा को देखते हैं उनको ही सनातन सुख की प्राप्ति होती है, दूसरों को नहीं। विमुक्त होता हुआ विमुक्त होता है।

इसका यह अर्थ है कि जीवन-काल में ही कामादि बन्धनों से विशेषकर मुक्त होता हुआ देह छूटने पर आनेवाले बन्धन से छूट जाता है और विदेह मुक्ति पाता है। इस प्रकार ध्यानादिकों का तत्परता के साथ बराबर अभ्यास करनेवाले पुरुष को धीरे-धीरे भगवान् के ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उसके बाद वह पुरुष प्रसन्नचित्त होकर बार-बार उसी ज्ञान को दृढ़ करता है। दुष्ट प्रारब्ध के प्रतिबन्ध से सद्गुरु के न मिलने पर भी शास्त्र की अनुगामिनी अपनी बुद्धि के द्वारा ही उसको ज्ञान का लाभ हो जाता है।

विश्वामित्र उवाच।

न राघव तवास्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतां वर ।
स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवानसि ॥
भगवद्व्यासपुत्रस्य शुकस्येव मतिस्तव ।
विश्रान्तिमात्रमेवात्र ज्ञातज्ञेयाऽप्यपेक्षते ॥ इति ।

उपदेशसाहस्र्यां चोक्तम्—

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥ इति ।

ज्ञायते परं तत्त्वमनेनेति ज्ञानम् । ज्ञा अवबोधने । करणे ल्युट् । एवं योग्यतां प्राप्य विश्रान्तबुद्धिरव्यभिचारिणीं भगवति भक्तिं कुर्वन्स्वयं समु-

श्चदनवद्यामन्दनिर्गुणब्रह्मविद्याऽऽनन्दसाम्राज्यलक्ष्मीलीलाविलासमध्यावसति विद्वान् 'ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान' इतिश्रुते: ध्यानस्य नित्यतां विधत्ते सनत्कुमार: ।

रामचन्द्रजी से विश्वामित्रजी कहते हैं—हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ, राघव ! कोई भी ज्ञेय वस्तु आपसे भिन्न नहीं है । एक आप ही ज्ञेय हैं । आप अपनी ही सूक्ष्म बुद्धि से सब वस्तुओं के ज्ञाता हैं । आपकी बुद्धि भगवान् व्यास के पुत्र शुकदेव के समान है । जानने योग्य वस्तुओं की बोधकरूप, आपकी मति इस परमार्थ-विचार में विश्रान्ति की ही अपेक्षा करती है । उपदेशसाहस्री नामक ग्रन्थ में भी इसी प्रकार कहा है—शरीर और आत्मा का ज्ञान पृथक्-पृथक् है अर्थात् देह आत्मा नहीं है, आत्मा देह नहीं है । इस प्रकार का ज्ञान कि 'देह ही आत्मा है' ऐसे ज्ञान का बाधक होता है । 'शरीर और आत्मा भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं' यह ज्ञान जिसे होता है वह मुक्ति न चाहने पर भी मुक्त हो जाता है । जिससे परतत्त्व जाना जाता है वह ज्ञान है । यहाँ करणकारक में ल्युट् प्रत्यय है । इस प्रकार योग्यता को प्राप्त कर जिसकी बुद्धि ने विश्राम को पा लिया है, भगवान् की अविचल भक्ति को करता हुआ वह विद्वान् स्वत: उत्पन्न, निर्दोष निर्गुण ब्रह्म-विद्या के आनन्द की साम्राज्य-लक्ष्मी के लीला-विलास में वास करता है । उसके बाद निरन्तर ध्यान करता हुआ उस निष्कल (पूर्ण) पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है ।

इस श्रुति का आश्रय लेकर सनत्कुमार ने ध्यान के नित्यत्व का प्रतिपादन किया है । भक्ति-द्वारा अन्त:करण की शुद्धि होने पर मनुष्य नित्य ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।

> विष्णोस्तु चरणौ ब्रह्मन्ध्यायेदन्त:शुचि: सदा ।
> ध्याननिष्ठस्य भगवानचिरात्संप्रकाशते ।। इति ।
> कदाऽहं मुक्तमनने पदे परमपावने ।
> चिरं विश्रान्तिमेष्यामि मेरुश्रृङ्ग इवाम्बुद: ।।
> इति चिन्तापरवशो बलादुद्दालको द्विज: ।
> पुन: पुनरुपाविश्य ध्यानाभ्यासं चकार ह ।। २ ।। इति ।

हे ब्रह्मन् ! सदा आभ्यन्तर से शुद्ध होकर विष्णु भगवान् के चरणों का ध्यान करे । ध्यान में निष्ठा रखनेवाले पुरुष को भगवान् शीघ्र ही अनुभूत

होते हैं। वह समय कब आवेगा जब मैं संकल्प-विकल्प छोड़कर भगवान् के परमपावन चरणों में देर तक विश्रान्ति को पाऊँगा, जैसे सुमेरु के शृङ्ग पर मेघ विश्राम करता है। ऐसी ही चिन्ता के परवश हो उद्दालक नाम के द्विज ने आत्म-बल से बार-बार अपने को ब्रह्म में लीन कर अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप में प्रविष्ट होकर ध्यान का अभ्यास किया था।

स्वचर्य्यामन्यस्मै न प्रकाशयेदित्यवोचत्सनत्सुजातः—

नित्यमज्ञातचर्य्येण इति मन्येत वै द्विजः।
ज्ञातीनां तु वसन्मध्ये वेद कश्चिद्धि ब्राह्मणम्॥ १॥
को ह्यल्पतरमात्मानं ब्राह्मणो ज्ञातुमर्हति।
निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्व्वद्वैतविवर्जितम्॥ २॥ इति।

एतच्च वाक्यद्वयमित्थं व्याख्यायते। नित्यमिति। ज्ञातीनां मध्ये त्रै एव नित्यं वसँस्तु अपि द्विजः त्रैवर्णिकोऽधिकारी इति एवं मन्येत। इति किम्। कश्चिद्धि लक्षणाभिज्ञो विद्वानेव ब्राह्मणं ब्रह्मविदम्।

अपने आचरण को दूसरे पर न प्रकट करे ऐसा सनत्सुजात ने कहा है—बन्धु-बान्धवों के समुदाय में सदा पड़े रहनेवाले व्यक्तियों में से कोई विरला ही व्यक्ति आत्मज्ञानी को पहचानने का अधिकारी हो सकता है, सब नहीं; क्योंकि ब्रह्मज्ञानी की चर्य्या (आचरण) अत्यन्त गुप्त रहती है। अतएव ब्रह्मज्ञानी की चर्य्या के मर्मज्ञ विद्वान् को ही ब्रह्मज्ञानी की पहचान होती है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म, समस्त लिङ्गों (परिचायक चिह्नों) से शून्य, अविचल, अविद्यादि दोषों से रहित, अद्वितीय आत्मतत्त्व को पूर्ण रूप से जानना भी वेदज्ञ ब्रह्मज्ञानी के लिये अत्यन्त दुस्तर है।

अत्र स्मृतिः—जननाज्जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते।
वेदाभ्यासाद्भवेद्विप्रो ब्राह्मणो ब्रह्मवेदनात्॥ इति।

सभी मनुष्य जन्म से शूद्र होते हैं; किन्तु संस्कारों के पश्चात् द्विज, वेदों के अभ्यास से विप्र और ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी हो जाते हैं।

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य। न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्। परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्व्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेनेत्यादिषु श्रुतिषु।

ब्रह्मज्ञानी की महिमा बड़ी विलक्षण है; क्योंकि कर्मों के द्वारा प्राप्त होनेवाली उन्नति और अवनति के प्रभाव से वह अपने को अलग रखता है। वह कर्मों के फलस्वरूप लोकों की वास्तविकता (नश्वरता) पर भली भाँति विचार कर निश्चय कर लेता है कि अविनाशी मोक्ष की प्राप्ति नश्वर कर्म के द्वारा कदापि सम्भव नहीं। अत: ब्रह्मज्ञानी वैराग्य की ओर ही अग्रसर होता है। यहाँ पर 'ब्राह्मण' शब्द से ब्रह्मज्ञानी ही अभिप्रेत है।

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशित: ।
यत्र क्वचन शायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदु: ॥

इति वैयासिकवाक्यादौ च ब्रह्मवित्पर एव ब्राह्मणशब्दो न तु जातिमात्रपर:। वेद ब्रह्मविद्यमिति जानाति। न तु सर्वे।

देवता लोग उसी को ब्राह्मण—ब्रह्मज्ञानी—कहते हैं जो अनायास लब्ध वस्त्रादि से अपना शरीर ढँक लेता, समय पर जो कुछ मिल जाय उसी को खा लेता और सोने के लिये स्थान आदि की खोज के फेर में न पड़कर मौज आने पर जहाँ-तहाँ सो रहता है; अर्थात् सच्चा ब्रह्मज्ञानी वही है जो सब प्रकार की आसक्तियों से बचा रहे। इस वैयासिक-वाक्य में भी 'ब्राह्मण' शब्द से ब्रह्म का जाननेवाला ही अभिप्रेत है, जाति मात्र नहीं। ब्रह्म को ब्रह्मज्ञानी ही जानता है, सब नहीं जानते।

ननु कायिकेन वाचिकेन च व्यापारेण सह वर्तमानं कदाचिदन्येऽपि विद्युरेव नेत्याह। अज्ञातचर्येणेति। अज्ञातं पशुबुद्धिभिर्बीभत्साचरितैस्तर्कगोचरीकर्त्तुमशक्यम्। यच्चर्यमाचरणं मानसो व्यापारस्तेनैवेश्वरं भावयन्नित्यर्थ:। एवञ्च पुत्रभ्रात्रादय आप्ता अपि यदि प्राकृतस्वभावास्तर्हि तेभ्योऽपि स्वाचरणमप्रकाशयन् गृह एव वसन्नपि मनसेश्वरपरो निपुणप्रज्ञ: सिद्ध्यत्येवेत्यभिसन्धि:।

शङ्का करते हैं कि शरीर और वाणी के व्यापार के साथ वर्तमान ब्रह्मज्ञानी पुरुष को कभी-कभी दूसरे भी जान ही लेते हैं। उत्तर देते हैं कि नहीं; क्योंकि ब्रह्मज्ञानी अपने आचरण (ईश्वर-चिन्तन) को अत्यन्त गुप्त रखता है अत: पशु-बुद्धि के (अज्ञानी) जीवों के लिये उसका जानना बुद्धि के परे की बात है। मतलब यह है कि निपुणमति ब्रह्मज्ञानी यदि अपने पुत्र और भाई आदि को भी प्राकृत स्वभाव (साधारण कोटि) के समझे तो अपने आचरण

को उनसे भी गुप्त ही रक्खे। ऐसा करने से घर में रहकर भी ईश्वर-चिन्तन करने पर ब्रह्मज्ञानी पुरुष सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

मनसाऽन्यस्य भवति वाचाऽन्यस्याथ कर्मणा।
सङ्कल्पसिद्धः पुरुषः स्वाराज्यमधितिष्ठति॥

इत्यपि तेनैवोक्तम्। मानसिकवाचिककायिका यज्ञाः परमेश्वराराधनरूपाः। तत्र सङ्कल्पेन मानसयज्ञेन सिद्धः। स्वाराज्यं मोक्षम्। सङ्कल्पमधितिष्ठतीति पाठेऽपि स एवार्थः। मोक्षस्यैव तेन सङ्कल्पितत्वात्। तथा चादिपर्वणि।

ब्रह्मज्ञानी पुरुष मन से अन्य (द्वैत-प्रपञ्च से भिन्न) ब्रह्म का होता है। वह वाणी तथा कर्म से भी उक्त ब्रह्म का ही होता है। जिस पुरुष को संकल्पमात्र से सिद्धि प्राप्त हो जाती है वही स्वाराज्य को प्राप्त करता है। "स्वाराज्यमधितिष्ठति" इसके स्थान में "संकल्पमधितिष्ठति" पाठ होने पर भी वही अर्थ है जो "स्वाराज्यं" इत्यादि का है। ब्रह्मज्ञानी के मानसिक, वाचिक तथा कायिक यज्ञ परमेश्वर के आराधना-रूप ही होते हैं। संकल्परूपी मानसिक यज्ञ से वह सिद्ध हो जाता है। "स्वाराज्य" का अर्थ मोक्ष है। महाभारत-आदिपर्व में सङ्कल्प को ही मोक्ष कहा है।

कतरस्तु तयोः पूर्वं देवानामेति सात्मताम्।
उभयोर्द्धावतो राजन्सूर्य्याचन्द्रमसोरिव॥

इत्यष्टकेन पृष्टो ययातिरूचे—

अनिकेतो गृहस्थेषु कामवृत्तेषु सँय्यतः।
ग्राम एव वसन्भिक्षुस्तयोः पूर्वतरं गतः॥ इति।

निकेतोऽत्र सहवासः। एको ग्रामवासी। अन्योऽरण्यवासी तयोरित्यर्थः। भिक्षुरीश्वरनिष्ठो गृह्यपि। तदवादि प्रियव्रतं प्रति श्रीपद्मजन्मना—

राजन्! जो चन्द्रमा और सूर्य के समान दौड़ते हैं, उन दोनों में से पहले कौन देवताओं के स्वरूप को पाता है? अष्टक के इस प्रश्न के उत्तर में राजा ययाति बोले—गृहस्थों में रहते हुए भी अनिकेत (एकान्तसेवी) एक तो ग्रामवासी है और दूसरा अरण्यवासी। इन दोनों में से ग्राम में वास करने पर भी भिक्षु—ईश्वर में निष्ठा रखने के कारण—पहले पहुँचता है, जैसा कि ब्रह्माजी ने प्रियव्रत से कहा है—

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्या-
द्यत: स आस्ते सहषट्सपत्न: ।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य
गृहाश्रम: किन्तु करोत्यवद्यम् ॥ १ ॥ इति ।

वनेष्वपि वनाद्वनान्तरं गच्छतोऽपीत्यर्थ: । अवद्यं रागादिदोषपारवश्यं न करोत्येवेत्यर्थ: । तादृशस्यात्मारामत्वाव्यभिचारादिति भाव: ।

षड्रिपुओं (काम, क्रोध, मद, लोभ, अहङ्कार तथा मात्सर्य्य) के चक्कर में पड़ा हुआ व्यक्ति जङ्गलों में भटकते रहने पर भी पूर्वोक्त कामक्रोधादि षड्रिपुओं के प्रभाव से नहीं बच सकता, क्योंकि वह असावधान है; किन्तु जो गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी इन्द्रियों को वश में कर लेता है वह ज्ञानी व्यक्ति, आत्मानन्द में निरन्तर मग्न रहने के कारण, कामक्रोधादि-जन्य रागद्वेषादि दोषों से बच जाता है अर्थात् जितेन्द्रिय ज्ञानी व्यक्ति की साधना में कामक्रोधादि के द्वारा किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती ।

चर्येण इतीत्यत्र पादान्ते सन्ध्यभावो न विरुद्ध इति दीक्षितै: प्रपञ्चितं शब्दकौस्तुभे ।

"नित्यमज्ञातचर्येण इति मन्येत वै द्विज:" इस पद्य में णकार में अकार और इतिवाला इकार इन दोनों में गुण होकर 'णेति' होना चाहिए, इसका उत्तर देते हैं कि पादान्त में सन्धि नहीं होती इस वास्ते सन्धि का न होना कोई विरुद्ध नहीं है । दीक्षितजी ने इसका विचार 'शब्दकौस्तुभ' में विस्तारपूर्वक किया है ।

कश्चिद्धि ब्राह्मणमित्यत्र द्धिकारगौरवे छन्दोभङ्गभिया तल्लाघवाय ब्राकारो लघुप्रयत्नतर उच्चारणीय इत्येकोऽर्थ: ।

"कश्चिद्धि ब्राह्मणम्" इस श्लोक में 'द्धि' अक्षर संयुक्त अक्षर के पूर्व होने के कारण गुरु है किन्तु छन्द:शास्त्र के नियमानुसार इसे लघु होना चाहिए क्योंकि अनुष्टुप् छन्द के प्रत्येक चरण का पाँचवाँ अक्षर लघु होता है । अत: छन्दोभङ्ग दोष से बचने के लिये 'ब्राह्मण' शब्द के 'ब्रा' को अति लघु प्रयत्न से उच्चारण करना चाहिए । जिसमें जिह्वा का अग्रभाग, मध्य तथा मूल शिथिल हो जाय वह लघूच्चारण है, इस प्रकार "नित्यमज्ञातचर्येण" का एक अर्थ हुआ ।

यद्वा ज्ञातीनां मध्य एव अज्ञातचर्येण नित्यं वसन्नपि द्विज इति मन्येत । किम् कश्चिद्धि अयं मत्स्वरूपज्ञानवान्भवतादिति परमेश्वरेण

सङ्कल्पित एव पुमान् ब्राह्मणं ब्रह्मैव ब्राह्मणम्। प्रज्ञादेराकृतिगणत्वादण् स्वार्थे। वेद गृह एव वसन् बहिर्व्यवहरन्नपि स महाभागो हृदये निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनमित्यादिश्रुतिबोधितमानन्दरूपं ब्रह्मैव वेत्ति न त्वन्यत्किञ्चित्। विवेकशालित्वादित्यर्थः।

अथवा द्विज (आत्मज्ञानी) बन्धु-बान्धवों में रहने पर भी अपना व्यवहार इस प्रकार का रक्खे जिससे अन्य व्यक्ति उसकी चर्या (आचरण) का पता न पा सके। वह अपने हृदय में यह भी अनुभव करे कि भगवान् जिस प्राणी को अपने स्वरूप-ज्ञान का शुभाशीर्वाद देते हैं वह भाग्यवान् प्राणी घर में रहने तथा बाह्य (लौकिक) व्यवहारों को करते रहने पर भी विवेक-प्राप्ति हो जाने के कारण अपने हृदय-मन्दिर मे निर्गुण, निष्क्रिय, निर्दोष, निष्कल, निरञ्जन, शान्त-स्वरूप, आनन्दघन परब्रह्म का ही अनुभव करता है। उसके हृदय में किसी अन्य वस्तु के जानने की इच्छा ही नहीं उत्पन्न होती।

ब्रह्म ही ब्राह्मण है, प्रज्ञादि गण में ब्रह्म शब्द का पाठ मानकर उससे स्वार्थ में अण् प्रत्यय होता है। जो ब्रह्मन् शब्द का अर्थ है उसी अर्थ में अण् होता है, अतः जो ब्रह्म शब्द का अर्थ है वही ब्राह्मण शब्द का।

यथा समानजन्मनां मध्ये त्वमेक एवैतादृशो ज्ञानी विंशतिरेते तवानुजास्तु नेदृशा इति कोऽत्र हेतुरिति भगवता वशिष्ठेन पृष्टः काकभुशुण्डोऽभणत्—

सङ्कल्प ईश्वरस्यायमीदृशो मुनिनायक।
मयैवैतादृशा भाव्यं नान्यैर्भाव्यं कदाचन॥

इति द्वितीयोऽर्थः।

एक बार वशिष्ठजी ने काकभुशुण्डजी से पूछा कि आपमें तथा आपके अन्य बीस भाइयों में जन्मतः तो कोई अन्तर है नहीं फिर आप तो सर्व-श्रेष्ठ आत्मज्ञानी हो गये और आपके भाई कोरे ही रह गये। यह क्यों? काकभुशुण्डजी ने कहा कि मुनिवर! ईश्वर की ऐसी ही इच्छा थी कि मैं ही आत्मज्ञानी बनूँ अतः मैं तो ईश्वर की इच्छा के अनुसार आत्मज्ञानी बना और मेरे अन्य भाई वैसे ही रह गये। जब भगवदिच्छा नहीं थी तब वे आत्मज्ञानी किस प्रकार हो सकते थे! "नित्यमज्ञातचर्येण" यहाँ से "वेद कश्चिद्धि ब्राह्मणम" यहाँ तक श्लोक का द्वितीय अर्थ किया गया है।

पूर्वोक्तमर्थं दृढीकर्तुमाह । को हीति । को हि कश्चिदेव विपश्चिदपश्चिमो ब्राह्मणो ब्रह्मज्ञः आत्मानं भगवन्तं आत्मा वै नारायण इति श्रुतेः ज्ञातुमर्हति । नान्यः सामान्यबुद्धिः । आत्मनो दुर्ज्ञेयत्वादिति भावः । तदेव दर्शयति । अल्पतरमिति ।

(को ह्यल्पतरमात्मानं ब्राह्मणो ज्ञातुमर्हति ।
निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वैतविवर्जितम् ॥)

"को हीति" इस श्लोक में "को हि" पद का अर्थ करते हैं—विद्वानों में भी कोई आत्मज्ञानी विद्वान् ही भगवान् को जान पाता है। आत्मा को भगवान् कहते हैं। 'आत्मा साक्षात् नारायण है', इस श्रुति प्रमाण से सिद्ध होता है कि आत्मा को नारायण कहते हैं। साधारण बुद्धि के लोग आत्मा को नहीं जान सकते क्योंकि आत्मा का जानना अत्यन्त कठिन है। "अल्पतरम्" इस श्लोक से दुर्विज्ञेयता को ही कह रहे हैं—

अतीव सूक्ष्ममित्यर्थः । आकाशवत्सर्वगतं सुसूक्ष्मम् । अणोरणीयान्महतो महीयानिति च श्रुतेः । अस्यैव प्रपञ्चः निर्लिङ्गमित्यादि । यदगदद्गजेन्द्रः । न स्त्री न षण्ढो न पुमान्न जन्तुरिति । स्पष्टमन्यत् । अतः आत्मवान् स्वीयानामपि जडानामुपदेशादिनिर्बन्धं चित्तविक्षेपहेतुत्वेन मलिनवासनारूपत्वाज्जह्यादेव । उपदेशकोटिभिरपि कुटिलप्रकृतेः पटूकर्तुमशक्यत्वात् । न हि शुनःपुच्छो वर्षपूगप्रयत्नेनापि केनचित्सरलीकर्तुं शक्यः गीतं हि गीतासु ।

वह आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म और आकाश के समान सर्वव्याप्त है, वह अणु से भी अणु और बड़ी से बड़ी है, ऐसा श्रुति का वचन है। इस श्रुति-वचन की ही 'निर्लिङ्गम्' इत्यादि में व्याख्या की गई है। "अचलं शुद्धम्", "सर्वद्वैतविवर्जितम्" इन विशेषणों से दुर्ज्ञेयता का ही विस्तार किया है; क्योंकि जिसका कोई चिह्न नहीं, जो अचल और शुद्ध है तथा सम्पूर्ण द्वैतों से रहित है, उसका ज्ञान किस प्रकार हो सकता है। गजेन्द्र ने भी स्तुति करते हुए ऐसा ही कहा है—भगवन् ! आप न तो स्त्री हैं और न नपुंसक तथा पुरुष ही; हम आपको साधारण जीव नहीं कह सकते। इसी कारण आत्मज्ञानी लोग अपने जड़ बुद्धिवाले बन्धु-बान्धवों को भी उपदेश नहीं करते क्योंकि उनको उपदेश देने के फेर में पड़कर विक्षेप के कारण चित्त मलिन

वासना-रूप हो जाता है। करोड़ों उपदेशों से भी कुटिल प्रकृति के व्यक्ति को सुमार्ग पर लाना असम्भव है। इसलिये जड़मति व्यक्ति को उपदेश न करना चाहिए। कुत्ते की पूँछ वर्षों तक प्रयत्न करने पर भी सीधी नहीं की जा सकती, यही बात गीता में भी कही गई है।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किङ्करिष्यति। इति।

यस्मादीश्वरेण सङ्कल्पित एव पुरुष ईश्वरं वेत्ति तं विदित्वैव सर्व-दुःखातिगो भूत्वा नित्यानन्तपरमसुखशेवधिमहाराजधानीमध्यास्ते। तस्मात्सद्वस्तुन्यध्यवसितबुद्धिभिर्यत्र कुत्रापि वसद्भिः सद्भिः परमेश्वरनिष्ठैरेव भवितव्यमिति लब्धवर्णगणाग्रणीचूडामणीनां निर्णय इति सनत्सुजातीय-पद्यद्वयार्थतात्पर्यम्।

सभी प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार कार्य करते हैं, ऐसी दशा में उन पर 'निग्रह' अपना प्रभाव डाल सकेगा यह सम्भव नहीं।

ईश्वर की इच्छा होने पर ही प्राणी उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकता तथा उसको जानकर ही समस्त क्लेशों से छुटकारा पा सकता है और सभी नित्य, अनन्त, परमानन्दरूप ब्रह्म को पाकर शाश्वत शान्ति का उपभोग कर सकता है। अतः बड़े-बड़े विद्वानों का अन्तिम निर्णय यही है कि विवेकी पुरुष जहाँ कहीं भी रहें, सर्वदा भगवद्भक्ति में तत्पर रहें। सनत्सुजात के पूर्वोक्त दोनों श्लोकों का यही निष्कर्ष है।

खलेषु ब्रह्मवादं गोपायेदित्यत्रादिषुर्वेदप्रकाशकाः।
अज्ञस्यार्द्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः॥ इति।

स्वयमपि।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्व्वकर्म्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

बुद्धिभेदं कर्म्मासक्तानां ब्रह्मोपदेशेन कर्म्मतो विचालनम्। सर्वाणि नित्यनैमित्तिकानि सेवयेत् मन्दान्कर्म्मैव कारयेदित्यर्थः। अन्तरनुत्पन्न-भक्तिज्ञानानां कर्म्मत्यागे पतनमेव स्यादिति भावः।

वेदों के प्रकाशक विद्वानों ने कहा है कि खलों से ब्रह्मवाद की रक्षा करना चाहिए, अर्थात् वेदान्त का उपदेश अज्ञों को न करना चाहिए। अल्पज्ञ और

अथवा अनधिकारियों के शम, दम, तितिक्षा और उपरति से युक्त न होने पर भी उनको जो व्यक्ति ब्रह्मोपदेश देता है वह घोर नरकों में गिराया जाता है, अतः कर्मों में लगे हुए अज्ञानियों में बुद्धि-भेद उत्पन्न न करना चाहिए। स्वयं युक्त आचरणों को करते हुए विद्वान् उनको कर्मों में ही लगावे। कर्मों में आसक्त पुरुषों को कर्म से हटा देना ही बुद्धि का भेद है, अर्थात् उन्हें नित्य नैमित्तिक कर्मों में परायण बनावे। मतलब यह है कि अज्ञानियों से कर्म ही करावे। जिनके अन्तः-करण में भक्ति और ज्ञान नहीं है उनको कर्म के त्यागने में पाप ही लगता है।

तदेतदेवाभिप्रेत्य तृतीयस्कन्धे—

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम्॥ १॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसां निश्श्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥ २॥

योगिनोऽत्र भगवद्भक्ताः सर्वेऽपि। न तु यतय एवेत्याग्रहः। मानाभावात्। भगवदेकपरत्वमेव योग इति कृतमुख्यमुख्यैर्व्याख्यातत्वात्। एवमकुर्वतां गृहस्थादीनामपि नित्यसंसारित्वेन सन्तापो दुरन्तः। मृत्वा पुनर्मृत्युमापद्यन्ते अद्यमानाः स्वकर्मभिराशातिकाः कृमय इवेति श्रुतेः।

ब्रह्मज्ञान के अनधिकारी को ब्रह्मोपदेश नहीं करना चाहिए इसी अभिप्राय को लेकर श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में भी कहा है—भगवान् कहते हैं कि योगी (मेरे भक्त) लोग अपने कल्याण के लिये ज्ञान-वैराग्य समेत भक्तियोग द्वारा मेरे उन चरणकमलों की शरण लेते हैं जहाँ सब प्रकार के भयों से छुटकारा मिल जाता है। जीवों का प्रबल भक्तियोग की सहायता से अपने मन को पूर्ण रूप से मुझमें अर्पित कर देना ही वास्तविक कल्याण की प्राप्ति (मुक्ति) है। यहाँ पर योगी शब्द से सब प्रकार के भक्तों का ग्रहण करना चाहिए, न कि केवल यतियों का; क्योंकि बड़े-बड़े विद्वान् व्याख्याकारों ने योग शब्द का मुख्यार्थ 'भगवत्परायणता' माना है और भगवत्परायण सभी हो सकते हैं, अतः योगी शब्द को केवल यतिपरक मानने में कोई प्रमाण नहीं। अतएव जो लोग भक्ति-योग से पराङ्मुख हो बैठते हैं वे यति हों अथवा गृहस्थाश्रमी, सब के सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार जन्म-मरण के प्रवाह में पड़े रहकर आशातिकाओं (छोटे-छोटे कीड़ों) के समान दुरन्त दुःख भोगते रहते हैं।

यतिस्तु पुनरेवमकुर्वन्कुक्षिम्भरिरुभयाश्रमधर्म्मविदूषकत्वेन भ्रष्टत्वादाकल्पं नरकेषु पच्यत इति परमहंसोपनिषदि ।

किन्तु यदि संन्यासी पेट भरने के फंर में पड़कर भगवद्भजन से पराङ्मुख होता है तो वह, गृहस्थाश्रम तथा संन्यास को दूषित करने के कारण, भ्रष्ट होने से कल्पपर्यन्त अनेक नारकीय क्लेशों को भोगता है, यह परमहंसोपनिषत् में कहा है ।

काष्ठदण्डो धृतो येन सर्व्वाशी ज्ञानवर्ज्जितः ।
स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञकान् ॥
तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्ज्जितः ।
भिक्षामात्रेण यो जीवेत्स पापी यतिवृत्तिहा ॥२॥ इति श्रूयते ।

परिव्राड् ज्ञानहीनस्तु चाण्डालीं योनिमाविशेदिति शातातपेनापि स्मर्यते । वेदस्तुतौ च । यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा इत्यत्र कामजटाशब्दवाच्या वासना एव । यतय इत्युपलक्षणम् । भगवन्मार्ग्गप्रवृत्ताः सर्वेऽपीत्यर्थः । यदि नोत्पाटयन्ति तर्हि तेषामुभयतोऽप्यसुखमिति वाक्यशेषः । यतिग्रहणं तु तस्योभयतः पाशा रज्जुरिति न्यायेन गत्यन्तराभावज्ञापनार्थम् । ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्था हि ज्ञानाभावेऽपि तीर्थव्रतजपार्चनयज्ञदानादिना धर्मं निष्पाद्य भौमं दिव्यं वा विषयसुखमपि तावद्भुञ्जते सकामाः । निष्कामास्तु चित्तशुद्धिद्वारा मोक्षमेव साधयन्ति । सन्न्यस्तकर्मत्वेनानधिकारिणो यतेस्तु नैतत्किर्यपि । किन्तु योग एव ।

जिसने काष्ठदण्ड को धारण किया है और जो खाने-पीने का विचार न रखकर जहाँ से, जो कुछ भी मिल जाय सभी खा लेता है, किन्तु ज्ञान से रहित है वह संन्यासी महारौरव नामक घोर नरकों को पाता है । जो व्यक्ति परिव्राट् होने पर भी तितिक्षा (सहनशीलता), ज्ञान, वैराग्य और शम आदि गुणों से रहित है, वह यतियों की वृत्ति का नाश करनेवाला और पापी है । ज्ञानहीन संन्यासी का चाण्डाल की योनि में जन्म होता है, यह शातातप मुनि ने अपनी स्मृति में कहा है । वेद-स्तुति में व्यासजी ने भी कहा है कि यति लोग यदि अपने हृदय से काम-वासनाओं को दूर नहीं करते तो उनको दोनों लोकों में दुःख ही दुःख होता है । 'यति' यह पद उपलक्षण है

अत: यहाँ पर 'यति' शब्द से भगवद्भक्त मात्र का ग्रहण करना चाहिए, यति मात्र का नहीं। यहाँ विशेष करके 'यति' ग्रहण करने का फल यह है कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ को ज्ञान के अभाव में भी तीर्थ, व्रत, जप, पूजा, यज्ञ तथा दान आदि द्वारा धर्म का सम्पादन करना चाहिए—ज्ञान-प्राप्ति से पहले वे चाहें तो भौम या दिव्य विषयों को भोग सकते हैं। यदि निष्काम होकर जपादिक करें तो चित्त-शुद्धि के द्वारा मोक्ष पाते हैं। 'दोनों तरफ फन्दावाली रस्सी' इस न्याय के अनुसार अनधिकारी यति के हाथ तो कुछ भी नहीं लगता; क्योंकि वह अपने धर्म से च्युत होने के कारण भौम और दिव्य भोगों से वञ्चित रहा तथा योग से उत्पन्न ज्ञान न होने के कारण उसे ब्रह्म भी नहीं मिला। अत: संन्यासी को योग ही का साधन करना चाहिए। तभी वह ज्ञानी होकर ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति पातञ्जलं सूत्रम्। तत्र विविदिषोर्ज्ञानाभ्यासो मुख्यः। विदुषस्तु समाधिरेव। ज्ञानाभ्यासः प्राग्दर्शितः। योगशास्त्रे समाधिमसूत्रयन्महाभाष्यकाराः। सर्व्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिः परिणाम इति। रजोगुणेन चाल्यमानं चित्तं क्रमेण सर्वान् अर्थान् गृह्णाति तस्य रजोगुणस्य निरोधाय योगिना क्रियमाणेन प्रयत्नविशेषेण दिने दिने सर्वार्थता क्षीयत एकाग्रता चोदेति। तादृशचित्तस्य परिणामः समाधिरुच्यत इति सूत्रार्थः। स च द्विविधः। सविकल्पनिर्विकल्पभेदात्। आद्यः सम्प्रज्ञात इत्युच्यते। द्वितीयोऽसम्प्रज्ञात इति। तौ लक्षितौ योगशास्त्रे—

चित्तवृत्ति का निरोध—चित्त को सब स्थानों से हटाकर एक जगह ठहराना—ही योग है। विविदिषु (परमात्मा को जानने की इच्छा रखनेवाले) पुरुष के लिये ज्ञान का अभ्यास करना मुख्य कर्तव्य है। परन्तु विद्वान् के लिये समाधि ही मुख्य है। ज्ञानाभ्यास पहले कह चुके हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलिजी ने योगशास्त्र में समाधि का लक्षण यह दिया है—रजोगुण के प्रभाव से चलायमान चित्त क्रम से सब अर्थों को ग्रहण करता है, अत: उस रजोगुण के निरोधार्थ यदि योगी पूरा-पूरा प्रयास करे तो उसके चित्त की सर्वार्थग्रहण-विषयक शक्ति क्षीण हो जाती और उसमें एकाग्रता आ जाती है। इस प्रकार के चित्त-परिणाम को समाधि कहते हैं। सविकल्पक

और निर्विकल्पक भेद से समाधि दो प्रकार की है—पहली सम्प्रज्ञात और दूसरी असम्प्रज्ञात। योगशास्त्र में इन दोनों के लक्षण दिखलाये गये हैं—

ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहङ्कृतिं विना।
सम्प्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षजः॥ १॥
मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः।
याऽसम्प्रज्ञातनामाऽसौ समाधिरभिधीयते॥ २॥ इति।

तस्य द्वितीयसमाधिं प्राप्तस्य मुनेर्ऋतम्भरा नाम प्रज्ञोदेति। सा च ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञेति सूत्रिता। तत्र तस्मिन्समाध्युत्कर्षजन्येऽध्यात्मप्रसादे सति ऋतं सत्यं वस्तुयाथात्म्यं बिभर्ति प्रकाशयतीति ऋतम्भरेति सूत्रार्थः। ततश्च कृतार्थोऽसावात्मविद्विभ्रष्टसकलद्वैतविभ्रमोऽद्वितीयतुरीयानन्दपदे निमज्जति।

अहङ्कार-शून्य, ब्रह्माकार मनोवृत्ति के प्रवाह का नाम 'सम्प्रज्ञात' समाधि है। वह ध्यान के प्रबल अभ्यास के द्वारा उत्पन्न होती है। मन की वृत्ति-शून्य ब्रह्मस्थिति का नाम 'असम्प्रज्ञात' समाधि है। इसी असम्प्रज्ञात समाधि के पारङ्गत ऋषि को 'ऋतम्भरा' नाम की प्रज्ञा प्राप्त होती है। असम्प्रज्ञात समाधि के उत्कर्ष से उत्पन्न आत्मान्तरप्रसाद (आत्मा में होनेवाली प्रसन्नता) के प्राप्त हो जाने पर वह वस्तु के यथावत् रूप को प्रकाश कर देती है; इसी लिये उसका नाम 'ऋतम्भरा' है। आत्मा के प्रसाद के प्राप्त होने पर कृतार्थ आत्मज्ञानी सम्पूर्ण द्वैतों से मुक्त होकर अद्वय तुरीयावस्था के आनन्द में निमग्न हो जाता है।

विराड् हिरण्यगर्भश्च कारणं चेत्युपाधयः।
त्रिभिरेभिर्विहीनं यत्तुरीयं तत्पदं विदुः॥ १॥
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्य्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥ २॥ इति।

विराट्, हिरण्यगर्भ, कारण, ये तीन उपाधियाँ ब्रह्म के साथ रहती हैं। वह ब्रह्म स्थूल उपाधि के साथ रहने से विराट्-रूप तथा सूक्ष्म उपाधि के साथ रहने से हिरण्यगर्भ-रूप और माया उपाधि के साथ रहने से ईश्वर कहा जाता है। इस प्रकार इन उपाधि-भेदों से ब्रह्म तीन प्रकार का है। उपाधियों से रहित पद का नाम 'तुरीय' है। बुद्धि, इन्द्रिय, मन, प्राण, यह सब माया के

कार्य हैं। तात्पर्य यह है कि माया दो प्रकार की है—एक शुद्धा, दूसरी अशुद्धा। निर्मल जल के समान स्वच्छ माया का नाम शुद्धा माया है और गँदले पानी के समान अस्वच्छ माया को अशुद्धा माया कहते हैं। शुद्धा माया का दूसरा नाम विद्या और अशुद्धा का नाम अविद्या भी है। विद्या-शबल ब्रह्म को 'ईश्वर' और अविद्या-शबल ब्रह्म को 'जीव' कहते हैं। यदि कार्य-कारण-भाव (विद्या-अविद्या-रूप) का परित्याग कर दिया जाय तो केवल पूर्ण-बोध ब्रह्म स्वरूप ही शेष रह जाता है।

तादृशयोगिनोऽनुभवनीयमाह नारद: सप्तमस्कन्धे—

पश्येदात्मन्यदो विश्वं परे सदसतोऽव्यये।
आत्मानं च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये॥

पूज्यपादाश्च—

नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्परम्ब्रह्माहमेव तत्॥

इत्येवं चिन्तयेदिति प्रकरणार्थ:।

उक्त सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात योगियों के अनुभवनीय पदार्थ का निरूपण भागवत के सप्तम स्कन्ध मे नारदजी इस प्रकार करते हैं—योगी लोग सदा सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त को परब्रह्म में तथा स्थूल, सूक्ष्मरूप जगत् में व्यापक परब्रह्म-रूप आत्मा को देखते हैं; अत: उसी का सदा चिन्तन करे। पूज्यपाद अन्य विद्वानों ने भी कहा है कि नित्य, शुद्ध, विमुक्त, अखण्ड, आनन्दमय, अद्वितीय, सत्यज्ञान-स्वरूप अनन्तरूपी ब्रह्म मैं ही हूँ। भाव यह है कि भक्तगण इसी प्रकार भगवान् का चिन्तन करें।

उपदेशसाहस्र्यां दृशिप्रकरणेऽपि त एवाहु:—

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्व्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्त:॥ ओमिति।

उपदेशसाहस्री नामक ग्रन्थ में, दृशि (ज्ञान) के प्रकरण में, उन्हीं पूज्य-पाद आचार्यों ने कहा है कि वह ब्रह्म अक्षर (अविनाशी), ज्ञान-स्वरूप, आकाश के सदृश व्यापक, अजन्मा, सब से परे, निर्लेप, सर्वत्र व्याप्त, अद्वितीय और एक बार प्रकाशित होनेवाला है। अर्थात् जब तक अज्ञान-तिमिर तथा अविद्यारूप कारण-शरीर का नाश नहीं होता, तब तक ब्रह्म का प्रकाश नहीं

होता है। जब अविद्यारूपी तिमिर नष्ट हो जाता है तब ब्रह्म का एक साथ प्रकाश हो जाता है। वह नित्य है, इसी लिये उसको 'सकृत् प्रकाश' कहते हैं। यदि विनाशी होता तो विद्यमान दशा में प्रकाशित कहा जाता (विद्यमान दशा में प्रकाशित नहीं कहा जाता) और यदि पुनः उत्पन्न होता तो अपनी विद्यमान दशा में पुनः प्रकाशित कहा जाता। फलतः ब्रह्म इस तरह यदि प्रकाशित होता तो 'असकृद्विभात' कहा जाता, जैसे कि घटपटादि हैं। किन्तु वह वैसा नहीं है, अतः 'सकृद्विभात' ही है। वह माया-प्रपञ्च से विमुक्त है और वह ब्रह्म मैं ही हूँ। 'ओ३म्' पद का वाच्य वही है।

श्रुतिरपि—यः पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवतीति।

श्रुति भी कहती है कि जीव और ब्रह्म एक ही है—जो पूर्ण आनन्दमय एकबोध स्वरूप ब्रह्म है वह मैं हूँ। जो व्यक्ति यह अनुभव कर लेता है वह कृतकृत्य हो जाता है, अर्थात् वह सब कुछ कर चुका, उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता।

वशिष्ठः—

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥ इति।

एवंभूतः साधकः सचित्तोऽप्यचित्त इव सचक्षुरप्यचक्षुरिव सकर्णोऽप्यकर्ण इव विज्ञोऽप्यज्ञ इव प्रबुद्धोऽपि निद्राण इव जनैर्लक्ष्यमाणो—

निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपजायते।
तं भावं भावयन् राम को न मुच्येत बन्धनात्॥

इत्यापवोक्तदशापन्नः सद्य इहैव किमपि ब्रह्मरसायनमास्वदते।

वशिष्ठजी ने भी कहा है कि जिसका सांसारिक विकार (वासना) शान्त हो गया है, अर्थात् जो संसार के झमेलों को छोड़कर ब्रह्मपरायण हो चुका है, वह व्यवहार-दृष्टि से सांसारिक होने पर भी सांसारिक विकारों से परे है और जो व्यावहारिक दृष्टि से मानसिक क्रियाओं को करते हुए भी उनके प्रभाव से बचा रहता है ऐसे ज्ञानी पुरुष को वास्तव में जीवन्मुक्त कहना चाहिए। इस प्रकार का साधक समस्त इन्द्रियों के विकारों से अलिप्त रहने के कारण, सर्वसाधारण की दृष्टि में आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों के रहते हुए भी उनसे रहित, ज्ञानवान् होने पर भी अज्ञानी, जागते हुए भी सोया हुआ,

और मन के बने रहने पर भी बिना मन का सा समझा जाता है किन्तु वह 'मेरे सम्बन्ध में लोगों की क्या धारणा है, वे मुझे कैसा समझते हैं' इन तुच्छ बातों पर ध्यान ही नहीं देता; वह तो आत्म-चिन्तन की मस्ती में मस्त रहता है। 'प्यारे राम ! सोने से पहले और जागने के पश्चात् मनुष्य के हृदय में जो भावनाएँ उठती हैं उनको यदि हृदयङ्गम कर ले तो वह सब बन्धनों से छुटकारा पा जाय।' वशिष्ठजी के इस कथन के अनुसार जो व्यक्ति उक्त अवस्था में पहुँच जाता है वह इसी शरीर में अत्यन्त अपूर्व ब्रह्मानन्दरूपी रसायन का स्वाद ले सकता है।

यदनुभवन्समाधेर्व्युत्थाय वृन्दारकवृन्दवन्दितपदनन्दनः कश्च एकाकीमां गिरं गद्गदामुदाचचार—

इत आत्मा ततश्चात्मा सर्वमात्ममयं जगत्।
न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न यन्मयि ॥ इति।

तस्य गीरगोचरतां स्मरति दक्षप्रजापतिः—

स्वसंवेद्यं सुखं तद्धि कुमारी स्त्रीसुखं यथा।
अयोगी नैव जानाति जात्यन्धो हि यथा घटम् ॥

श्रुतिश्च भवति—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते निर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥ इति।

समाधि-अवस्था में ब्रह्मानन्द का आस्वाद अनुभव करनेवाले, देवताओं द्वारा वन्दनीय, सर्वजनप्रिय, एकान्तसेवी किसी आत्मज्ञानी ने समाधि से उठने पर ब्रह्मानन्दविभोर होकर गद्गद स्वर से कहा भी है कि 'मैं जिधर दृष्टि डालता हूँ उधर ही परब्रह्म को पाता हूँ अथवा यही क्यों समस्त विश्व ही आत्ममय है, आत्मा ही सर्वत्र ओत-प्रोत है। ऐसी कोई वस्तु ही नहीं दिखाई देती जिसमें मेरी सत्ता न हो या जो मुझमें न हो।'

दक्ष प्रजापति भी ब्रह्म की अगोचरता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ब्रह्मानन्द अनुभव की वस्तु है, कहने की नहीं। भला बेचारी बालिका सुरत-सुख को क्या जाने। इसी प्रकार ब्रह्मानन्द का अनुभव योगियों को ही हो सकता है, दूसरों को नहीं। घट-पट आदि पदार्थों को आँखोंवाले देख सकते हैं

परन्तु जन्मान्ध नहीं। श्रुति भी ऐसा ही कहती है—समाधि द्वारा निर्मल हुए मन को आत्मचिन्तन में तल्लीन कर देने से जिस अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है उसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं किया जा सकता। उसका अनुभव तो मनुष्य अन्तःकरण द्वारा ही कर सकता है।

तस्याभिमानाभावं नैष्कर्म्यसिद्धावूचुः सुरेश्वराचार्याः—

न चाध्यात्माभिमानोऽपि विदुषोऽस्त्यासुरत्वतः।
विदुषोऽप्यासुरश्चेत्स्यान्निष्फलं ब्रह्मदर्शनम्॥ इति।

तं पुना रागादयो नाभिभवन्तीति गद्यते योगवाशिष्ठे—

न केचन जगद्भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयन्त्यमी।
नागरं नागरीकान्तं कुग्रामललना इव॥

तस्य दृष्टादृष्टबाधप्रसङ्गोऽपि नास्तीति श्रूयते कौषीतकिब्राह्मणे। नास्य केनापि कर्मणा लोको हीयते। न मातृवधेन। न पितृवधेन। न स्तेयेन। न भ्रूणहत्ययेति।

गीतास्वपि—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

आर्यापञ्चाशीत्यां श्रीशेषोऽप्यभाषत—

हयमेधशतसहस्राण्यथ कुरुते ब्रह्मघातलक्षाणि।
परमात्मविन्न पुण्यैर्न च पापैर्लिप्यते विमलः॥ १॥

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम्।
ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः॥ २॥

ब्रह्मज्ञानी अभिमान से सर्वथा मुक्त हो जाता है, इस बात को सुरेश्वराचार्य ने अपने नैष्कर्म्यसिद्धि नामक ग्रन्थ में कहा है—'ब्रह्मज्ञानियों में अभिमान नाम-मात्र को भी नहीं रहता; क्योंकि अभिमान आसुरी भाव है। यदि वह विद्वान् में भी आ जाय तो ब्रह्मज्ञान निष्फल ही है।' इस दशा में ब्रह्मज्ञानी को रागद्वेषादि भी नहीं दबा सकते, यह योगवाशिष्ठ में कहा है। जगत् के पदार्थ तत्त्वज्ञानी को रागद्वेषमय नहीं बना सकते हैं, जैसे गँवार स्त्री चतुर स्त्री के पति को नहीं

रिझा सकती। ब्रह्मज्ञानी को दृष्ट और अदृष्ट कर्म भी बाधा नहीं पहुँचा सकते हैं। जैसा कि कौषीतकि ब्राह्मण में कहा है—किसी भी कर्म से ब्रह्मज्ञानी का लोक नष्ट नहीं होता। उसका लोक मातृवध, पितृवध, चोरी और भ्रूण-हत्या, इनमें से किसी के द्वारा भी नष्ट नहीं हो सकता। गीता में भी कहा है कि जिसमें अहङ्कारमय भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि लिप्यमान नहीं होती, वह पुरुष इन लोकों का नाश करने पर भी किसी को न तो मारता है और न किसी प्रकार के पापों से बन्धन में ही आता है। आर्यापञ्चाशीति ग्रन्थ में श्री शेष ने भी कहा है—ब्रह्मवेत्ता यदि सैकड़ों अश्वमेध और लाखों ब्राह्मणों का वध करे तो भी वह निष्पाप रहता तथा पुण्य और पाप से लिप्त नहीं होता है। ब्रह्मज्ञानी किसी तीर्थक्षेत्र में शरीर त्याग करे या भ्रमवश किसी चाण्डाल के घर में, किन्तु वह ब्रह्मज्ञान के प्राप्त होते ही जीवन्मुक्त तथा शोक-रहित हो अन्त को मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

इत्यलम्। न चायं विषयः सन्न्यासिन एवेति भ्रमितव्यम्। विनिगमनाविरहात्। मुमुक्षावतां सर्वेषामपीष्टसाधनत्वेनावश्यकत्वात्। यतः कृत्यान्तराभावादिदमेवैकमनिशं कृत्यम्। अन्यस्य तु यथाऽवकाशं समयविभागेनेत्येतावानेव विशेषः। व्यवहारप्राप्तनानाव्यापारव्यापृतस्य तत्रासारदर्शिनो विवेकिनो गृहस्थस्यापि सतः षष्टिदण्डात्मकेऽहोरात्रे कालनियमेन प्रहरं प्रहरार्द्धं मुहूर्तं मुहूर्तार्द्धमपि वृत्तिरोधेन परमेश्वरचिन्तने को नामातिप्रसङ्गः को वा प्रयासः कश्च वित्तव्यय इति भ्रान्ता एव प्रष्टव्याः। वर्णाश्रमकुलाचारप्राप्तकर्माणि लोकसंग्रहमेवाऽपि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसीति परमेश्वराज्ञापरिपालनायैव करोमीति कर्तृत्वाभिनिवेशं फलाभिसन्धिं च परित्यज्ज्य विहितकर्माचरणैस्तदेकपरतया भगवन्तं भजते एव मुख्यसन्न्यासित्वात्। न ह्यधिकारमसम्पाद्य दण्डकमण्डलुकन्थामात्रेण कश्चिन्मस्करी सिद्धिलेशमुपैति। दान्तः शान्त उपरतस्तितिक्षुर्यमाद्यष्टाङ्गयोगनिष्ठो यः स एव संन्यासीति सिद्धान्तात्। अत्रोक्तं वार्तिककारैः—

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह केवल संन्यासी से सम्बन्ध रखता है यह समझना निरा भ्रम है; क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं। अतः समानरूप से हितकर होने के कारण उक्त विषय क्या संन्यासी और क्या गृहस्थ सभी के लिये आवश्यक है। हाँ, यह अवश्य है कि संन्यासी को

सांसारिक कोई कार्य करना रह नहीं जाता; अतः उसका कार्य तो रात-दिन भगवद्भजन करना ही है। किन्तु अन्य लोगों को समयानुसार अवसर मिलने पर ही भगवद्भजन करना होगा। औरों की अपेक्षा संन्यासी में यही विशेषता है। ऐसी दशा में लोक-व्यवहार-प्राप्त अनेक कार्यों में संलग्न, विचारशील कोई सद्गृहस्थ सांसारिक पदार्थों को असार समझकर रात और दिन के चौबीस घण्टों (६० दण्ड) में यथावकाश समय पाकर पहर-आध-पहर मुहूर्त-आध-मुहूर्त के लिये अपनी वृत्तियों को रोककर यदि भगवच्चिन्तन कर ले तो उसमें कौन सी बड़ी भारी आपत्ति आ जाती है और कौन सा बड़ा भारी परिश्रम है तथा क्या खर्च होता है ? ये सब प्रश्न हैं जिनका समाधान उन लोगों को करना चाहिए जो भ्रमवश भगवच्चिन्तन में केवल संन्यासियों का अधिकार समझते हैं। वास्तव में सच्चा संन्यासी तो वही है जो 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि' (अर्जुन ! तुम्हें लोककल्याण की दृष्टि से भी कर्म करना चाहिए) इस भगवदाज्ञा के पालनार्थ कर्तृत्वाभिमान तथा फलेच्छा त्यागकर शास्त्रविहित एवं वर्णों, आश्रमों तथा कुलाचारों से प्राप्त कर्मों को भगवदर्पणबुद्धि से करता हुआ भगवच्चिन्तन करता है। अधिकार-प्राप्त कर्तव्यों का पालन किये बिना केवल दण्ड-कमण्डलु और कन्था (कथरी) के धारण करने से न तो कोई संन्यासी कहा जा सकता है और न उसे किसी प्रकार की सिद्धि ही प्राप्त हो सकती है। क्योंकि दान्त (मन का दमन करनेवाला), शान्त (बाहरी विषयों से इन्द्रियों को रोकनेवाला), उपरत (सांसारिक विषय-रहित), तितिक्षु (सहनशील), तथा यम-नियमादिरूप अष्टाङ्गयोगनिष्ठ व्यक्ति ही संन्यासी है। ऐसा शास्त्रकारों का सिद्धान्त है।

प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः।
सन्न्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसन्दूषिताशयाः॥ इति।

तथा च तेषामितो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट इति न्यायेन प्रागुक्तदुरवस्थैवेति तदाशयः। दण्डग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेदित्यादि वचनं तु सन्न्यासस्य स्तुतिपरम्। तस्य हि सद्यः प्रैषमन्त्रोच्चारणमात्रसमुत्पन्नतत्त्वज्ञानाश्रयतया सकलक्लेशजालसमूलोन्मूलनपूर्वकमपरिच्छिन्नसुखसमर्पकत्वेन सर्वाश्रमोत्तमत्वात्। तदाह शातातपः—

यदोदेति परं ज्ञानं तदैव द्विजपुङ्गव ।
क्लेशाः सर्वे प्रणश्यन्ति सुखं चोत्पद्यते महत् ।। इति ।

यद्यप्येवं तथापि कलौ गृहस्थ एव साधीयान् । स हि तामसीं राजसीं सात्त्विकीं गुणातीतां वा यां गतिमधिजिगमिषति तां साधयति ।

इसी विषय में वार्तिककार ने कहा है कि जहाँ एक ओर सच्चे सदाचारी संन्यासी देखने में आते हैं वहाँ दूसरी ओर ऐसे भी संन्यासी मिलते हैं जो अपने कर्तव्यों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते, बाह्य विषयों में उलझे रहते हैं तथा अत्यन्त कलहप्रिय हैं और जिनके अन्त:करण दुष्कर्मों की वासनाओं से दूषित एवं कुटिलता से भरे हैं। भाव यह है कि उपर्युक्त प्रकार के संन्यासी तो, 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट:' इस लोकोक्ति के अनुसार, लोक-परलोक दोनों से गये; क्योंकि गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों से विमुख हो सांसारिक सुख से वञ्चित रहे और संन्यासियों के कर्तव्यों को पददलित कर पारलौकिक कल्याण से हाथ धो बैठे! 'मनुष्य दण्ड धारण करते ही नारायण-रूप हो जाता है' यह वचन संन्यास की स्तुति का बोधक है क्योंकि संन्यासी 'प्रैष' (आज्ञाविधायक वचनमात्र) के उच्चारण मात्र से तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लेता और उसकी सहायता द्वारा समस्त क्लेशों से भली भाँति मुक्त होकर असीम ब्रह्मानन्द का भागी हो जाता है। बस, यही कारण है जिससे संन्यासाश्रम को सब आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। महर्षि शातातप ने भी कहा है—ब्राह्मणश्रेष्ठ! हृदय में परम ज्ञान के उत्पन्न होते ही सकल क्लेश नष्ट हो जाते और परमानन्द का अनुभव होने लग जाता है। यद्यपि उक्त रीति से संन्यासाश्रम की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध है तथापि कलिकाल में गृहस्थाश्रम का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है; क्योंकि गृहस्थाश्रमी ही राजसी, तामसी, सात्त्विकी तथा गुणातीत गतियों में से जिसको प्राप्त करना चाहे उसको सरलता से प्राप्त कर सकता है।

आश्रमाणां कलावेको गृहमेधो विशिष्यते ।
युगस्वभावात्प्रायोऽन्ये दुस्साध्या ह्यल्पमेधसाम् ।। इति ।
पारमर्षस्मरणात् ।

ब्रह्मचर्य्यं वने वासं कमण्डलुविधारणम् ।
महाप्रस्थानगमनं कलौ चत्वारि वर्ज्जयेत् ।। इति स्कान्दात् ।

ब्रह्मचर्यं नैष्ठिकब्रह्मचारिताम् ।

मिष्टान्नकामैरल्पज्ञैर्लोलुपैर्वञ्चकैः कलौ ।
ज्ञानवैराग्यहीनैस्तु सन्न्यासोऽस्तं गमिष्यति ॥
इति भविष्यपुराणात् ।

वर्णौ द्वावेव तु स्यातां प्रथमस्तुर्य एव च ।
द्वितीय आश्रमश्चैव सम्प्राप्ते मलिने कलौ ॥
इति पुराणान्तरात् ।

ज्ञानयोगसहस्राद्धि कर्मयोगः प्रशस्यते ।
कर्मयोगोद्भवं ज्ञानं तस्मात्तत्परमं पदम् ॥
इति मत्स्यपुराणात् ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निश्श्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ इति गीतोक्तेश्च ।

बड़े-बड़े ऋषियों का वचन है कि 'कलियुग में सब आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थाश्रम ही श्रेष्ठ है, अन्य आश्रम प्रायः कलियुग के स्वभाव (प्रभाव) से अल्प बुद्धिवालों के लिये कष्टसाध्य हैं।' 'ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास तथा महाप्रस्थान-गमन (मरने के लिये यात्रा करना) यह ४ बातें कलि में वर्जित हैं,' यह स्कन्दपुराण का वचन है। यहाँ पर ब्रह्मचर्य शब्द से मतलब नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से है। जो अपनी सम्पूर्ण आयु को गुरुकुल में रहकर बिता दे उसका नाम नैष्ठिक ब्रह्मचारी है। 'कलियुग में जिह्वालोलुप, अल्पज्ञानी, लोभी, वञ्चक तथा ज्ञान-वैराग्यहीन पुरुषों के कारण संन्यास नष्ट हो जायगा,' ऐसा भविष्यपुराण का वचन है। 'मलिन कलि के आने पर ब्राह्मण और शूद्र वर्ण ही अवशिष्ट रहेंगे। आश्रमों में केवल गृहस्थाश्रम रहेगा' यह किसी पुराण का वचन है। 'हज़ारों ज्ञानयोगों की अपेक्षा कर्मयोग प्रशस्त है। कर्मयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, इसी कारण वह परम पद कहा जाता है,' यह मत्स्यपुराण में लिखा है। गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने भी कहा है—'अर्जुन ! यद्यपि संन्यास (ज्ञानयोग) और कर्मयोग समान रूप से निश्श्रेयस्कर हैं तथापि मेरे विचार में संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही अधिक उत्तम है।'

अष्टादशाऽध्यायेऽप्येतदेवाम्नातम्—

यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ १ ॥
एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ २ ॥
नियतस्य तु सन्न्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ३ ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्म्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ४ ॥ इति ।

किञ्च ।

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्म्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥ १ ॥
एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।
तदेवास्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥ २ ॥ इति ।

वशिष्ठोऽपि गृहमेधिनमेव योगिनमभिप्रैति । यतेर्व्यवहाराभावात् ।

समाधिस्थानकस्थस्य चेतश्चेद् वृत्तिचञ्चलम् ।
तत्तस्य तु समाधानं सममुन्मत्ततारडवैः ॥ ३ ॥
उन्मत्ततारडवस्थस्य चेतश्चेत्क्षीणवासनम् ।
तदस्योन्मत्तनृत्यन्तु समं ब्रह्मसमाधिना ॥ इत्यपि स एवाह ।

उपर्युक्त कर्मयोग का वर्णन गीता के अठारहवें अध्याय में विस्तार के साथ किया गया है—'यज्ञ, दान, तप तथा कर्मों के अनुष्ठान से ही विद्वान् पवित्र होते हैं अत: इनको हेय न समझना चाहिए; क्योंकि इन सब का अनुष्ठान मनुष्य के लिये परमावश्यक है। अर्जुन! मेरा निश्चित मत है कि फलेच्छा तथा आसक्ति को त्यागकर ही मनुष्य कर्मों को करे; इसी में उसका कल्याण है। जो कर्म अवश्य कर्तव्य तथा नित्य है, उसका संन्यास (त्याग) नहीं बनता है, उसको अज्ञानवश त्याग देना तामस धर्म है। फिर मनुष्यों से सब कर्मों का त्याग भी तो नहीं हो सकता, अत: कर्मफल-त्यागी ही वास्तविक त्यागी है।' कहा भी है कि जिस प्रकार पर-पुरुष पर आसक्त स्त्री गृहकार्यों में व्यग्र रहती हुई भी पर-पुरुष के सङ्गरूपी रसायन का स्वाद

चख ही लेती है, इसी प्रकार धीर विद्वान् शुद्ध परब्रह्म में विश्राम को प्राप्त हो—बाहरी व्यवहारों को करते हुए भी—अपने हृदय में ब्रह्मतत्त्व का आस्वाद करते हैं। महर्षि वशिष्ठजी के मतानुसार भी गृहस्थ ही सच्चा योगी है, संन्यासी नहीं; क्योंकि वह अपना हाथ समस्त व्यवहारों की ओर से खींच लेता है और गृहस्थ समस्त व्यवहारों को निरन्तर करता रहता है। अतः "तदेवास्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि" ग्रन्थ यति के विषय में नहीं लगता। यदि समाधिस्थान में वर्तमान ज्ञानी के चित्त की वृत्तियाँ चञ्चल हो जायँ तो ज्ञानी की वह चञ्चलता, ब्रह्म में सावधानता उन्मत्त के नृत्य के तुल्य है। उन्मत्त के नृत्य में वर्तमान पुरुष का चित्त यदि क्षीण (नष्ट) वासनावाला हो, अर्थात् नृत्य करते हुए भी, उसमें वासना नहीं है तो उसका वह उन्मत्त नृत्य ब्रह्मसमाधिवाले के समान है। यह भी वशिष्ठजी ने कहा है।

तस्मात् अहरहः सन्ध्यामुपासीत। अथातः पञ्चयज्ञा इत्युपक्रम्य तानेतान् यज्ञानहरहः कुर्व्वीत। ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेत्यादिविधेः सहसा परित्यागः कथङ्कारं श्रेय आवहेत्। अत्र मनुः—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानः पतत्यधः॥ इति।

श्रुतिरपि। जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते। ब्रह्मचर्य्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। एष वाऽनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासीति। सन्न्यसनं सन्न्यास इति व्युत्पत्त्या सम्यग्ज्ञाननिष्ठया कर्म्माधिकारे दूरं गते सति यथाविधि नितरां विहितकर्मत्यागो हि सन्न्यासो नाम। यः कश्चित्पूर्वपुण्यपुञ्जपरिणतया मत्या आजन्मविहितानुष्ठानेन विशुद्धान्तःकरणः सन् परमवैराग्यसुखसागरसंमग्नो व्रती वाऽव्रती वा स्नातकोऽस्नातको वा साग्निरनग्निर्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदिति श्रुतेर्व्यवहारमार्गे विक्षेपं मन्यमानः समाधानार्थी चेत्पर्यव्रजिष्यत्तर्हि सोऽसौ पारमव्रजिष्यत्। न त्वनीदृशः कदापि।

जब यह निश्चय है कि गृहस्थाश्रमी भी सब कर्मों की फलासक्ति का त्याग कर समय-विभाग द्वारा अर्थ, धर्म, काम का अनुष्ठान करते हुए ब्रह्मपरायण होकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं, तभी तो 'प्रतिदिन सन्ध्या करें' यह नित्य-सन्ध्योपासन-कर्म कहा गया है, तथा गृह्यसूत्रादि में पञ्चमहायज्ञ

का विधान भी बताया गया है। 'वेदाध्ययन के बाद पञ्चमहायज्ञ का उद्देश किया जाता है।' इस प्रकार आरम्भ करके उन यज्ञों को प्रतिदिन करे, 'निष्कारण षडङ्ग वेदों का पढ़ना और जानना ब्राह्मण का धर्म है'। इत्यादि नित्यविधियों का परित्याग किस प्रकार श्रेयस्कर होगा, इसलिये इन सब का त्याग करके मोक्ष-मार्ग में लगना गृहस्थाश्रमियों के लिये अच्छा नहीं है। किन्तु फल की कामना छोड़कर इन कर्मों को करते हुए ही अन्त:करण की शुद्धि द्वारा निश्श्रेयस् प्राप्त करना चाहिए। इस विषय में मनु महाराज भी कहते हैं—देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण से मुक्त होकर मन को मोक्ष में लगावे। ऋण से मुक्त न होकर मोक्ष का सेवन करनेवाला नीचे गिरता है। श्रुति भी कहती है—जन्म लेते ही ब्राह्मण तीन ऋणों से युक्त हो जाता है। वह ब्रह्मचर्य को धारण कर ऋषिऋण से, यज्ञों के द्वारा देवऋण से तथा सन्तानोत्पत्ति कर पितृऋण से मुक्त होता है। यज्वा, सन्तानयुक्त होना तथा ब्रह्मचारी रहकर गुरुकुल में रहना ही, अनृण (ऋणरहित) होना है। सम्यग्न्यसन—कर्माधिकार का त्याग—ही संन्यास है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार सम्यग्ज्ञान में निष्ठा रखकर कर्माधिकार के दूर हो जाने पर विधिवत् सदा के लिये विहित कर्म का त्याग ही संन्यास है। पूर्वजन्म के पुण्यपुञ्ज से परिपक्व बुद्धि के द्वारा जन्म भर के विहित धर्मों के अनुष्ठान से अन्त:करण को विशुद्ध कर जो व्यक्ति परम वैराग्य-सम्पन्न हो चुका है वह ब्रह्मचर्य व्रतवाला हो या न हो, स्नातक हो या नहीं, साग्नि हो या नहीं, जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन संन्यास ले ले—इस श्रुति के अनुसार व्यवहार-मार्ग में विक्षेप को मानते हुए भी समाधि का इच्छुक होकर यदि संन्यास ले ले तो संसार के पार चला जायगा। मनुष्य दिखावटी संन्यास से संसार के पार नहीं जा सकता।

तदवददाङ्गिरस:—

प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं सन्न्यासलक्षणम्।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य सन्न्यसेदिह बुद्धिमान्॥ इति।

यदि तु दैवादूरीकृततुरीयाश्रमो ज्ञानार्थं क्लिश्यमानोऽपि पुरातनवृजिननिरुद्धाधिकारत्वान्न ज्ञानं प्राप्नोति किन्तु सुशीलत्वादीश्वराद्भीतोऽन्त: सन्तप्यते तर्हि तेनाभिमानमुत्सृज्य भागवतै: सङ्गम्य भगवद्भक्तिरेवाभ्यसनीया। ततो भयान्मुच्यत इत्यन्यदेतत्। तेनैष लभ्यो भग-

वान्मुकुन्दो निर्वासनं यस्य मनो हि राजन्निति वैशम्पायनवचनात्। बन्धोऽतिवासनाबन्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षय इति वशिष्ठवचनाच्च। श्रेयोऽर्थिभिः सर्वथैव वासना हन्तव्याः। अत्रेदमवधेयम्। अस्यां प्रकृतौ कामक्रोधलोभदम्भाहङ्कारादयो बहवः प्रतीपाः। यद्भयात्सप्तसागरानुल्लङ्घ्य ज्ञानं पलायते। अतस्तद्वत्तां तद्वत्सङ्गतिं च श्रेयस्कामो जह्यादेव। क्रमेण तान् वयमुदाहरामः। कामी कामयते। पृथिव्यां यावद्वित्तमस्ति तत्सर्वं ममैव कथं भवेदिति। मुहुर्बहुलाभेऽप्यलमिति न मन्यते।

इसी बात को आङ्गिरस ने भी कहा है, 'योग' का लक्षण प्रवृत्ति है, क्योंकि 'युजिर् योगे' इस धातु से योग शब्द बनता है। योग का अर्थ है लगना; यह प्रवृत्ति का ही दूसरा पर्याय है। संन्यास का लक्षण ज्ञान है; क्योंकि ज्ञान से ही संन्यास होता है। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति ज्ञान को सामने रखकर संन्यास ले। यदि कोई व्यक्ति दैववश तुरीय (चतुर्थ) आश्रम को स्वीकार कर ले और ज्ञान-प्राप्ति के वास्ते अनेक क्लेश सहने पर भी प्राचीन पापों के कारण ज्ञान-प्राप्ति का अधिकारी न होने से ज्ञान-प्राप्ति न कर सके, किन्तु सुशील होने के कारण ईश्वर से डरकर यदि अपने हृदय में दुःख का अनुभव करे, तो उसे अभिमान का परित्याग कर भगवद्भक्तों की संगति से भगवान् की भक्ति का ही अभ्यास करना चाहिए। तत्पश्चात् वह भवभय से छूट जाता है। हे राजन्! जिसका मन वासना-रहित है वही मनुष्य भगवान् को पा सकता है। यह वैशम्पायन का वचन है। अतिवासना का नाम बन्ध है और वासना का क्षय ही मोक्ष है। यह वशिष्ठजी का वचन है। कल्याणाभिलाषी पुरुषों को चाहिए कि वे जैसे हो वैसे अपने हृदय से वासनाओं को पूर्णतया दूर करें। ध्यान रहे, मायामय संसार में काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ और अहंकार आदि बहुत से पदार्थ हैं जो स्वभावतः ज्ञान के प्रबल शत्रु हैं। इनके भय से बेचारा ज्ञान सातों समुद्रों को लाँघकर दूर ही दूर भागता है, अतः कामादि तथा कामादि से युक्त लोगों की संगति से कल्याण चाहनेवालों को दूर रहना चाहिए। क्रम से उनके उदाहरण देते हैं—'कामी' पुरुष वह है जो यही चाहता है कि पृथिवी में जितना वित्त है वह सब, किसी प्रकार से, मुझे ही मिल जाय! इस प्रकार बार-बार अधिक प्राप्ति होने पर भी वह पर्य्याप्त है, ऐसा नहीं मानता।

तदाह नवमस्कन्धे ययातिः—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥ इति ।

अन्यत्रापि—

जीर्यन्ति जीर्य्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्य्यतः ।
जीर्य्यन्ति जीर्य्यतोऽङ्गानि तृष्णैका तरुणायते ॥ इति ।

क्रोधः सर्वार्थान्नाशयति । अत्र स्मृतिः—

अपराधिनि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न हि ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि ॥ इति ।

लुब्धस्य शान्तिरेव नास्ति । उद्योगपर्वणि—

लोभः प्रज्ञानमाहन्ति प्रज्ञा हन्ति हता ह्रियम् ।
ह्रीर्हता बाधते धर्म्मं धर्मो हन्ति हतः श्रियम् ॥ १ ॥
दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान् ।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीरुः कामी च ते दश ॥ २ ॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ ३ ॥ इति ।

पृथिवी का सम्पूर्ण धन एक व्यक्ति के लिये भी पर्य्याप्त नहीं हो सकता, क्योंकि अधिकाधिक मिलने पर भी कामना बढ़ती ही जाती है। भागवत के नवम स्कन्ध में ययाति ने कहा है—'उपभोग से विषयों की कामना कभी शान्त नहीं होती। जिस प्रकार हवि की आहुति से अग्नि बढ़ता ही जाता है, इसी प्रकार विषयों की कामनाएँ भी बढ़ती ही जाती हैं।' वृद्ध होने पर केश और दाँत जीर्ण हो जाते हैं; अङ्ग भी शिथिल पड़ जाते हैं। एक तृष्णा ही ऐसी है जो बराबर तरुण बनी रहती है। क्रोध सब अर्थों का नाश कर देता है, इस विषय में स्मृतिवाक्य है—यदि मनुष्य को अपराधी पर क्रोध आता हो तो अपने क्रोध पर उसे कोप क्यों नहीं आता जो धर्म अर्थ काम और मोक्ष का प्रबल शत्रु है। लोभी को कभी शान्ति ही नहीं मिलती, यह महाभारत के उद्योगपर्व में कहा है—'लोभ बुद्धि का नाश कर देता है, नष्ट बुद्धि लज्जा को नष्ट कर देती है, विनष्ट हुई लज्जा धर्म की नाशक हो जाती है, उपहत

धर्म श्री का नाश कर देता है। हे धृतराष्ट्र! दश प्राणी धर्म को नहीं जान सकते हैं—मत्त (शराब आदि से मतवाला), प्रमत्त (प्रमादी), उन्मत्त (उन्माद रोगवाला), श्रान्त (थका हुआ), क्रुद्ध, बुभुक्षित (भूखा), त्वरमाण (शीघ्रता करनेवाला), लोभी, भीरु (डरनेवाला) और कामी। काम, क्रोध और लोभ यह तीनों आत्मा के नाशक और नरक के द्वार हैं। अतः मनुष्य इनका त्याग कर दे।'

दाम्भिकस्य गणनैव नास्ति। तस्य पापीयस्त्वं स्मरन्ति—

विषवृक्षसमाकारं मध्वास्यं क्षुरिकोदरम्।
दृष्ट्वा तु दाम्भिकं प्राज्ञः प्रणमेत्सूर्य्यमञ्जसा ॥ १ ॥

मनुराह—

धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिको लोकदाम्भिकः।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥ २ ॥

किंव्वदन्ती च—

परार्थान्हरतो मिथ्यानाट्यैः शैलूषदाम्भिकौ। इति।

अहङ्कारपङ्काविला ऽपृथग्विधा एव दृश्यन्ते दुर्व्वासआश्वलायनप्रभृतयो महान्तोऽपि गर्वेण महत्तरं पराभवं प्रापुरिति कावषेयगीतादौ पठ्यते। पुनरितरेषां गणनैव का।

यशो निहन्त्यहङ्कारो हन्ति बुद्धिमहंकृतिः।
धर्मं निहन्त्यहङ्कारो ह्यहङ्कारो रिपुर्महान् ॥

इत्यादिदोषमपश्यन्तो मत्ता इव स्वस्मादधिकान्महतोऽपि पुरुषान्कथञ्चित्स्वचतुर्थांशान्मन्यन्ते। केचिच्छास्त्रैकदेशमात्रपरिचयबलदवलेपा ऽकिल पण्डिता वयमध्यापका ऽप्रवक्तारः सर्वोत्कृष्टा इत्यात्मानमेव श्लाघन्ते। न तावता तेषां कश्चित्पुरुषार्थो दृष्टः। अत्र श्रुतिः—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन, इति।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ इति च।

दाम्भिक का तो कहना ही क्या है! दाम्भिक की पापिष्ठता का स्मरण करते हैं—'जिसका आकार विषवृक्ष के समान है, जिसके मुख में मधुरता और उदर में छुरी है, ऐसे दाम्भिक पुरुष का अवलोकन करते ही विद्वान् पुरुष शीघ्र सूर्य को नमस्कार करे।' मनुजी कहते हैं कि 'धर्मध्वजी

(पाखण्डी), सदा लोभी, कपटी, दम्भी, मार्जार के सदृश व्रतवाला (धूर्त) और स्वार्थी ही मनुष्य हिंसक कहा जाता है।' किंवदन्ती भी ऐसी है कि 'नट और दम्भी लोग अपने झूठे व्यवहारों से दूसरों के धन को हर लेते हैं।' अहङ्कार-रूप कीचड़ से कलुषित मनुष्यों का स्वरूप ही बदल जाता है। दुर्वासा, आश्वलायन आदि बड़े-बड़े विद्वान् भी अभिमान के कारण अत्यन्त पराभव पा चुके हैं, यह विषय तुरानाम ऋषि-प्रणीत कावषेय-गीता आदि ग्रन्थों में वर्णित है, फिर औरों की तो गणना ही क्या है। अहङ्कार मनुष्य के यश, बुद्धि और धर्म का नाश करनेवाला है। अहङ्कार महाशत्रु है। इन सब दोषों को न देखते हुए अहङ्कारी लोग मतवालों के समान, अपने से बड़े पुरुषों को भी किसी प्रकार अपने से चौथाई मानते हैं। कोई पण्डित, शास्त्र के एक देश मात्र के परिचय से ही अभिमान में आकर अपने को अध्यापक, प्रवक्ता, सर्वोच्च मानकर अपनी प्रशंसा के पुल बाँधने लग जाते हैं, किन्तु इतने ही से उनका कोई पुरुषार्थ सिद्ध होता दिखाई नहीं देता। यहाँ श्रुति कहती है कि यह आत्मा प्रवचन, मेधा तथा अनेक शास्त्रों के पठन-पाठन से नहीं प्राप्त होता; यह तो श्रेष्ठ सूक्ष्म-बुद्धि द्वारा सूक्ष्मदर्शियों को ही दिखाई पड़ता है।

स्मृतयश्च—

गुरुणा विदुषाऽऽदिष्टं यस्तु पन्थानमास्थितः।
निर्मान आत्मवान्धीरः स तत्त्वं वेत्ति नेतरः॥ १॥
अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यशेषतः।
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा॥ २॥
बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम्।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्त्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरम्॥ ३॥
तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्याऽन्या शिल्पनैपुणम्॥ ४॥

पञ्चमस्कन्धे भरतः—

न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद्वरीयसीरपि वाचः समासन्।
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात्॥

वरीयसीरित्यार्षी द्वितीया प्रथमार्थे। साक्षाद्वरीयस्योऽपि प्रत्यक्षं तत्त्वप्रबोधनेन माप्तप्रकर्षा अपि वेदान्तवाचस्तस्य बहिर्मुखपाण्डित्यमात्र-

द्योतनेन लोकपूजाग्रहणायैवासन्। न तत्त्वग्रहणायेति समुपसर्गार्थः। पादश्चायं छान्दसः। स्वप्नदृष्टान्तेनेत्यर्थः।

इस कथन को स्मृतियाँ भी पुष्ट करती हैं—गुरु से उपदिष्ट मार्ग का अवलम्बन करनेवाले, मानरहित, आत्मज्ञानी, धीर पुरुष ही तत्त्व को जान सकते हैं, दूसरे नहीं। चारों वेदों तथा अशेष धर्मशास्त्रों का अध्ययन करके भी मनुष्य ब्रह्मतत्त्व को उसी प्रकार नहीं जान सकता, जिस प्रकार दर्वी (करछुली) रसोई के स्वाद को नहीं जान सकती। यदि अन्तर्ज्योति के दर्शन न हों तो; बहुत से शास्त्रों की कथारूप कन्था के रोमन्थ (जुगाली) व्यर्थ ही हैं अतः तत्त्वज्ञानी पुरुषों को अपने भीतर विद्यमान ज्योति ही का प्रयत्न के साथ अन्वेषण करना चाहिए। कर्म वही है जो बन्धन का जनक नहीं और विद्या वही है जो विमुक्ति का कारण है। अन्य सभी कर्म आयास के जनक तथा अन्य विद्याएँ शिल्प की कुशलता मात्र हैं। भागवत के पञ्चम स्कन्ध में भरतजी का वाक्य है—जिस पुरुष को गृहमेधी का सुख स्वप्न के पदार्थों की भाँति त्याज्य रूप से स्वयं अनुमित न हो उसको श्रेष्ठ साक्षात् वेदान्त-वाणी भी तत्त्व के ग्रहण कराने में समर्थ नहीं हो सकती। "वरीयसीः" यह द्वितीया प्रथमा के अर्थ में है। "साक्षात् (प्रत्यक्ष) वरीयसीः" तत्त्वप्रबोध से उत्कृष्टता को प्राप्त वेदान्त-वाणी भी उस पुरुष के लिये, जो सांसारिक सुखों को त्याज्य नहीं मानता है, बाहरी पाण्डित्य को प्रकट करने के कारण लोक-पूजा (ख्याति) के लिये ही है, तत्त्वज्ञान के लिये नहीं। यह बात 'सम्' उपसर्ग से झलकती है। इस श्लोक का द्वितीय पाद गुरु लघु की यथावत् स्थिति न होने से छान्दस माना जाता है। "स्वप्ने निरुक्त्या" इस अंश का अर्थ 'स्वप्नदृष्टान्तेन' है।

आदिपर्वणि यायाते—

अधीयानः पण्डितम्मन्यमानो यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम्।
तस्यान्तवन्तश्च भवन्ति लोका न चास्य तद् ब्रह्म फलं ददाति ॥१॥

अङ्गिराः—

स्वयम्पण्डितमान्यज्ञो विदुषो हेलयन्मदात्।
निर्द्रुमाम्बूषरे देशे जायते ब्रह्मराक्षसः ॥ २ ॥

शिष्टाश्च—

विद्यया विनयावाप्तिः सा चेदविनयप्रदा।
किं कुर्मः कम्प्रति ब्रूमो गरदायां स्वमातरि ॥ ३ ॥ इति।

अन्ये वयं सदाचारा पूजापाठादिनिष्ठा क्रियाशीला निर्मला अस्मदन्ये मलिना इत्युत्फुल्लदेहाः । तेषां सदपि तदसत्तामापद्यते ।

आदिपर्व (महाभारत) में राजा ययाति के उपाख्यान में कहा है कि 'जो मनुष्य पढ़-लिखकर अपने को ही सर्वश्रेष्ठ विद्वान् समझ दूसरों के यश को नष्ट करता है, वह नश्वर-लोकों को पाता है और परमात्मा उसको विद्या का फल भी नहीं देता।' महर्षि अङ्गिरा ने भी कहा है कि 'जो आदमी अपने आपको बड़ा भारी विद्वान् समझकर पाण्डित्य के अभिमान में आकर अन्य विद्वानों को अपमानित करता है, वह मरकर ब्रह्मराक्षस के रूप से ऐसे ऊसर स्थान में जन्म लेता है जहाँ छाया के लिये पेड़ और पीने के लिये पानी खोजने पर भी नहीं मिलते।' शिष्ट लोग भी कहते हैं कि विद्या से विनय की प्राप्ति होती है, वही विद्या यदि उद्दण्डता का कारण बन जाय तो हम लोग क्या करें और किससे कहें; यदि माता ही सन्तान को विष दे तो दूसरे लोग क्या कह सकते और कर सकते हैं ? इसी प्रकार जो लोग यह समझते हैं कि हमी सदाचारी, कर्मठ, पूजा-पाठ में निष्ठा रखनेवाले तथा निर्मल हैं, अन्य सब लोग मलिन हैं, वे इसी अभिमान से फूले नहीं समाते हैं। ऐसे लोगों के अच्छे कर्म भी असाफल्य तथा असत्यता को प्राप्त हो जाते हैं।

तदाह लोमशः—

ये तु कुर्वन्ति गर्वेण सत्कर्माण्यपि भूपते ।
तेषां स्युस्तानि कर्माणि विपरीतफलानि हि ॥

श्रुतिरप्याथर्वणिकी—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ॥
यत्कर्म्मिणो न प्रवेदयन्ति सङ्गात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्त इति ।

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥

इति चार्वाकशास्त्रीयैत्र तेषां स्थितिरिति भावः ।

लोमशजी भी कहते हैं—हे राजन्! जो लोग सत्कर्मों को अभिमान रखकर करते हैं, उनको वे कर्म उल्टा ही फल देते हैं। अथर्ववेद की श्रुति भी कहती है—यज्ञ और वापी-तड़ागादि कर्मों को एकमात्र श्रेष्ठ माननेवाले अज्ञानी लोग

अन्य किसी कर्म को कल्याणकारी नहीं मानते। ये मूढ़ अविद्या-ग्रस्त होने के कारण 'हमीं लोग कृतकृत्य हैं' ऐसा मान बैठते हैं। कर्मासक्त अविवेकी लोग सांसारिक विषयों में फँसे रहने के कारण वैराग्य को नहीं प्राप्त कर सकते, अतः पुण्य-प्राप्त लोक में भोग द्वारा पुण्य के क्षीण होते ही दुःखित हो पुनः उस लोक से इस लोक में आ गिरते हैं। ये ही लोग 'अग्निहोत्र करना, वेदों का पढ़ना, त्रिदण्ड धारण करना तथा भस्म लगाना, ये सब काम निर्बुद्धि पौरुषहीन लोगों की जीविका हैं अर्थात् बिल्कुल व्यर्थ हैं' ऐसा कहकर वेदशास्त्रों तथा वैदिक सत्कर्मों की निन्दा करनेवाले चार्वाक लोगों का जन्म पाते हैं।

पूर्वाचार्याः—

शरीरे नव छिद्राणि स्रवन्ति घटिका इव।
बाह्यशौचैर्न शुद्ध्यन्ति चान्तःशौचं न विद्यते॥

स्मृतिः—

अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः।
इत्यन्तरं द्वयोर्ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते॥

दशमस्कन्धे—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

यत् यस्येत्यर्थः। गोखर इत्यत्रायमाशयः। स एव गौः स्मृत इति विवक्षिते मुखारविन्दाद् गोशब्दे निर्गते सति गोर्बलीवर्दस्य पशुत्वेऽप्युत्तमजातित्वादिमं दृष्टान्तमृषय एते साधु न मन्येरन्निति मन्वानैः सद्य एव भगवद्भिः पूरितं गोखर इति। एवञ्चात्र गोशब्दः पशुजातिसामान्यः। गमेर्डोस्। गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तिमात्राश्रयणोपपत्तेः।

गावः पश्यन्ति गन्धेन वेदैः पश्यन्ति पण्डिताः।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः॥

इत्यादौ गाव इति न सास्नादिमन्त एवापि तु पशवः सर्वेऽपीति प्रसिद्धेः। गोषु गोमहिषगजाश्वादिषु पशुजातिषु अधमजातिर्यः खरो गर्दभः स एवेति सप्तमीतत्पुरुषः। अर्थान्तरद्वयं तु श्रीधरस्वामिभिः कृतमेव।

शरीर में नासिका (२), श्रोत्र (२), नेत्र (२), मुख (१), मल (१) और मूत्र की इन्द्रिय (१) यह नव द्वार हैं। इन नव दरवाजों से, फूटे घड़े से पानी की तरह, रात-दिन मल-मूत्र आदि बाहर निकलता रहता है। ये सब केवल बाहरी स्नानादि की पवित्रता से शुद्ध नहीं हो सकते, और इनमें अन्दर की शुद्धता भी नहीं है। देह अत्यन्त मलिन और आत्मा अत्यन्त निर्मल है। इन दोनों का अन्तर जान-कर किसकी शुद्धि की जाय! भागवत के दशम स्कन्ध में कहा है कि सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों से बने शरीर में जिसकी आत्मबुद्धि और स्त्री पुत्रादि में जिसकी स्वधी (स्वयं मैं हूँ यह बुद्धि) है, तीर्थनिवासी महात्माओं एवं शास्त्ररूपी तीर्थों को छोड़कर केवल पत्थर आदि में जिसकी पूज्यबुद्धि तथा जल में जिसकी तीर्थबुद्धि है, वह व्यक्ति विद्वानों में गोखर (चलने-फिरनेवाला गदहा) है। इस श्लोक के तृतीय-पाद-गत "यत्तीर्थबुद्धिः' में यत्' पद का अर्थ यस्य है। "गोखरः" इस पद मे खर शब्द का आशय यह है कि जैसे "स एव गौः स्मृतः (वही गौ है)" यदि यह विवक्षित हो तो मुख से गो शब्द के निकलने पर कदाचित् ऋषि लोग इस दृष्टान्त को अच्छा न समझें, क्योंकि बलीवर्दरूप गौ पशु होने पर भी उत्तम जाति का ही है। तो फिर विवक्षित निन्दा के स्थान में स्तुति समझी जायगी। इस बात को ध्यान मे रखते हुए भगवान् ने शीघ्र ही "गौः स्मृतः" के स्थान में "गोखरः' पद रख दिया। इस प्रकार यहाँ पर गो शब्द साधारण पशु जाति को कहता है। गम् धातु से डोस् प्रत्यय करके गो शब्द बनाया गया है; 'जो चलता है उसका नाम गौ है'। इस व्युत्पत्ति को लेकर गदहे में भी गो शब्द का प्रयोग किया जा सकता है; क्योंकि वह भी चलनेवाला है। अतः यहाँ पर 'गोखर' शब्द का, अर्थ—चलनेवाले चौपायों में—गदहा है। गो शब्द पशुमात्र का वाचक है, इसका प्रमाण है—"गावः पश्यन्ति इति"। पशु भले-बुरे का ज्ञान सूँघकर, विद्वान् लोग वेदों का अध्ययन करके तथा राजा लोग गुप्तचरों द्वारा प्राप्त करते हैं और सर्व-साधारण को अपने नेत्रों द्वारा ही भला-बुरा होने का पता लगता है।

"गावः पश्यन्ति" इत्यादि स्थलों में 'गावः' यह पद सास्नादिवाली गौओं का ही वाचक नहीं; किन्तु पशुमात्र का वाचक है, यह प्रसिद्ध है। गो, महिष, गज और अश्व आदि पशु-जातियों में अधम जाति गदहा ही है। इस प्रकार यहाँ सप्तमी तत्पुरुष समास है; इसके श्रीधर स्वामी ने अन्य दो अर्थ भी किये हैं।

अपरे वयं गणमुख्याः सर्वान्वशीकुर्म इति मीलिताक्षा उत योग्यानपि तृणाय मन्यन्ते। तत्तेषां गणमुख्यत्वमनिष्टापादकम्।

पण्डितोऽपण्डितो वाऽपि दर्पान्महदवज्ञया।
आत्मानमेव मैत्रेय निपातयति पातकी॥
गूढार्थदायिपक्षस्थो निर्धनान्परिपीडयन्।
धर्मध्रुड् ग्रामणीः सर्वं तेषां किल्बिषमश्नुते॥ इति वैष्णवात्।

अन्य अज्ञानी लोग भी कहते हैं कि हम अपने गणों में प्रधान हैं तथा सबको वश में कर लेते हैं। इस प्रकार अभिमान के नशे में चूर होकर आँखें बन्द किये रहते हैं, और बड़े-बड़े योग्य पुरुषों को भी तृण के समान तुच्छ मान लेते हैं। उनका अपने को गणों में मुख्य समझना ही उनके लिए अनिष्टकर सिद्ध होता है। मैत्रेयजी! कोई चाहे पण्डित हो अथवा मूर्ख, यदि वह अभिमानवश बड़े लोगों का अपमान करता है तो समझना चाहिए कि उक्त पापी अपने आपको नीचे गिरा रहा है। उसके द्वारा किये गये अपमान से बड़े लोगों का कुछ भी नहीं बिगड़ता। जो आदमी अपने को मुखिया समझकर भी घूस लेकर दूसरों का पक्ष लेता तथा निर्धनों को सताता है वह धर्मद्रोही अपने द्वारा उत्पीड़ित लोगों के पाप का भागी होता है।

तादृशां ग्रामण्यामाश्रवाश्च सर्व्वं एवोन्मूलितमर्यादाः। प्रधानानुयायिनो जनव्यवहारा भवन्तीति न्यायात्। इतरे वयं धनाढ्या उद्यमशालिनो दातारो भोक्तारः सर्वैः स्तूयामह इत्युच्छूनवपुषो विकत्थन्ते। तेषां ताः सम्पत्तयो विपत्त्यवसाना एव।

इतिहाससमुच्चये—

समागमाः सापगमा विषया विषसन्निभाः।
कायः सन्निहितापायः सम्पदः पदमापदाम्॥

उद्योगपर्वणि—

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम्॥ १॥
विद्यावृद्धं तपोवृद्धं वयोवृद्धं च भारत।
एतान्धनेन वृद्धस्तु नित्यं मूढोऽवमन्यते॥ २॥

अनार्यवृत्तिमप्राज्ञमकृतज्ञमधार्मिकम् ।
अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥ ३ ॥

शान्तिपर्वणि—

धनमत्तस्तु दुर्मेधा धर्मं नाशयति स्वकम् ।
तद्धनं भुञ्जतेऽन्येऽसौ भुङ्क्ते निरययातनाम् ॥

वृद्धाः—

गुरूनपि न पश्यन्ति ययाऽन्धीकृतलोचनाः ।
लक्ष्मीव्याजादहं मन्ये समुद्राद्विलिरुत्थिता ॥ इति ।

प्रायशो हन्त महदन्वयजातोऽपि जन इदानींतन उज्झितोचितो भूयसीं बालिशतामेवालम्बते कालमहिम्ना ।

उक्त प्रकार के मुखिया के आज्ञाकारी लोगों को भी मर्यादाभङ्गकारी समझना चाहिए। जगत् में प्रसिद्ध है कि 'आश्रित जनों के व्यवहार प्रधान के अनुरूप ही होते हैं'। ऐसा न्यायस्वरूप भी है; क्योंकि प्रधान का जिस प्रकार का व्यवहार होता है उसी प्रकार का उसके प्रजाजन, दास तथा स्वजन-वर्गों का भी व्यवहार होता है। बहुत से आत्मविमुख अज्ञ पुरुष अपनी प्रशंसा स्वयमेव करते हैं—हम बड़े धनाढ्य, उद्यमशाली, दाता तथा भोक्ता हैं। सब लोग हमारी स्तुति करते हैं। ये लोग इसी अभिमान से फूले नहीं समाते। किन्तु उनकी वे सम्पत्तियाँ विपत्ति तक ही हैं अर्थात् उनका फल विपत्ति ही है।

संसार में स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु तथा मित्रों का समागम सर्वदा नहीं रहता; अन्त में नष्ट हो ही जाता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द, यह सब भी विष के तुल्य हैं। शरीर का विनाश भी सन्निहित ही है, दूर नहीं। सम्पद्-आपत्तियों का घर है; क्योंकि धन के कारण प्राणों पर सङ्कट आने का भय बना रहता है। यह इतिहास-समुच्चय में कहा है। महाभारत के उद्योग पर्व में भी कहा है—न्याय से प्राप्त धन का अनादर दो प्रकार से जानना चाहिए—एक तो अपात्र को देना तथा दूसरा पात्र को न देना। उसी पर्व (महाभारत) में कहा है—जो लोग धन के अभिमान में आकर विद्यावृद्ध, तपोवृद्ध तथा वयोवृद्ध पुरुषों का अपमान किया करते हैं वे बड़े भारी मूढ़, दुष्ट प्रकृति, निर्बुद्धि, कृतघ्न और अधार्मिक हैं। ऐसे लोग उसी प्रकार शीघ्र ही अनर्थों में फँस जाते हैं जिस प्रकार कटुवादी क्रुद्ध प्रकृति का व्यक्ति अनेक आपत्तियों

को अपने सिर ले लेता है। शान्तिपर्व में भी लिखा है कि धन से मतवाले, दुष्टबुद्धि व्यक्ति अपने धर्म को भी गँवा बैठते हैं। उनके धन को अन्य पुरुष ही भोगते हैं और वे स्वयं नरक की यातना सहते हैं। वृद्ध लोग भी कहते हैं कि लक्ष्मी ने जिनको अन्धा कर दिया है वे अपने सामने खड़े गुरुजनों को भी नहीं देख सकते। अतः मालूम होता है कि लक्ष्मी के रूप में समुद्र से उठी हुई धूलि उनकी आँखों में उड़कर आ पड़ी है तभी वे इतने अन्धे हो रहे हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि बड़े-बड़े कुलों में उत्पन्न व्यक्ति भी इस समय कुलोचित व्यवहारों को छोड़ मूर्खता का ही अवलम्बन कर रहे हैं। यह सब काल की महिमा है।

उक्तं हि प्राङ्भिः—

अहो दैवकृतिश्चित्रा वैद्यज्योतिष्कयज्वनाम्।
क्षयरोगिग्रहग्रस्तगणिकापतयः सुताः॥ इति।

एते सर्वेऽप्यात्मसम्भावनागरलानलोग्रजवज्वालाजटालात्रलीवलीढमतयः सद्वृत्तान्सत्कर्तुमुचितानपि जनानधिक्षिपन्तः स्वयमधः क्षिप्यन्ते। तदार्षभा बभाषिरे—

रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः।
दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान्॥ १॥

श्रिया विभूत्याऽभिजनेन विद्यया त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान्सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान्खलाः॥ २॥

शकुन्तलापीदमालालपीति स्म—

अन्यान्परिवदन्साधुर्यथा हि परितप्यते।
तथा परिवदन्नन्यांस्तुष्टो भवति दुर्जनः॥ १॥
अभिवाद्य यथा वृद्धान्सन्तो गच्छन्ति निर्वृतिम्।
एवं सज्जनमाक्रुश्य मूर्खो भवति निर्वृतः॥ २॥

वृद्धाश्च द्व्यर्थमूचुः—

नौश्च दुर्जनजिह्वा च प्रतिकूलप्रचारिणी।
परप्रतारणायैव दारुणा केन निर्मिता॥ इति।

प्राचीनों ने कहा है कि दैव की कृति (माया) बड़ी विचित्र है। तभी तो वैद्यों, ज्योतिषियों तथा कर्मकाण्डियों के लड़के रोगी, शनि आदि पापग्रहों से ग्रस्त तथा

वेश्यागामी देखे जाते हैं। यह सब काल की महिमा है। ऐसे लोग ही आत्म-प्रतिष्ठारूप विषाग्नि की भयङ्कर, वेगवती ज्वालाओं से दग्धमति होकर सत्कार के योग्य, अच्छे चरित्रवाले लोगों की निन्दा करके अपने हाथों अपनी अधोगति कर लेते हैं। इसी बात को ऋषियों ने भी कहा है—रजोगुणी, दूषितसङ्कल्प, साँप की तरह क्रोधी, कामुक, दम्भी, मानी और पापी मनुष्य ही भगवद्भक्तों को हँसते हैं। लक्ष्मी, विभव, कुलाभिमान, विद्या, त्याग, रूप, बल, कर्म, इन सबसे गर्वित दुर्बुद्धि खल लोग हरि तथा उनके भक्तों का अपमान करने लगते हैं। महाभारत में महर्षि वेदव्यास ने भी इसी बात को शकुन्तला के मुख से इस प्रकार कहलाया है—साधुजन दूसरों की निन्दा करने पर जितने परितप्त होते हैं, दुर्जन लोग दूसरों की निन्दा करने पर उतने ही प्रसन्न होते हैं। इसी भाँति सत्पुरुष वृद्धों को प्रणाम करने से जितने सुखी होते हैं, सज्जनों की निन्दा करके मूर्ख लोग उतने ही सुखी होते हैं। वृद्ध लोग दो वस्तुओं को समान बताते हैं—नौका और दुर्जनों की जिह्वा। ये दोनों ही विरुद्ध चलनेवाली हैं। जैसे नौका दूसरे तट पर जानेवाली है, वैसे ही दुर्जनों की जिह्वा भी विरुद्ध चलने-वाली है। मालूम होता है, ये दोनों दूसरों के ठगने के लिये किसी (विचित्र) लकड़ी से कितनी कठोर बनाई गई हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार एक तट से दूसरे तट पर चले जाने से नौका में प्रतारणत्व (पार ले जाना) सिद्ध है, उसी प्रकार दुर्जनों की जिह्वा भी प्रतारण—दूसरों के ठगने का काम—करती है, इससे वह भी प्रतारिणी सिद्ध होती है। नौका-पक्ष में 'दारु' का अर्थ 'काष्ठ' और जिह्वा-पक्ष में—'दारुणा' ऐसी आनुपूर्वी शब्द-रचना मानकर—कठिन है।

एवं मोहमदमत्सरासूयेर्ष्याव्यापादपैशुन्यप्रलापद्यूतनृत्यगीतवाद्यपराङ्गनासङ्गभङ्गाभक्षणादयोऽपि ज्ञाननिष्ठाविघातिनो ज्ञातव्याः।

किञ्च—

पालनाच्च त्रयीधर्मः पाशब्देनेह कथ्यते।
तं खण्डयन्ति ये मूढाः पाखण्डास्तेन ते स्मृताः॥

इति स्मृतिलक्षितं पाखण्डसंसर्गात्सिद्धमपि ज्ञानं नश्यति; साध्यस्य का कथा।

मनसाऽपि न पाखण्डं तातोपेयाः कथञ्चन।
यतः कष्टार्जितं ज्ञानं स्रवत्यामघटाम्बुवत्॥

इत्युपदेशस्मृतेः। व्याचख्यौ च विज्ञानेश्वरः। त्रैविद्यवृद्धापरिगृहीताश्रमी पाखण्डीति। अस्मिन्पक्षे तदाश्रम एव पाखण्डपदवाच्यः। तत इनिः। जैनबुद्धकापालिकनग्नस्वैरमुण्डिककर्णपाटकादयः प्रसिद्धाः पाखण्डाः। अमी नूनं कलेः पुत्रा एव। आधुनिकैः पामरैर्ब्राह्मणब्रुवैः क्षत्रबन्धुभिरितरैश्च महत्त्वं सम्भाव्यातिविश्वस्तैः पूज्यमानाः सद्धर्मं सत्पुरुषाँश्च द्विषन्तः पितरं पुष्णन्ति कुपूयाः।

इसी प्रकार मोह (जिस वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा न जानना), मद, मत्सर, असूया (गुणी पुरुषों की निन्दा करना), ईर्ष्या (किसी की उन्नति को न सहना), व्यापाद (मारना), पैशुन्य (कुटिलता), प्रलाप (निष्प्रयोजन बोलना), द्यूत (जुआ खेलना), नृत्य (नाचना), गीत (गाना), वाद्य (बाजा बजाना), पराङ्गनागमन, भङ्ग आदि नशीली चीजों का सेवन, ये सब भाव ज्ञान निष्ठा के विरोधी हैं। और भी कहा है कि जो मूढ़ 'पा'शब्द-प्रतिपादित, पालनीय वैदिक धर्म का खण्डन करते हैं वे लोग ही, वैदिक धर्म का खण्डन करने के कारण, पाखण्ड (पाखण्डी) कहलाते हैं। उपर्युक्त स्मृति-द्वारा लक्षित पाखण्डियों के साथ जो लोग सम्बन्ध रखते हैं उनका कष्ट-प्राप्त पूर्वज्ञान भी नष्ट हो जाता है, फिर बेचारे साध्य (प्राप्य) ज्ञान की तो चर्चा बहुत दूर की बात है। उपदेश-स्मृति में लिखा है कि हे तात ! पाखण्डी के पास जाना तो दूर रहा, ऐसी बात मन में भी न लावे; क्योंकि पाखण्डी से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्ति का ज्ञान कच्चे घड़े में भरे हुए पानी की भाँति शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। आचार्य विज्ञानेश्वर ने उपर्युक्त वचन के 'पाखण्ड' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—वेद-विद्या-निष्णात विद्वानों तथा वयोवृद्ध लोगों की मण्डली मे आदर न पानेवाला आश्रमी व्यक्ति ही पाखण्डी है। इस पक्ष में उक्त व्यक्ति द्वारा गृहीत आश्रम ही पाखण्ड पद का अर्थ है। पाखण्ड पद से इन् प्रत्यय करने पर पाखण्डी शब्द सिद्ध होता है। जैन, बुद्ध, कापालिक, नग्न, स्वैर, मुण्डिक, कर्णपाटक आदि ही पाखण्डी हैं। यही लोग कलि के सच्चे पुत्र हैं। आजकल के नीच ब्राह्मणों, हीन क्षत्रियों एवं अन्य मूर्ख लोगों से महत्त्व पा तथा अति विश्वासी श्रद्धालुओं से भी पूजित हो सद्धर्म और सत्पुरुषों के द्वेषी बनकर ये नीच अपने पिता कलि को प्रसन्न करने के फेर में रहते हैं।

अन्तश्शाक्ता बहिश्शैवाः सभामध्ये तु वैष्णवाः ।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले ॥

इत्युक्तविधा वाममार्गगा अपि त्रयीविरोधित्वादमीष्वेवान्तर्भूताः फल्गवः फक्कन्ति । अमीभिः सह यत्किञ्चित्सहजं भाषणमपि महानर्थकरत्वेन विगर्हितं नानाख्यानैरितिहासपुराणादिषु ।

आपद्गतोऽपि श्रेयोऽर्थी न पाखण्डमुपव्रजेत् ।
क्षणार्द्धमपि तत्सङ्गः सुकृतं हन्ति सर्वशः ॥

इत्यादिश्रीविष्णुपुराणे तृतीयांशचरमाध्याये सेयं कथा मुनिजनैरन्यत्र चोपगीता—

प्रकाशतामङ्गिरसोऽन्ववायो जगत्सु नीतः प्रमतेन येन ।
निष्णातमाम्नायविचारणायां गिराम्पतिं देवगुरुं तमीडे ॥

पूर्वं किल भूतले चक्रवर्ती सत्यसन्धः सत्प्रियो राजा शतधनुर्नामत आसीत् । तस्य महिषी च शिबिदेशराजकुमारी शैब्या नाम पतिव्रताशिरोमणिः । तावुभौ परमधार्म्मिकौ महाभागवतौ च । एकदा कार्तिक्यामुपोषितयोरमरधुनीमवगाह्य दम्पत्योस्तयोस्ततोऽवतरतोः सतोः कश्चित्पाखण्डोऽभिमुखमाजगाम । राज्ञी तं दृष्ट्वा सूर्य्यं निरीक्ष्य निमीलिताक्षी मौनिनी जजाप । राजा तु पाखण्डोऽयमिति जानन्नपि मम धनुर्विद्यागुरोः सखा पुनरभाषितस्तस्मै कथयेत्स च मे कुप्येदिति शङ्कितः कुत आगतः कदा वेति किञ्चिदाललाप ।

हृदय से शाक्त, बाहर से शैव, और सभा में वैष्णव बन जानेवाले कौल—नास्तिक लोग—तरह-तरह के रूप बदलकर संसार मे विचरा करते हैं। इस प्रकार के वाममार्गी भी, वेद के विरोधी होने से, पाखण्डियों के ही अन्तर्गत हैं। इन लोगों की बड़ी दुर्गति होती है। इन लोगो के साथ साधारणत: बातचीत करने को भी अनर्थकारी समझकर इतिहास-पुराणादि में अनेकों आख्यानों के द्वारा उसकी निन्दा की गई है। श्रेयोऽभिलाषी को चाहिए कि विपत्ति-ग्रस्त होने पर भी पाखण्ड का आश्रय न ले; क्योंकि आध क्षण के लिये भी पाखण्डियों के संसर्ग में रहना सुकृत का नाशक है। ऐसा विष्णु पुराण में, तृतीयांश के अन्तिम अध्याय में, कहा है। मुनियों ने अन्यत्र भी

कहा है। जिनके द्वारा संसार में अङ्गिरा-कुल की विशेष ख्याति हुई तथा जो वेद-विचार-निष्णात एवं वागीश्वर कहे जाते हैं, उन प्रसन्नचित्त देवगुरु बृहस्पतिजी को मेरा प्रणाम है।

शतधनु नाम के एक चक्रवर्ती राजा हो गये हैं। वे बड़े ही सत्यप्रतिज्ञ थे। सभी भले आदमी उनको आदरणीय एवं परम प्रिय समझते थे। उनकी महारानी का नाम शैब्या था। वह शिबि देश की राजकुमारी तथा बड़ी ही पतिव्रता थी। राजा और रानी दोनों ही अत्यन्त धर्मपरायण तथा परम भगवद्भक्त थे। एक बार दोनों व्यक्ति कार्तिक की पूर्णिमा के दिन उपवास-व्रत लेकर गङ्गा-स्नान करने गये। राजा-रानी स्नान करके ज्योंही बाहर निकले त्योंही एक पाखण्डी सामने आ गया उसको देखते ही रानी ने आँखें बन्द कर लीं और मौन होकर सूर्यनारायण का जप करना शुरू कर दिया। किन्तु राजा ने सामने आये हुए व्यक्ति को पाखण्डी जानकर भी, अपने धनुर्विद्या-शिक्षक का मित्र समझ, यह सोचा कि यदि मैं इससे न बोलूँगा तो यह मेरे गुरुजी के पास जाकर चुगली करेगा और वे क्रुद्ध हो जायेंगे। अतः उसने इसी डर से पूर्वोक्त पाखण्डी के साथ—कहाँ से आये और कब आये, यह—थोड़ी सी बातचीत कर ली।

दुर्दैवचोदितोऽकस्मात्पाखण्डालापकैतवात्।
राजा बीजमिवावाप्सीन्निजानर्थतरोः कटोः॥

ततो भूयसा कालेन गच्छता शतधनुः कदाचित्केनचिदरिणा रणायाहूतस्तदीयदलकदनं कृत्वा तमरिं निजिघांसुस्तेनैव खड्गाभिहतः सार्व्वभौमो वीरशय्यां प्रपेदे। चक्रवर्तिनी शैब्या च तमादाय चितामन्वारुरोह। अथ स्वकीयपुण्यजितागण्यसुखाभोगभोगोत्तमलोकगमनाय विमानमिममारोहतु भवती पुलोमजेशादेशादिति देवदूतगदितं निशम्य लिङ्गदेहमुपगता सा तत इतः स्वकान्तमनालोकयन्ती किमेतदिति मनसा किमपि समालोच्य पतिं विनाऽहं न गच्छामीति सयानं देवदूतं निवर्त्य पातिव्रत्येन परमया भगवद्भक्त्या च सिद्धजन्मा जातिस्मरा स्वधर्वोद्धिधीर्षया पूर्वजयुगलावरजा काशिराजकन्या बभूव।

अभागे राजा ने उस पाखण्डी से बातचीत क्या की मानो बातचीत के बहाने अपने लिये अनर्थरूपी कटुवृक्ष का बीज ही एकाएक बो दिया।

बहुत दिन बीतने पर एक समय महाराज शतधनु के किसी शत्रु ने, बहुत सी सेना साथ ले, उनको युद्ध के लिये ललकारा। महाराज ने भी जमकर शत्रु से लोहा लिया और उसकी समस्त सेना को काट डाला। इसके बाद वे अपने शत्रु को मारना ही चाहते थे कि शत्रु ने उन पर तलवार का वार कर दिया। इससे घायल होकर वे वीरगति को प्राप्त हुए। महारानी शैब्या पति के शव के साथ सती हो गईं। सती होने के पश्चात् लिङ्ग शरीर-धारिणी महारानी शैब्या से देवदूत ने कहा—महारानीजी! देवाधिपति इन्द्र की आज्ञा है कि आप अपने पुण्यों द्वारा प्राप्त, असंख्य सुखमय सामग्रियों से परिपूर्ण, श्रेष्ठ लोकों में चलने के लिये इस विमान पर चढ़ें; अत: इस पर सवार हो जाइए। यह सुनकर महारानी शैब्या ने महाराज को खोजने के लिये इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई किन्तु उन्हें न पाया। तब उन्होंने सोचा कि बात क्या है। कुछ भी हो, मैं पतिदेव को साथ लिये बिना नहीं जा सकती। बस, रानी ने विमान समेत देवदूत को लौटा दिया और स्वयं पति-परायणा होकर भगवद्भक्ति करने लगी। ऐसा करते करते सिद्धावस्था में पहुँचकर उसने पूर्व जन्म की घटनाओं के स्मरण की शक्ति प्राप्त कर ली। तत्पश्चात् उस रानी ने अपने स्वामी का उद्धार करने की इच्छा से प्रेरित होकर, काशिराज के घर में, दो पुत्र होने के बाद तीसरी सन्तान कन्या के रूप में जन्म लिया।

शारदशुक्लसुधाकरकलेवानुदिनमेधमाना मनोविनोदितनूजननीजनकयोरग्रजयोरन्येषां च निरुपमप्रेमवल्लीवोल्लास। अन्यबालकविलक्षणबालचरितैर्मातरपितरावतीव सन्तोषयामास। तौ च समस्तोत्तमगुणलक्षणसम्पन्नां तां कन्यामियं देवकन्येव द्युतिमती बुद्धिमती च इति विद्यावतीं नामतश्चक्राते। एकदैकान्त आसीना नरपतिनन्दना जपसमये भगवति वनमालिनि मनः प्रणिधाय मत्प्राणनाथः कुत्र कथमास्त इति विमृशती भो भगवन् पत्युः स्थितिमहं जिज्ञासे। दिदृक्षे च पतिमित्येतद्भगवानेवानुकम्पतामिति विज्ञाप्य सपदि लब्धया ज्ञानदृशा वैदिशाख्यनगरे श्वानं जातं पतिमवजगाम। तावता पाखण्डापचारेण कृतं पत्युरनन्तसुकृतसश्चयोदयव्यासेधं च बुबुधे।

वह कन्या शरद् ऋतु के शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कला के समान प्रतिदिन बढ़ने लगी। जो उसे देखता था वही मुग्ध हो जाता था। माता-पिता, दोनों भाइयों तथा अन्य लोगों के लिये तो राजकुमारी निरुपम प्रेमलता के

समान ही थी। अन्य बालकों की अपेक्षा उसके विलक्षण व्यवहारों को देखकर माता-पिता को बड़ी प्रसन्नता होती थी। माता-पिता ने उत्तम गुणवती सुलक्षणा कन्या को देवकन्या के समान सुन्दर तथा बुद्धिमती जानकर उसका नाम विद्यावती रक्खा। एक बार वह एकान्त में बैठ वनमाला पहन रहे भगवान् में मन लगाकर प्रार्थना करने लगी कि 'हे भगवन्! मेरे प्राणनाथ इस समय कहाँ, किस दशा में हैं; मैं उनके दर्शन करना चाहती हूँ। [तुलसीकुन्द-मन्दारपारिजातसरोरुहैः। एभिर्विनिर्मिता माला वनमाला प्रकीर्तिता॥—तुलसी, कुन्द, मन्दार, पारिजात, कमल इनसे बनाई माला का नाम 'वनमाला' है।] आप मुझ पर दया करें।' इस प्रकार भगवान् की प्रार्थना करने से उसको शीघ्र ही ज्ञान-दृष्टि प्राप्त हो गई। उसने देखा कि उसके पति ने वैदिश नाम के नगर में कुत्ते की योनि में जन्म लिया है। उसने यह भी जान लिया कि थोड़े से पाखण्डमय आचरण के कारण ही मेरे स्वामी की यह दुर्गति हुई है तथा वे अपने अनन्त पुण्यों की फल-प्राप्ति से वञ्चित हो गये हैं।

हा हा कष्टमिति मुहुर्मुहुरुद्रिच्यमानशोकतिमिरसरसि निमग्ना निजमनोहरविरहधूमकेतुधूपितधूसरशुष्कतनूश्चकम्पे वातविधूतेव कदली। यथोपदेशं गुरवः सेविताः। अमलीमसेन मनसा देवताः सम्मानिताः। पात्रेषु श्रद्धया वितीर्णा रायः। अप्रमादमनुष्ठितः कुलवधूधर्म्मः। सुहृदः सत्कृताः। दीनो जनोऽनुकम्पितः। मनसाऽपि न वृजिनमाचरितम्। हन्त केन पुनः पाप्मना प्रक्षिप्ताऽस्मि दुस्तरदुरितार्णवे। वेदशास्त्रदेवताविद्वदादि सर्वं मिथ्या किम्। न। दैवमेवात्र कारणं मन्ये।

हता तवेहा धिगहो विधे त्वां वेदप्रणीतैर्निखिलैर्मखैस्तैः।
यज्ज्वानमेवं कृतवानसीति बाष्पाविलाक्षी विललाप बाला॥

मुहूर्तमाप च मूर्च्छाम्। क्षणं समाश्वस्य मन्त्रयति स्वगतम्। नन्वियं मन्दजनालम्बिनी बुद्धिविलोपिनी विक्लवता दूरतस्तावदपयातु। नैनां प्रशंसन्ति सन्तः। यतोऽधुनोपस्थितः कर्तव्यविशेषः। स च बुद्धिसाध्यः। बुद्धिर्बुद्धिमतो मन्त्रीति हि वदन्ति विदन्तः।

पति की दुर्गति का ध्यान करने से विद्यावती के मुँह से सहसा हाय-हाय की दुःखमय ध्वनि निकल पड़ी और वह, थोड़ी देर के लिये, अथाह शोकसागर में डुबकियाँ लेने लगी। पति के विरहानल की ज्वालाओं से झुलसकर उसका

शरीर पीला तथा सूखकर काँटा हो गया था। वह अपने स्वामी के असीम क्लेशों को सोचकर, वायु-विकम्पित केले के पेड़ की भाँति, काँप उठी। उसने कहा—'मैंने गुरुजनों तथा शुभचिन्तकों का यथाविधि आदर-सत्कार किया, विशुद्ध हृदय से देवताओं की आराधना की, श्रद्धा के साथ सत्पात्रों को दान दिया, कुलवधुओं के योग्य सभी कर्तव्यों का पूरा-पूरा पालन किया, दीन-दुखियों पर दया दिखाई, पाप के करने की बात दूर रही, उसको मन में भी स्थान नहीं दिया। किन्तु हाय! न जाने मेरे कौन से पाप ने मुझे इस दुस्तर दुःखसागर में लाकर डुबो दिया। क्या वेद, शास्त्र, देवता और विद्वान् आदि सब झूठे हैं! नहीं, यह नहीं हो सकता। मेरी समझ से मेरे समस्त दुःखों का एकमात्र कारण मेरी खोटी तक़दीर है।' इसके अनन्तर 'हे दुर्दैव! तुझे धिक्कार है! वेदशास्त्रों के अनुसार अनेक यज्ञ-याग प्रभृति के करने पर भी मेरे स्वामी को तूने इस प्रकार कुत्ते की योनि में डाल दिया। तेरी इस नीचता की जितनी निन्दा की जाय, थोड़ी है'—इस प्रकार रोती-कलपती हुई वह मुहूर्त मात्र के लिये मूर्च्छित हो गई। किन्तु क्षण भर के बाद ही सचेत होकर वह मन ही मन कहने लगी कि यह व्याकुलता (जिसके चक्कर में इस समय मैं पड़ गई हूँ) प्राणी की बुद्धि का नाश कर देती है; इसके जाल में तो अज्ञानी लोग फँसते हैं। विचारशील व्यक्ति इससे सदा बचे रहते हैं। अतः इसे दूर करना चाहिए; क्योंकि सभी विवेकी पुरुष इसकी निन्दा करते हैं। मेरे कर्तव्य-पालन का समय तो अभी आया है, और उस कर्तव्य-पालन की पूर्त्ति केवल बुद्धि के द्वारा ही हो सकती है। इसी लिये विद्वान् लोग यह कहकर बुद्धि की प्रशंसा करते हैं कि प्राणी की बुद्धि ही उसको परामर्शदाता का काम देती है।

अपि चोक्तम्—

सङ्कटे समनुप्राप्ते यस्य बुद्धिर्विजृम्भते।
स एव तरते दुर्गं जलस्थो वानरो यथा॥ इति।

अतोऽहमपि मनः समाधाय स्वबुद्धिमेव देवतां समाश्रये। यां प्रयच्छति भगवान्दीनवत्सलो विश्वसाक्षी कमलाक्षीरमणः। प्रकाशम्—

गोविन्द कमलाकान्त दयालय भयापह।
सन्त्रातुमेक एवासि त्वमेनामनुगामिनीम्॥

इति सर्वात्मना भगवन्तं प्रपद्य प्रकृतिं गता विदुषी।

प्राणेश्वरं हन्त दुरन्तदुःखाग्रावन्स्वबुद्ध्या न समुद्धरामि ।
तावज्जगत्यां गतिरेव नष्टा के नाम भोगा मम दुर्भगायाः ॥ १ ॥
विनाकृताहं भुवि नायकेन किमर्थमश्नामि विविश्नमन्नम् ।
चैलानि चीनानि चिनोमि कस्मै बिभर्मि भर्तुर्मणिभूषणानि ॥ २ ॥

कहा भी है—जो व्यक्ति सङ्कटों के पड़ने पर सोच-विचारकर काम करता है वह सङ्कटों से उसी प्रकार मुक्त हो जाता है जिस प्रकार बन्दर, बुद्धि से काम लेने पर, डूबने से बच गया था। अतः मैं भी इस घोर सङ्कट के समय एकाग्रचित्त हो बुद्धिरूप देवता का ही आश्रय लेती हूँ। सङ्कट पड़ने पर प्राणी को बुद्धि-देवता का आश्रय दीनवत्सल, विश्व के साक्षी, जगदीश्वर की ओर से ही प्राप्त होता है।

इसके पश्चात् वह प्रकट रूप से 'लक्ष्मीपति! गोविन्द! आप दया के भाण्डार तथा सङ्कटमोचन करनेवाले हैं, अतः भगवन्! इस दासी को सङ्कटों से बचाइए। इस समय केवल आप ही मेरी रक्षा कर सकते हैं'—इस प्रकार मन, वाणी एवं कर्म के द्वारा भगवान् का स्मरण करने से कुछ शान्त होकर कहने लगी कि यदि मैं अपनी बुद्धि द्वारा अपने स्वामी का दुरन्त दुःखों से उद्धार न कर सकूँ तो इस संसार में मेरा जन्म लेना व्यर्थ है। मुझ अभागिनी के लिये सांसारिक सुख-भोग किस काम के? प्राणनाथ के वियोग में सुस्वादु भोजन करने और बहुमूल्य वस्त्रों के धारण करने से क्या लाभ? मणिखचित, सुवर्णमय आभूषणों को मैं क्यों पहनूँ?

इति प्रतिज्ञाय निश्चलनिश्चया तत्रेतिकर्त्तव्यतां निर्दधार। काशिराजस्तु समासन्नयौवनां तामाकलय्य तद्विवाहार्थमुद्युयुजे। सा च तदालक्ष्य यावत्तीर्थाभिषेकैः कायशुद्धिं न विदधामि तावद्विरमतु मत्संबन्धविधित्सेति सखीद्वारा विवाहं निवार्य तीर्थयात्रायै पितरमनुज्ञां ययाचे। आबालकालादेव देवपूजाजपध्यानादिनियमवर्तां सुतां जानानो दुहितृवत्सलः पिता च भवतु तावदेवं मत्कुलालंकृतिरेषा प्रियतनया यथा वदति तथा करोमीति पुरोहितसहितगजवाजिरथशिबिरशिबिकासेवकसेनोपकरणानि प्रदायानुमेने।

ऐसी प्रतिज्ञा करने के पश्चात् उसने दृढ़ निश्चय के साथ अपना कर्तव्य भी स्थिर कर लिया। इधर कन्या को सयानी होती देखकर काशिराज उसके

विवाह का उद्योग करने लगे। विद्यावती ने यह सब जानकर एक सखी के द्वारा पिता के पास यह सँदेसा भेजा कि मैं जब तक तीर्थस्नान द्वारा देह को शुद्ध न कर लूँ तब तक आप मेरे विवाह की तैयारियों को रोक दें और मुझे तीर्थ-यात्रा के लिये अनुमति दें। पुत्री के बाल्यकाल से ही उसके देवपूजन, जप, ध्यान तथा यम-नियम आदि के अनुष्ठान से पिता भली भाँति परिचित थे; अतएव दुहिता-वत्सल काशिनरेश ने अपने कुल के लिये अलङ्कार-स्वरूप प्रिय पुत्री की बात मान ली और हाथी, घोड़े, रथ, डेरे-तम्बू, पालकी, नौकर-चाकर एवं बहुत सी सेना साथ करके पुरोहित की देख-रेख में उसको तीर्थ-यात्रा की आज्ञा दे दी।

अथ सुमुहूर्तविहितप्रयाणा विद्यावती तत्र तत्र तीर्थेषु पतिगतिमुद्दिश्य द्विजातिभ्यो नाना दानभोजनानि ददानाऽह्नाय वैदिशनगरमुपेत्य तं श्वानं परिचय्य पतिस्नेहपरवशा स्वयमेकान्ते मिष्टान्नपक्वान्नादिवराहारं भक्षयामास। यथेष्टमभक्षितपूर्वतद्भक्षणहृष्टो धृष्टोऽसौ तस्याः पुरस्तात्कुङ्कुङ्शब्दनजिह्वाललनलांगूलचालनादिश्वजातिचेष्टामचकारीत्। सा तु यः पुरा केलिगतः कामशास्त्रकल्पितसाकूतविलोकनपरिहसनमधुरेङ्गितगदनचुम्बनावगूहनादिललितबहलकन्तुकलाभिरात्मानं रमयति तस्य तादृशचेष्टादर्शनव्रीडया साचीकृतनीचीनमुखी मनसि दुःखिता दीर्घं निश्श्वस्य कुयोनिगतोऽपि मत्पतिरेवेति सादरं तं प्रणम्य कृताञ्जलिरवनता शनकैरिति होवाच—

पिता से आज्ञा पाते ही विद्यावती ने शुभ मुहूर्त में तीर्थ-यात्रा के लिये प्रस्थान कर दिया। मार्ग में पड़नेवाले तीर्थों में, अपने स्वामी के उद्धार के लिये, वह ब्राह्मणों को भोजन कराती तथा दान-दक्षिणा देती हुई शीघ्र ही 'वैदिश' नगर में जा पहुँची। वहाँ पहुँचते ही उसने नौकर-चाकरों के द्वारा कुत्ते की योनि में पड़े हुए अपने स्वामी का पता लगाया। तदनन्तर वह प्रेमवश हो तरह-तरह के बढ़िया भोजन लेकर उसके पास गई और उसे एकान्त में अपने हाथों से खिलाया-पिलाया। विद्यावती के द्वारा उत्तम-उत्तम पदार्थ खाकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ और ढिठाई के साथ उसके सामने कूँ-कूँ करने, जीभ निकालने तथा पूँछ हिलाने लगा। इस प्रकार उस कुत्ते ने अपनी जाति के योग्य और भी बहुत सी चेष्टाएँ प्रकट कीं। कुत्ते की उन चेष्टाओं को देखकर वह सोचने लगी कि ये वे ही मेरे प्राणनाथ हैं जो पूर्वजन्म में कामक्रीड़ा करते

समय कामशास्त्र में वर्णित तिरछी चितवन, मन्द मुसकान, मधुर भावभङ्गी, प्रेमालाप, चुम्बन और आलिङ्गन आदि मनोहर काम-कलाओं द्वारा स्वयं आनन्द लेते और मुझे भी आनन्दित करते थे। उनकी ऐसी दुर्दशा देखकर मारे लज्जा के उसने अपना मुख नीचा कर लिया। मन में अत्यन्त दुःखित हो उसने एक दुःख भरी लम्बी साँस ली। उसने सोचा कि यद्यपि ये इस समय कुत्ते की नीच योनि में हैं तथापि हैं तो मेरे स्वामी ही। अतः उसने उसे आदर-पूर्वक प्रणाम किया। वह हाथ जोड़, नतमस्तक होकर, धीरे-धीरे इस प्रकार कहने लगी—

प्रसादं वाञ्छन्तः पदकमलयोः प्रह्वशिरसो
नृपा दासीभूता जलधिवलयादा खलु पुरा।
हरन्तेऽमी यस्मै बलिमिह यशोधामनिधये
महाराजः सम्राट् स हि शतधनुस्त्वं श्रुतगुणः ॥ १ ॥
द्वितीयाऽहं शैब्या पदपरिचरी ते सुरसरि-
ज्जले जातु स्नात्वा हरिचरणपूजोद्यतमतेः।
तदाभागादागात् पुरत उत पाखण्डहतक-
स्तदालापात्पापात्पुमृषभ गतोऽसीदृशदशाम् ॥ २ ॥

तदलमनया श्वचेष्टया। भो महाराज निर्लेपमुज्ज्वलमगुणमविकार-ममृतमेकमखण्डमात्मानमिदानीं स्मर्तुमर्हसीति विद्यावती विरराम।

'पतिदेव! आप वे ही महाराज चक्रवर्ती शतधनु हैं जिनके सद्गुणों की ख्याति किसी समय चारों ओर फैली हुई थी, जिनके यश की पताका दिग्दिगन्त में फहरा रही थी, जो तेजस्विता की निधि समझे जाते थे और पृथ्वी भर के राजा लोग दासों के समान सिर झुकाकर कभी जिनको कर दिया करते थे। मैं भी पूर्वजन्म की आपकी चरणसेविका शैब्या हूँ। पूर्वजन्म में आप एक बार गङ्गास्नान करने के पश्चात् भगवत्पूजा की तैयारी कर रहे थे कि दुर्भाग्यवश उसी समय एक नीच पाखण्डी आ गया। हे पुरुष-पुङ्गव! आपने उस पापी से थोड़ी सी बातचीत कर ली। बस, उसी पाप के कारण आपकी यह दुर्गति हुई है। महाराज! कुत्ते की चेष्टाओं को छोड़िए और अब निर्लेप, तेजोमय, निर्गुण, निर्विकार, अमृतस्वरूप, अद्वितीय तथा अखण्ड भगवान् का स्मरण कीजिए।' यह कहकर विद्यावती चुप हो गई।

तदाकर्ण्य तस्याः प्रभावादवबुद्धवानसावधोमुखो दुस्सहनिर्वेददहनदन्दह्यमानस्सत्वरं पुरान्निर्गत्य विदिशानामनद्यां मरुप्रपातं निपत्य श्ववपुस्तत्याज। मनस्विनी सा च वाराणसीम्प्रतीयाय। अनन्तरं स तु कोलाहलाचले शृगालतामथ कुत्रचिन्महत्यामटव्यां वृकतां पुनर्गृध्रतां ततःकाकतां च क्रमाल्लेभे। दिव्यदृष्टिर्विद्यावती च तीर्थयात्राव्याजेन वर्षे वर्षे तत्र तत्र गत्वा तथा तथैव प्रसादं वाञ्छन्त इत्यादि पद्यद्वयं पठित्वा तत्तज्जन्म स्मारयित्वा तत्तद्वपुस्त्याजयामास। तत्र शृगालवृकौ प्रायोपवेशेन देहं जहतुर्गृध्रकाकावाकाशात्सुदूरतः सङ्कुचितपक्षौ पिण्डीभूतावधोमुखौ महतो वेगादगाधपायसि ह्रदे निमज्ज्येति।

यह सुनते ही विद्यावती के पुण्य प्रताप से महाराज को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया और उन्होंने लाज के मारे मुख नीचा कर लिया तथा अपनी दुर्दशा के दु:सह दु:ख से दु:खित हो झटपट नगर के बाहर जाकर विदिशा नाम की नदी में एक ऊँचे स्थान से कूदकर कुत्ते की योनि का परित्याग कर दिया। इसके बाद विद्यावती काशी लौट आई। कुत्ते का शरीर छोड़ने पर राजा कोलाहल नामक पर्वत पर तो शृगाल तथा अन्यत्र भेड़िये, गिद्ध और कौवे की योनि में जन्म लेकर बहुत काल तक भटकते रहे। दिव्य दृष्टिवाली विद्यावती को सब हाल मालूम हो जाता था; अत: वह तीर्थयात्रा के बहाने प्रतिवर्ष उन स्थानों में जाती और पूर्ववत् उनकी प्राचीन महिमा की याद दिला-दिलाकर अतीत जन्म का स्मरण कराके शृगाल आदि की योनियाँ छुड़ावती रही। राजा ने शृगाल एवं भेड़िये की योनियों को तो अनशन के द्वारा तथा गिद्ध-कौवे की योनियों को पंख समेट, पिण्डीभूत हो, आकाश में उड़ते हुए, नीचे मुँह करके अत्यन्त दूर से बड़े वेग के साथ एक अथाह जल से भरे तालाब में गिरकर छोड़ा।

ततः षष्ठे जन्मनि मालवेषु मयूरं जातमानीय लालनपालनपरा स्वसमीपे स्थापितवती किमतः परं करोमीति विचारयन्ती। अस्मिन्नेवावसरे खलु पुत्रार्थी जनको राजा क्रतुराजं वाजिमेधं जह्नुतनयातीरे समारेभे। वरुणासङ्गमसन्निधावादिकेशवक्षेत्रे तस्य देवयजनं दिदीपे। परिपुस्फुरुः सुवर्णपात्राणि सर्वाणि। तत्राश्वमेधविधानज्ञा महर्षिकल्पा महीदेवाः सुवर्णलाङ्गलकर्षणादिभिर्वसुधां विशोध्य मन्त्रदीक्षासंस्कारपूर्वकं विनयावनतं सकलत्रं पुत्रकामं जनकं यथाविधि याजयाम्बभूवः।

तदुपरान्त छठे जन्म में राजा ने मालव देश में मोर का जन्म लिया। विद्यावती पहले की भाँति ही गई और उस मोर को अपने साथ लाई तथा पास रखकर उसका पालन-पोषण करने लगी। अब वह अपने आगामी कर्तव्य का विचार करने लगी।

इसी बीच राजा जनक ने पुत्र-प्राप्ति के लिये गङ्गा-किनारे अश्वमेध नाम का महायज्ञ करना आरम्भ किया। वरुणा-सङ्गम के समीप, पवित्र आदिकेशव तीर्थ में, उस महायज्ञ की धूम मच गई। सभी यज्ञपात्र सोने के थे। अश्वमेध की विधि के मर्मज्ञ, महर्षि-सदृश ब्राह्मणों ने सुवर्णमय हल से जोत-जातकर भूमि को शुद्ध किया। तत्पश्चात् विनीत, पुत्र-प्राप्ति के इच्छुक, राजा जनक को पत्नी समेत मन्त्र-दीक्षा देकर वे उनसे विधिपूर्वक यज्ञ कराने लगे।

यत्र नेत्रगोचरा नाकचरा हव्यैः पितरः कव्यैर्ऋषय इज्याभागै-र्ब्राह्मणा दक्षिणाभिराज्यदधिदुग्धरसालादिनानारसोपेतसूपौदनपरमान्न-मोदकभेदं फेनिकापूपघृतपूरादिप्रकारविशेषव्यञ्जनसन्धानखाण्डवादिसमी-चीनभोजनैः सर्व एव सन्तुतुषुः। इतो दशमे मासि महाराजवंशधर आत्म-भूस्तव भूयादिति मुदितानामध्वर्य्युप्रतिप्रस्थातृहोतृब्रह्मोद्गातृप्रयाजानु-याजसदस्यादीनामृत्विजां तत्र यजमानश्रवणरुचिरा वाचोऽश्रूयन्त। ता वाचोऽनुमोदमाना दिवौकसोऽपि सुरकुसुमैरवाकिरञ्जनकम्। तदवभृथस्नान-समये विद्यावती सकलजगदघराशिनाशितरङ्गशालिनीं गङ्गाम्प्रतिगता। तत्रैवारात्स्वयं स्नान्ती जनकात्मजोऽयं भूयादिति सङ्कल्प्य तं मयूरं च स्नपयाञ्चकार। तदैव तया सिद्धयोगिन्या पूर्वोक्तश्लोकद्वयं षड्जन्मोदन्तं च बोधितः सोऽति निर्विण्ण सद्यश्चतुर्भुजचरणसरोजपरागपवित्रवारिणि मायूरीं तनुमुत्सृज्य तस्य जनकस्यैव तनुजोऽजनिष्ट लसद्विशिष्टकान्तिक-मनश्चन्द्रमा इव पयःपयोराशेः। हर्षप्रकर्षधर्षितैरितस्ततः सञ्चरद्भिरसुमद्भि-रनेकमङ्गलाचारतौर्यत्रिकसमाचिता जनकनगरी नृत्यन्तीव रराज। तेन हि जातमात्रेण जन्ममुहूर्तमहागुणसम्पत्त्या दम्पत्योरात्मनोः पौरजानपदानां च मनांसि वचनागोचरमुल्लासमानीतानीति मुदितो जनकस्तनुजस्य तस्या-भिधानं धर्म्मध्वज इत्यकरोत्।

देवता लोग शरीर धारण कर उस यज्ञ में आये और उन्होंने सबके सामने अपना यज्ञभाग (हव्य) ग्रहण कर परम प्रसन्नता प्रकट की। पितरों तथा

ऋत्विजों ने भी अपना-अपना भाग (कव्य आदि) पाकर सन्तोष दिखलाया। दूध, दही, घी, आम आदि के रसों से युक्त दाल, भात, खीर, लड्डू, फेनी, मालपूआ, पूरी-कचौरी और चीनी आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्तम-उत्तम पदार्थों के भोजन और भरपूर दान दक्षिणा पाने से ब्राह्मण भी आनन्दित हो रहे थे। यज्ञ के अवसर पर आये हुए सभी लोगों को भोजन आदि द्वारा सन्तुष्ट किया गया। यज्ञ समाप्त होने पर राजा जनक के द्वारा किये गये आदर-सत्कार से प्रसन्न हुए अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, होता, ब्रह्मा, उद्गाता, प्रयाज-अनुयाज और सदस्य आदि याज्ञिक कर्मकाण्डियों ने उनको आशीर्वाद दिया कि आज से लेकर दस महीने बीतने पर आपको अवश्यमेव पुत्र-प्राप्ति होगी। पूर्वोक्त याज्ञिकों के आशीर्वाद का अनुमोदन करते हुए देवताओं ने राजा जनक के ऊपर आकाश से पुष्पवर्षा की।

उनके यज्ञान्त-स्नान के समय विद्यावती भी, अपने पालतू मोर को साथ लेकर, गङ्गा-किनारे जा पहुँची। उसने राजा जनक के समीप में ही स्नान करते-करते 'यह मोर अगले जन्म में महाराज जनक का पुत्र हो' ऐसा सङ्कल्प करके मोर को भी स्नान कराकर पिछले छहों जन्मों का स्मरण दिलाया। पूर्वजन्मों की बातों की याद आते ही उसने खिन्न हो गङ्गाजी में डूबकर मोर की देह त्याग दी। उसने राजा जनक के घर पुत्र के रूप में उसी प्रकार जन्म लिया जिस प्रकार समुद्र से चन्द्रमा उत्पन्न होता है। राजकुमार के उत्पन्न होने का समाचार बात की बात में चारों ओर फैल गया। राजधानी के लोग आनन्द-विभोर हो घूम-घूमकर नाचने-गाने लगे, बधाई के बाजे बजने आरम्भ हो गये, तरह-तरह के मङ्गलाचार होने लगे। उस समय प्रजा की ओर से होनेवाले आनन्द-महोत्सवों की चहल-पहल देखते ही बनती थी। उस बालक के शुभ मुहूर्त में उत्पन्न होने तथा श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न होने के कारण माता-पिता और समस्त प्रजा के हृदयों में एक अलौकिक आनन्द का सञ्चार हो गया। अतएव महाराज जनक ने, प्रसन्न होकर, उस बालक का नाम 'धर्मध्वज' रक्खा।

स हि धर्म्मध्वजो मातापितृभ्यां सुतरामुपलाल्यमानो बाल्य एव नयविनयनियतोऽखिलजनवत्सलो गुरुजनप्रियोऽनायासत एव सकृदुच्चारितग्राही चतस्रो विद्याः समायत्तीकृत्य कैशोरीं दशां निनाय। अथ तत्त्वजम्मुखी दिव्यशेमुषी काशिराजकन्या ननु सम्प्रति मया वरणीयः

स्वरमणो जनकसूनुरेव। अतस्तमाहूयोद्वाहं प्रवर्तयामि। स्वयँम्वरं वा। आद्ये विवाहमात्रं भवेत्। द्वितीये तु सर्वे राजानो मत्तातमन्दिरमायान्तीति शोभा महती। पुनश्च मासमात्रं दानमानभोजनादिभिः सत्कृतास्ते यावज्जीवं शाश्वतीं मत्पितुः कीर्त्तिं गास्यन्ति। राजकन्यानां स्वयँम्वरः प्रशस्त एवेति विचारसुमुखी सखीभिः पितरमावेदयत्स्वयँम्वरार्थमाहूयन्तामखिल-महीपालकुलनन्दना इति। प्रीतिमानुमापतिपत्तनेशोऽपि स्वयँम्वरमहोत्सव-नानाकौतुकविधानपुरस्सरं सत्वरतुरङ्गमगैर्दूतैः क्षितिपतिकुलसुभगानागम-याम्बभूव।

माता-पिता का दुलारा होने पर भी बालक धर्मध्वज अत्यन्त विनीत और अनेक सद्गुणों से सम्पन्न था; फलतः वह सभी को प्यारा लगता था। गुरुजन भी उस पर बड़ा स्नेह रखते थे। इन्हीं सब कारणों से तथा अपनी कुशाग्र बुद्धि के बल पर उसने सहज में ही चारों विद्याएँ प्राप्त कर लीं और बाल्यावस्था को लाँघकर युवावस्था में पैर रक्खा। दिव्य बुद्धिवाली विद्यावती ने अपनी दिव्य दृष्टि से पूर्वोक्त राजकुमार का सब हाल जान लिया और सोचा कि अब तो मुझे राजा जनक के राजकुमार धर्मध्वज को ही पति के रूप में वरण करना चाहिए। अतः वह इस दुबिधा में पड़ गई कि राजकुमार को बुलाकर विवाह कर लूँ अथवा स्वयंवर का आयोजन कराऊँ। किन्तु पहली बात के करने से विवाह तो अवश्य हो जायगा पर अन्य कुछ लाभ न होगा, और यदि स्वयंवर का आयोजन कराती हूँ तो बहुत से राजा-महाराजा मेरे पिता की ड्योढ़ी की शोभा बढ़ायेंगे। दूसरे एक लाभ यह भी होगा कि स्वयंवर में आगत पूर्वोक्त राजा-महाराजा—एक महीने तक लगातार दान, मान और भोजन आदि के द्वारा सम्मानित होकर—जन्म भर मेरे पिता के अनश्वर यश का गान करेंगे। इन्हीं बातों का विचार कर उसने अपनी सखियों के द्वारा पिता से कहलाया कि वे स्वयंवर के लिये सब देशों के राजकुमारों को आमन्त्रित करें। काशी-नरेश ने भी प्रसन्नतापूर्वक पुत्री की प्रार्थना स्वीकार कर ली और दूतों को स्वयंवर-महोत्सव के साज-सामान से सुसज्जित कर एवं वेगगामी अश्व देकर उनके द्वारा समस्त श्रेष्ठ-श्रेष्ठ राजकुमारों को स्वयंवर में आने के लिये निमन्त्रित किया।

तदनु गच्छामस्तावत्। देवीमिव काशीदेवदुहितरं लप्स्यामह इति कृतसङ्कल्पाः प्रमुदिताः स्वधर्मवर्तिनः कुलपरम्परागतनिजनिजराज्यपरि-

पालनलब्धनिर्मलकीर्तयः प्रसिद्धकुलशीलबलवीर्यगुणप्रभावाः स्वपक्षमानवर्द्धनाः परपक्षविमर्दना यज्वानो यायजूकाः प्रभूतदातारः पुरस्कृतगुरुपुरोधसः समृद्धमातङ्गतुरङ्गस्यन्दनसैन्यपरिवृता भेरीकाहलघोषमुखरीकृतदिगन्तराः सर्वं एव भूमिपुरन्दरनन्दनाः स्वस्वदेशतो वाराणसीमभिगम्य पुरे विविशुः। तदानीं समस्तराज्यमयी श्रीविश्वेश्वरनगरी देवमयी द्यौरिव काशी चकाशे।

स्वयंवर का समाचार पाते ही सभी देशों के राजकुमार हाथी, घोड़े, रथ और सेनाओं को साथ ले, भेरी काहल आदि बाजों के शब्दों से दिग्दिगन्त को मुखरित करते हुए, अपने-अपने गुरुजनों तथा पुरोहितों समेत स्वदेश से चलकर काशी आ पहुँचे। वे सब के सब स्वधर्म-परायण, कुलीन, शीलवान्, बलवान्, पराक्रमी, गुणी, प्रभावशाली, वदान्य, अपने-अपने कुल की प्रतिष्ठा के वर्धक और शत्रुओं का मान मर्दन करनेवाले थे। कुल-परम्परा-प्राप्त अपने-अपने राज्यों का पालन करने के कारण चारों ओर उनकी विमल कीर्त्ति फैली हुई थी। सभी सत्कर्मनिष्ठ और यज्ञ-याग करनेवाले थे। काशिराज की देवबालासदृश सर्वाङ्गसुन्दरी राजकुमारी की प्राप्ति के दृढ़ सङ्कल्प से सबके मन में प्रसन्नता छाई हुई थी। समस्त राजाओं और राजकुमारों से परिपूर्ण काशी नगरी देवमण्डली-मण्डित अमरपुरी के समान शोभा पा रही थी।

ततो महामतिरन्नपूर्णाप्रसादपरिपूर्णविभूतिः सम्भृतभूरिसम्भारः काशीनरेशस्तानभिसृत्य परमप्रेमविह्वलो गद्गद्भाषणो यथान्यायं तेषां सत्कारमादरातिरेकभरितं चरीकराञ्चकार।

भगवती अन्नपूर्णा की कृपा से धन-धान्य-सम्पन्न महामति काशी-नरेश ने सब प्रकार की सत्कार-सामग्री साथ ले आगत राजाओं और राजकुमारों आदि के पास जाकर प्रेमपूर्वक गद्गद कण्ठ से वार्तालाप करते हुए, यथोचित रीति से, आदर के साथ सबका स्वागत-सत्कार किया।

अथ नानाशिल्पकलनाकुशलशिल्पिभिरभिरमणीयतयोपकल्पिते परिसर्पत्परिमलसमाह्लादनचन्दनसलिलसंसिक्ते अभिनवकुसुमदामावलिभिरलङ्कृते सुसुरभिकालागुरुधूपिते स्फुरत्सुवर्णतोरणमण्डिते परितोऽपि दध्यक्षतबदरबलिसंवलितमुक्तोज्ज्वलतण्डुलपुञ्जोपरिभृतविशदवस्त्रवेष्टित-

पञ्चपल्लवोपेतमुखदीप्यमानदीपशातकुम्भकलशैः सदलरसालपूगपोतरम्भास्तम्भातिसमुच्छ्रितशतपर्वदण्डशतैश्च विशोभमाने अथर्वज्ञपुरोहितहुतसमिदाज्याहुतिसुमुखप्रदक्षिणावर्तवीतिहोत्रवितर्दिविमर्दितामङ्गले दोधूयमानमहोत्सेधसुधवलध्वजसितासितलोहितपीतपताकापरीते प्रेक्षागारगवाक्षादिगतसीमन्तिनीततिसकुतूहलविलोक्यमाने कौतुकोत्फुल्लनयनजनसमुदायसमाकुले सूतमागधवन्दिमुखरवमुखरीकृते सौरभेयीसिन्धुरसैन्धवसुस्वनसमुन्नीतमङ्गले सुरसचिवसमानगायनमधुरगानमनोहरे नृत्यदभिरामवृन्दसुन्दरीसरसकटाक्षपातचमत्कृते दरमुरलीमृदङ्गानकघनपणवादिवाद्यसमुन्नादिते कलानिधिमण्डलधवलरुचिरोल्लोचसमुल्लासिते विस्तीर्णविचित्रतरास्तरणमहोपधाने धरणीधरकुमाराक्रान्तकाञ्चनमञ्चशतसङ्कुले स्वयँव्वरसमाजरङ्गवाटे एलानलदजलदसारसुवासितवारिसुस्नाता सदामोदद्रवसाधितमृदुलनीलविशालकेशी कस्तूरीकेशरचन्दनचारुविलिप्तकोमलाङ्गी रत्नोत्तमरचितनानाभूषणविभूषिता षोडशवर्षदेशीया पटवासरसाक्तपटान्तरव्यज्यमानघनतुङ्गस्तनकमलकुड्मलयुगला समानरूपवयोवयस्याजनपरिवारिता पुरस्सरया कनकयष्टिधरया पुंवेशया प्रतिहारिकया चातुर्य्यविशेषगम्भीरसुस्वरसमुदीर्यमाणसकलभूपालकुलगोत्रनामकर्मगुणप्रभावा मङ्गलरङ्गसुरञ्जितमृदुलदुकूलसँव्वीताऽपि पटतन्तुरन्ध्रविनिर्गच्छदच्छदीप्तिविशेषच्छटाजटाला महीतलगतविद्युल्लतेव विलोकमानजनविलोचनकनीनिकाधनमभिमुष्णन्ती किञ्चिदाननाञ्चलपटतटमपनीय तरलतरदृगपाङ्गरिङ्गिलीलया राजकुमारकुलमाकलयन्ती गतिविलासकौशलोल्लसन्मञ्जुलमञ्जीरकङ्कणकिङ्किणीक्वणितैरभिमुखनिखिलनृपतिकुमारकर्णविवरेषु किमपि रसायनमिव विकिरन्ती वरनिमित्तविरचितसुजातरत्नखचितकाञ्चनमालां करकमले दधती सती सुदती विद्यावती पतिँव्वरा पुरन्दरसुन्दरीसुन्दरमन्दारलता मन्दमन्दमवततार ।

इसके पश्चात् षोड़शी राजकुमारी विद्यावती ने इलायची, खस और कपूर द्वारा सुवासित जल से स्नान करके सुगन्धित तेल से अपने सुकोमल, काले-काले, लम्बे-लम्बे केशों को सँवारा; सुन्दर सुकुमार अङ्गों में केसर, कस्तूरी एवं चन्दन भली भाँति लगाया और बढ़िया-बढ़िया हीरे-जवाहरात से जड़े आभूषणों

तथा बहुमूल्य रेशमी वस्त्रों को पहना। तदनन्तर अपने ही समान सुन्दरी, वय में बराबर की सखी-सहेलियों के साथ उस राजकुमारी ने कर-कमलों में वरमाला लिये हुए, मन्द-मन्द गति से, स्वयंवर-समाज में प्रवेश किया। स्वयंवर-समाज को बड़े-बड़े कला-कुशल शिल्पियों ने बनाया था। वहाँ उत्तम सुगन्धित चन्दन के जल से छिड़काव किया गया था; फूलों की मालाएँ चारों ओर लटक रही थीं; काले अगर की सुरभि से सारा स्वयंवर-समाज सुगन्धित हो रहा था; सुवर्णमय बन्दनवार शोभा बढ़ा रहे थे; दही अक्षत बेर बलि से युक्त, चावलों के ऊपर स्थापित, श्वेतवस्त्र-वेष्टित, पञ्चपल्लव-शोभित, सोने के कलशों के मुखों पर प्रदीप जल रहे थे। जगह-जगह सौ गाँठवाले, ऊँचे-ऊँचे कदली-स्तम्भ गड़े थे जिन पर आम के पत्ते तथा सुपारियाँ बँधी थीं; अथर्ववेद के ज्ञाता पुरोहितों के द्वारा समिधा समेत आहुतियों से प्रदीप्त, कुण्ड की प्रदक्षिणावर्त अग्नियाँ अमङ्गल के नाश की सूचना दे रही थीं। जहाँ-वहाँ काली, पीली, लाल, सफ़ेद पताकाएँ और बड़े-बड़े झण्डे फहरा रहे थे। उत्सव की छटा का आनन्द लेने के लिये बनाये गये स्थानों की खिड़कियों में बैठी हुई कुलाङ्गनाएँ बड़े कुतूहल के साथ तमाशा देख रही थीं। विशेष कुतूहल होने के कारण वहाँ के सभी लोगों की आँखों से प्रसन्नता टपकी पड़ती थी। सूत, मागध और बन्दीजन गुण-गान कर रहे थे। गौओं और हाथी-घोड़ों का शब्द आनेवाले कल्याण को जता रहा था। गन्धर्वों के समान सङ्गीत-कुशल गवैयों का सङ्गीत सुननेवालों के मन को हठात् अपनी ओर खींच रहा था। अप्सराओं के सदृश सुन्दरी नाचनेवाली वाराङ्गनाओं की मधुर चितवन तो और भी चमत्कार दिखा रही थी। शंख, मुरली, मृदङ्ग, आनक, घन, पणव आदि सुन्दर बाजों की ध्वनि गूँज रही थी। चन्द्रमण्डल के तुल्य धवल, मनोहर चँदोवे चारों ओर तने थे। बड़े-बड़े, रङ्ग-बिरङ्गे आसनों पर भारी-भारी तकिये लगे हुए थे। राजा और राजकुमार सुवर्णमय सिंहासनों पर बैठे थे। स्वयंवर-समाज में विद्यावती के प्रवेश करते ही, आगे-आगे चलनेवाली, पुरुष-वेषधारिणी, एक प्रतिहारी (द्वाररक्षक स्त्री) हाथ में सुवर्णमय दण्ड लिये हुए उसके सामने, स्वयंवर में पधारे हुए राजाओं के कुल, गोत्र, नाम, कार्य तथा प्रभाव का बड़ी चतुरता के साथ उच्च स्वर से वर्णन करती जाती थी। काशिराज-कुमारी यद्यपि मङ्गलमय रङ्ग के, बहुमूल्य रेशमी वस्त्र पहने थी तथापि बारीक वस्त्रों के द्वारा उसके पयोधर आदि सुन्दर अङ्गों की अपूर्व आभा स्पष्ट रूप से

झलक रही थी। अतएव देखनेवालों को वह आकाश से भूतल पर अवतीर्ण चमकीली चञ्चला सी जान पड़ती थी। सभी लोग टकटकी बाँधे उसकी ओर देख रहे थे। उनकी यह दशा देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो उनके नेत्रों की पुतलियों को स्वयं विद्यावती ने चुरा लिया है। उसकी, घूँघट में छिपी, चञ्चल चितवन पर सब के सब राजकुमार मुग्ध थे। उसके मनोहर नूपुरों, कङ्कणों तथा घुँघुरुओं का शब्द तो सुननेवाले राजकुमारों के कानों के लिये अलौकिक रसायन का सा काम कर रहा था।

तदनन्तरन्ते नरवरनन्दनास्तदीयदर्शनजनितमनोमदनाविर्भावमधुराकृतयः सौन्दर्य्यसौकुमार्यशालिनवयौवनोद्दीपितशोभाऽतिशयाः पराद्ध्यवासांसि वसाना हारकेयूरमुकुटकुण्डलमण्डिताः प्रभिन्नकरटाः करटिनः करिणीमिव मत्तवृषभा वृषस्यन्तीं गामिव तामहमिकया विलोकयामासुः। महैश्वर्य्यभाजां तेषामात्मन एवोत्कर्षनिश्चयात्किल विद्यावतीं विलोभयितुकामानां कामाधीनचेतसां चेष्टा विविधा बभूवुः। तथा हि। एतस्मिन्वक्षसि सम्प्राप्ता नूनमहं महापुरुषवक्षसि रमेव रमेय निरातङ्कमनपायिनीति निश्चिन्विति भाववानेकोऽसकृदरुणपाणितलेन वक्षः स्पृशति।

स्वयंवर-समारोह में आगत सभी राजकुमार स्वभावतः सुन्दर, सुकुमार, बहुमूल्यवस्त्रधारी, हार केयूर-मुकुट कुण्डल आदि अलङ्कारों से अलकृत और नवयुवक थे; किन्तु अमरलोक की मन्दारलता-सदृश सुन्दरी को देखकर मन में उत्पन्न मदनावेश के कारण वे और भी अधिक शोभाशाली प्रतीत होने लगे। विद्यावती के देखने के लिये उन लोगों में, हथिनी का पीछा करनेवाले मतवाले हाथी और गाय का पीछा करनेवाले साँड़ की भाँति, होड़ सी लगी थी। वे सभी कामातुर थे। प्रत्येक राजकुमार औरों की अपेक्षा अपने को ही सम्पत्ति तथा सुन्दरता आदि गुणों में श्रेष्ठ समझता तथा विद्यावती को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता था। अतः कामावेश में आकर वे अपने-अपने मनोभावों को इस प्रकार प्रकट करने लगे—कोई राजकुमार मन ही मन कहने लगा कि सुन्दरी! यदि तुम मेरे साथ विवाह कर लो तो निर्भय और सब तरह से निरापद हो जाओगी तथा यह भी निश्चय रूप से समझ लो कि मैं तुमको उसी प्रकार प्रसन्न रक्खूँगा जिस प्रकार विष्णु भगवान् लक्ष्मी को आनन्दित रखते हैं। इसी अभिप्राय से उसने अपनी छाती पर एक बार हाथ फेरा।

एतदङ्गसङ्गना सानन्दमिन्दुमौलिनैकीभूय गौरीव गौरि त्वमनघसुख-सौभाग्यमुपयास्यसीत्याशयवानन्यः पौनःपुन्येन सव्यबाहुमूलात्कटिपर्यन्त-मपसव्यकरतलं व्यापारयति ।

दूसरा यह समझकर, दहिने हाथ को बायें हाथ की बगल से लेकर कटिभाग तक बार-बार फेरने लगा कि गौराङ्गी! मुझे पतिरूप से वर लेने पर तुम वैसे ही भरपूर सौभाग्य-सुख भोगोगी जैसे महादेवजी के साथ रहकर पार्वतीजी भोगती हैं।

मामधिगतवती भवती मालेवातिवेलमबले गलविलग्नैव रंस्यते नि-काममित्यभिसन्धिमानपरः सातत्येन मुक्तावलीमान्दोलयति ।

तीसरा यह विचार कर अपने गले में पड़ी हुई मोतियों की माला को हिलाने लगा कि वरानने! यदि तुमने मुझे स्वीकार कर लिया तो इस माला के समान ही तुम मेरे गले से लिपटी रहकर सदा जीवन का आनन्द लूटोगी।

पूर्णपुरुषलक्षणः कामिनीनां कामयितुमुचित एकोऽहमस्मि । मदनादरे तु मदनागमसुखपरिचय एव दुर्लभ इत्यभिप्रायवान्सुन्दरश्मश्रुरितरो मुहुः श्मश्रूणि परामृशति ।

चौथा अपनी दाढ़ी और मूँछों पर इस उद्देश्य से ताव देने लगा—कोम-लाङ्गी! स्त्रियों को चाहिए कि विष्णु भगवान् के तुल्य सर्वलक्षण-सम्पन्न व्यक्ति को पतिरूप से स्वीकार करें। ऐसी दशा में इस स्वयंवर-समाज के बीच केवल मैं एक व्यक्ति हूँ जिसको सर्वलक्षणों से सम्पन्न कहा जा सकता है। अब यदि तुम मुझे न वरकर किसी अन्य को वरोगी तो युवावस्था का आनन्द लेना तुम्हारे लिये सर्वथा दुर्लभ होगा।

द्वापरं दूरीकृत्य मामेव वृतवतीं भवतीमनेकप्रकारकल्पितकेलिकला-कौतुकैरेवमहं रमयितास्मीत्याशयवानन्तः पूर्वापरानुसन्धानशून्यो बहिरुत्फु-ल्लस्वभाव आत्मानं तया वृतमेव मन्वानः कश्चन सखिभिः सह सङ्कथनकै-तवेन नर्तितभ्रूयुगलः किञ्चिदाननं व्यादाय चपलमुपरितनदशनैरधरमा-क्रम्य साक्षिसन्निकोचं भोगिभोगसुभगौ बाहू व्यायम्य नयने तत इत उत्फाल्य हाहीति हसति ।

पाँचवाँ हँसमुख स्वभाव का विवेकशून्य राजकुमार अपने मन में कहने लगा कि राजकुमारी! अपने हृदय में किसी प्रकार की दुविधा को स्थान न देकर यदि तुमने

मुझे ही अपना पति बनाया तो मेरे साथ रहकर अनेक प्रकार की काम-क्रीड़ाओं के द्वारा सब तरह का आनन्द पाओगी। वह अपनी मूर्खतावश यह समझकर कि मुझे तो यह अश्वमेव वर लेगी, मित्रों के साथ बातचीत करने के बहाने भ्रू-भङ्गी द्वारा मुख को थोड़ा सा फैला एवं ऊपर के दाँतों से नीचे के होंठ को दबाकर आँखें मींच अँगड़ाई लेने के बाद आँखों को खोल खिलखिलाकर हँस पड़ा।

उत्तमवनिताविलोकनजनितमन्मथमथितचेतनस्तरुणतरः कश्चिदपरः सखे पश्य तावत्। अहह शृणु शृणु मत्पुण्यपरिणामप्रणयिनियतिनिर्णीतं मद्भणितम्। ननु कोऽत्र सन्देहः। युक्तमेवैतत्। यतः अनन्यसदृशान्ववाय-जन्मसमानैश्वर्य्यसौन्दर्य्यशौर्यौदार्यदयादाक्षिण्यादिसर्वोत्कृष्टगुणगणार्णव-तया भुवनविश्रुते खलु मय्येव मतिमति मतिमती मतिमतीव चिरादभिनि-वेशितवती मदितरविमुखी प्रमदारत्नरूपेयं कुरङ्गशावकायताक्षी मामेव लक्ष्यीकृत्य समुपैति।

छठा काशिराज की कन्या को देख कामातुर होकर अपने किसी अन्त-रङ्ग मित्र से कहने लगा—मित्र! मेरी बात सुनो; क्योंकि ऐसी बात बड़े भाग्य से सुनने को मिलती है। स्त्रीश्रेष्ठ, मृगलोचनी, बुद्धिमती विद्यावती को प्राप्त करने का गौरव आज मुझे ही मिलेगा यह बिल्कुल निश्चित है। होना भी यही चाहिए; क्योंकि मैं अपने ऐश्वर्य, सौन्दर्य, शूरता, उदारता, चातुरी प्रभृति सर्वोत्तम गुणों के कारण वैसी ही पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका हूँ जैसी सर्वश्रेष्ठ वंश में जन्म लेने पर प्राप्त हुई थी। अतएव मेरे विषय में खूब विचार करने के पश्चात् वह मुझे अपने योग्य समझकर सीधी मेरी ओर चली आ रही है; मुझको छोड़ किसी दूसरे राजकुमार की ओर आँख उठाकर देखती तक नहीं।

स्वप्नेऽप्यद्य मयालिङ्गिता चुम्बिता रमिता च। निश्शङ्कमदङ्कगतामेवै-नामवधारयेति वदन्नुत्सङ्गनिवेशितोत्तानकिञ्चिदाभुग्नललिताङ्गुलिपल्लवौ करावुभयतोऽभिनयन्निव विस्तृतवक्षा उन्नीतकन्धरः फुल्लनिःस्पन्दलोचनः साभिमानमीलितोष्ठपुटकः शनकैस्ताम्बूलमन्तश्चर्वयति पश्यति चादर्शम्। एवमनेकविधमसौ राजराजी तद्गतमना जघटे।

मित्रवर! इतना ही क्यों? मैं तो आज रात्रि को स्वप्न में इसके साथ आलिङ्गन, चुम्बन तथा विहार भी कर चुका हूँ। इसलिये अब तो इसे मेरी गोद में बैठी के बराबर समझो; इसमें मीन-मेख के लिये जगह ही नहीं। इतना कहने

के बाद चौड़ी छातीवाला वह राजकुमार गोदी में सीधे रक्खे किञ्चिद्कुञ्चाकार-अङ्गुलि-युक्त हाथों से अभिनय सा करते हुए, निर्निमेष दृष्टि से गर्दन ऊँची कर अभिमान के साथ होठों को बन्द करके, धीरे-धीरे पान चबाता और शीशे में अपना मुख देखता जाता था।—स्वयंवर-समाज में बैठे राजकुमारों ने इस प्रकार विद्यावती के सौन्दर्य और उसकी प्राप्ति-आशा को मन में रखकर अनेक प्रकार की चेष्टाएँ तथा मनोभाव प्रकट किये।

श्रीमान्धर्म्मद्ध्वज उदधिवत्तत्र गाम्भीर्यशोभी
सौम्याकृत्या जनजनितमुत्कान्तिमान्कामतुल्य: ।
दीप्तं तेजो नरवरसभाच्छादि बिभ्रत्स एक-
स्तेषां मध्ये दिनमणिरिव भ्राजते स्म ग्रहाणाम् ॥ १ ॥
आलोच्य समुदञ्चन्तौ दृग्भुजावमकृन्निजौ ।
दक्षिणौ लक्षणाभिज्ञो रेजे राजेन्द्रनन्दन: ॥ २ ॥

सर्वेषु तेषु पुनरनङ्गसङ्गतेषु विलासिनीकुलकल्पलता चारुहासिनी मत्तकाशिनी काशिकेशकिशोरी शारदारविन्दवदना बत बत सेयं तरुणी गतिजितकरिणी कटिजितकेसरिणी दृग्जितहरिणी रोहिणीवामृतकिरण-मिह वृणीत मामेव निजानुरूपम्। इयं कुलकल्याणी हृदयरमणी ममैवेति मन्यमानेषु सत्सु तर्कपथातीतचरिता नियतिरितरथैवाचचार। तथा हि—

वहाँ पर राजकुमारों के बीच में, समुद्र के समान गम्भीर, सौम्याकृति, कामदेव के तुल्य सुन्दर, तेजस्वी राजकुमार धर्मध्वज भी बैठे थे। जो कोई उनको देखता वही प्रसन्न हो जाता था। समस्त स्वयंवर-समाज पर उनके प्रखर तेज की छाप लगी हुई थी। राजकुमारों के बीच बैठे धर्मध्वज, ग्रह मण्डली के मध्य में विराजमान प्रचण्ड मार्तण्ड के समान, जगमगा रहे थे। शुभ लक्षणों के मर्मज्ञ राजकुमार धर्मध्वज सहसा दक्षिण भुजा और आँख को बार-म्बार फड़कते देखकर मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे। प्रत्येक राजकुमार कामावेश में आकर यही समझ रहा था कि युवतियों की सिरमौर, चारुहासिनी, स्त्रियों में श्रेष्ठ, कमलवदनी, गजगामिनी, कृशाङ्गी, मृगनयनी, कुलकल्याणी, मनमोहनी काशिराजकुमारी मेरे ही योग्य है। यह मुझे अपने अनुरूप जानकर मेरे सिवा दूसरे को उसी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकती जिस प्रकार रोहिणी चन्द्रमा को छोड़ किसी दूसरे को नहीं चाहती। इधर ये लोग मन के

लड्डू खाने में मस्त थे, उधर कुछ और ही हो गया। भला दैवगति को कौन जान सकता है?

अतीत्य यं यं जनकार्थिनी पुरः ससार सा चारुविराविनूपुरा।
स सोऽलसोऽलब्ध नृपो मुखश्रियं दिनोडुचूडामणिमण्डलोपमाम्॥

सानन्दमानन्दकाननकेसरिकुमारी पुरुषपारीन्द्रमिन्द्रसमानवर्चसं सप्तमजन्मनि जनकौरसतां गतं तमेव निजरमणं समुपेत्य शालीनतया किञ्चिदाकुञ्चितनीलोत्पलविलोचना चञ्चदमलकुटिलनीलकुन्तला स्मितविलसदिन्दुसुन्दरवदना रसालकिसलयललितकोमलकरयुगला झटिति नूबरत्नमालामथ तदीयकण्ठदेशावलम्बिनीं विधाय विद्यावती विनयमुकुलीकृताञ्जलिरधोमुखी वामपार्श्वतो धर्म्मध्वजदेवमुपतस्थे।

तभी तो मनोहर ध्वनिमय नूपुर आदि आभूषणों से विभूषित विद्यावती, राजकुमार धर्मध्वज की खोज में, जिस किसी राजकुमार के समीप से होकर निकली वह वैसे ही हतश्री हो गया जैसे दिन में चन्द्रमा की शोभा जाती रहती है। काशिराज की कन्या विद्यावती सबको पीछे छोड़कर पुरुषसिंह, इन्द्र के तुल्य तेजस्वी, सातवें जन्म में राजा जनक के पुत्ररूप से उत्पन्न, पूर्वजन्म के स्वामी राजकुमार धर्मध्वज के पास पहुँची। उस समय मारे लाज के उसने आँखें नीची कर लीं और मुसकुराते-मुसकुराते जल्दी से नूतन रत्नमयी वरमाला को राजकुमार के गले में डालकर उनके वामभाग में विनयपूर्वक हाथ जोड़ मुख नीचा करके खड़ी हो गई।

यथा देवदानवमनुमुनिमानवदितिजेषु साभिलाषेषु सत्सु पुरा पुराणपुरुषमेव पयोरत्नाकरकुमारी। तदा तावदितरेतरसंसर्गसुखलब्धावसरकुसुमशरसमावेशवशतः स्वेदशीतलाङ्गुलिदलतनूरुहोद्गमविलसत्तनू तावुभावति शुशुभाते। ततः सामाजिकजनजन्मा सुमहान्साधुवादो विहायसं विजगाहे। नभोगतवैमानिकनिकरकरविकीर्णा तत्र पपात पुष्पवृष्टिः।

जिस प्रकार देवता, दानव, मनु, मुनि, मानव और राक्षस आदि सभी चाहते थे कि लक्ष्मी हमारे साथ विवाह करे किन्तु इन सब के रहते हुए भी उसने भगवान् विष्णु को ही वरण किया, उसी प्रकार विद्यावती ने अन्य राजकुमारों की उपस्थिति में यदि धर्मध्वज को ही पतिरूप में चुना तो ठीक ही किया। दोनों परस्पर मिलते ही कामवासना के वशीभूत हो पसीने से नहा

गये। उन्हें रोमाञ्च हो आया। दर्शकों के साधुवाद (शाबाशी) की ध्वनि आकाश में गूँजने लगी। देवताओं ने भी वर-वधू पर आकाश से पुष्प-वर्षा की।

यद्यपि स्वयँव्वरे राजन्याः कन्यया वृतमन्यमसहमाना युद्धं विधाय दुर्बलश्चेदसौ कन्यामाच्छिद्य गच्छन्ति, तथापीह तु विद्यावती योगमाया-वैभवादथ च विहृतकवाटशतधनुष्कसमुपार्जितभूरिपुण्यभारप्रकाशधर्मध्वज-प्रभावाच्च पुनरेकत्र सङ्गतौ प्रभञ्जनधनञ्जयाविव जनककाशीपती विग्रह-दुःसहौ वितर्क्य सौमनस्यसमुज्झितासदीहतयाऽऽत्मीयसमानसम्मदापपन्नैः पृथिवीपतिभिरनुमोद्यमानः काशिराजो ग्रहशान्तिपूर्वकविवाहविधिना सहजस्नेहसंक्लिन्नमना बहुपारिबर्हदानैर्मासानन्तरं दुहितृजामातरौ मिथिलां प्रापयामास। तानपि जगतीपतीननुदिनगुणवदन्नभोजनमहाधनवस्त्रा-भरणवाहनादिभिः सत्कृत्य बहुमानपुरस्सरं सूनृतवादी विससर्ज।

प्रायः ऐसा होता है कि स्वयंवर में कन्या द्वारा वरण किया गया व्यक्ति यदि निर्बल हुआ तो उसकी सफलता से चिढ़े क्षत्रिय लोग लड़ाई छेड़ देते और उससे कन्या छीन ले जाते हैं। किन्तु विद्यावती के योगबल एवं धर्म-ध्वज के पूर्वजन्मोपार्जित पुण्यों के प्रभाव से तथा दुर्जेय काशिराज और राजा जनक को अग्नि-वायु के समान एकत्र जानकर, स्वयंवर में सम्मिलित ऐश्वर्य्य-शाली राजाओं ने काशिनरेश की कन्या के स्वयंवर-कार्य का प्रसन्नतापूर्वक हृदय से अनुमोदन किया। यह सब देखकर काशिराज को बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने ग्रह-शान्ति कराने के अनन्तर शुभ मुहूर्त्त मे यथाविधि विवाह-संस्कार कराकर एक महीने तक जामाता को अपने घर रक्खा। इसके बाद बहुत सा दान-दहेज देकर लड़की बिदा कर दी। काशिराज ने अन्यान्य राजाओं को भी प्रतिदिन के उत्तमोत्तम भोजन एवं बहुमूल्य वस्त्र-आभूषण, वाहन आदि द्वारा सम्मानित कर बड़े प्रेम और आदर के साथ बिदा देकर छुट्टी पाई।

अथ प्रवयस्तया तपसे वनं गच्छता जनकेन जनकेन समर्पितं विद्या-वतीसहायो धर्म्मध्वजो राज्यमधितष्ठौ। प्रजा धर्म्मेण परिपालयन्भूरि-दक्षिणैरुच्चावचैरध्वरैर्यज्ञपुरुषं भगवन्तं यजमानो देवऋषिपितृगोब्राह्मणा-दीन्यतर्पयाम्बभूव।

राजा जनक अपनी वृद्धावस्था देख विद्यावती समेत धर्मध्वज को राज-काज सौंपकर तपस्या करने के लिये वन को चले गये। राजा धर्मध्वज ने न्याय-पूर्वक प्रजा पालन करते समय अनेकों यज्ञों के द्वारा यजमानरूप से भगवान् यज्ञपुरुष का पूजन किया तथा खूब दान-दक्षिणा देकर देवताओं, ऋषियों, पितरों, गौओं और ब्राह्मणों आदि को सन्तुष्ट किया।

श्रीवेदव्यासदेवरातिप्रभृतियोगीन्द्रसान्द्रप्रसादाज्जन्मनैवाधिगतसदव-गमान्कुलपरम्परात एव कमलाकान्तपदानुरक्तान्स्वविषयवासिनश्चतुरोऽपि वर्णानवधारयन्परमभागवतः प्रसन्नतया सोमोपमः सोऽमोमोदीत्।

कुल-परम्परा से भगवद्भक्ति-परायण और श्रीव्यासदेव, देवराति प्रभृति योगीश्वरों की महती कृपा होने के कारण जन्मतः आत्मज्ञानी, चारों वर्णों की प्रजा का पालन करने में भगवद्भक्त चन्द्रमा के सदृश प्रसन्न एवं शान्तचित्त राजा धर्मध्वज दत्तचित्त हो गये।

पुराणकथाप्रस्तावान्तरेषु निजनिजधर्माभिरतिभगवद्भजनसमासक्तमनो-वृत्तिभिर्मामकैरिह युष्माभिरायुष्मद्भिरहमनुगृहीतोऽस्मि। स्वपुण्यगुप्तानां वः परिपालने कोऽपि न मम श्रमः। केवलं भागभागेवाहम्। यदस्मर-नैगमिकाः।

पुण्यषड्भागमादत्ते प्रजा धर्मेण पालयन्॥ इति।

वे लोगों को शुभ कर्मों की ओर अग्रसर करने के लिये कथा-वार्ता के सुअवसरों पर धर्मात्माओं और पुण्यात्माओं की प्रशंसा, मधुर शब्दों में आदर के साथ, प्रसन्नतापूर्वक यों किया करते थे—सज्जनो! आप सभी लोग अपने-अपने धर्म में रुचि रखनेवाले, भगवद्भजन के प्रेमी तथा वृद्ध हैं। मैं आप लोगों को अपना आत्मीय मानता हूँ। आपने प्रजापालन का जो महान् उत्तरदायित्व मुझे सौंपा है उसके लिये मैं आप सबका अनुगृहीत हूँ; क्योंकि अरक्षितों की न्यायानुसार रक्षा करना ही राजा का कर्तव्य ठहरा और आप लोग हैं अपने पुण्य-प्रताप से स्वतः सुरक्षित। फिर मैंने आप लोगों के लिये किया ही क्या है? इतने पर भी बिना किसी परिश्रम के मैं आपके पुण्यों के उस छठे भाग का भागी बन बैठा जिसको पाने का अधिकार तभी प्राप्त होता है जब राजा प्रजापालन में परिश्रम करे, जैसा कि शास्त्रज्ञ ऋषि-महर्षियों ने कहा है—

'प्रजा की धर्मपूर्वक रक्षा करने से राजा, रक्षित प्रजा के द्वारा सञ्चित, पुण्यों का छठा भाग ले लेता है।'

जन्मनः फलमेतावदेव ननु मनुष्यजातेः। यदकामकलुषया मनीषया भवापयापनाय नारायणचरणानुचरणमिति सहादरविहासमधुरगदितैस्तानभिनन्दति सदारो महोदारो निमिकुलनायकः। तमधिपतिमधिकर्द्धयः स्निग्धप्रकृतयः प्रकृतयः समुपासत वासवमिव वस्वादित्यरुद्रादयः। आस्थानगतः सभासद आभाष्य तदा तदा ब्रवीति चेदं सहर्षम्। अहो अवनिवनितामौलिभूता मत्पूर्वजनुषामियं गरीयसां नगरी नितराममरावतीमतिशेते। यदस्यां हीनयोनयोऽपि किल पिङ्गलाव्याधादयो माधवाराधनपराः परामगमन्पदवीम्। किमुतोज्ज्वलजन्मान इति दानमानैश्च तानहर्दिवमवर्द्धयत्। प्रभुत्वमन्त्रोत्साहसामदानभेददण्डसन्धिविग्रहादिनीतिशास्त्रदर्शितशक्त्युपायगुणप्रयोगनिपुणतया कलहे किलोभयतोऽनुजीविजनहिंसनमसाधु मन्यमानोऽसांशयिकः समभ्यस्तसमस्तविद्याविद्योतितोदग्रबुद्धिकौशलेनैव पूर्वप्रत्यर्थिनोऽपि वशीकृत्य काश्यपीं सपरिच्छदः सुकलः सुखं बुभुजे।

संसार-सागर के पार जाने (मुक्ति की प्राप्ति) के लिये विषय-वासनाओं से रहित विशुद्ध बुद्धि के द्वारा भगवद्भक्ति करने में ही मानव-जीवन की सफलता है। राजा धर्मध्वज बड़े ही उदार और न्यायप्रिय थे, अत: उनकी प्रजा भी धन-धान्य-सम्पन्न एवं स्वभावत: प्रसन्न थी। सारी प्रजा अपने राजा का उसी प्रकार आदर करती थी जिस प्रकार वसु, आदित्य, रुद्र प्रभृति देवता अमरराज इन्द्र की आराधना करते हैं। राजा धर्मध्वज समय-समय पर राजसभा में अपने सभासदों को सम्बोधित कर हर्षपूर्वक कहने लगते थे—'अहा मेरे पूजनीय पूर्वजों की यह नगरी समग्र भूमण्डल की मुकुटमणि तथा अमरावती से भी बढ़कर है; क्योंकि यहाँ पर पिङ्गला नाम की वेश्या एवं धर्मव्याध आदि जैसे व्यक्ति नीच योनि में जन्म लेने पर भी भगवद्भक्ति द्वारा परम पद तक प्राप्त कर चुके हैं। फिर उच्च कुलवालों का तो कहना ही क्या है!' इसी लिये वे सभासदों को दान-मान आदि के द्वारा सदा सन्तुष्ट रखते थे। नीतिशास्त्र में वर्णित शक्ति (प्रभुत्व, मन्त्र, उत्साह), उपाय (साम, दान, भेद, दण्ड) और गुण (सन्धि-विग्रह आदि) का प्रयोग करने में अत्यन्त

निपुण और आन्वीक्षिकी आदि समस्त विद्याओं के बड़े भारी पण्डित होने के कारण, युद्ध में पक्ष-विपक्ष सेनाओं के संहार को अनुचित समझकर वे केवल अपने असीम बुद्धि-कौशल के द्वारा सभी शत्रुओं को वश में करके, बड़े ठाठ-बाट के साथ राजसुख का उपभोग करने लगे।

उक्तं हि महाभारते—

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम्॥ इति।

न कोऽपि परिपन्थी तेजीयसा तेन योद्धुमैच्छत्। सुहृत्सम्बन्धिभिस्तु राजभिः साहाय्यमभियाचितो बाढमिति धर्म्मध्वजो महाराजो ध्वजकवचादिसाङ्ग्रामिकवेषविभूषितो गिरिशृङ्गतुङ्गरथमारुह्य चामरव्यजनातपत्रशोभितो महतीं चतुरङ्गिणीं पृतनां कर्षन्करितुरगरथपदातिपदाघातरयोद्धूतधूलिधूसरीकृतगगनदिगन्तरः प्रचण्डढक्काडिण्डिमैः सागराम्बरां कम्पयन्सङ्ग्रामाङ्गणगतो द्विषदविषह्यरोषव्यतिषक्ततेजोऽरुणिमदुर्निरीक्षणीयाकृती राम इव जामदग्न्यः परिघोद्दण्डदोर्दण्डभीषणस्तालमात्रमिष्वासमाकृष्य हर्यक्ष इवोद्गर्जन्नतिकुपितासिताशीविषदुस्सहनिशितशिलीमुखसंहतिभिरखिलमरिबलमविकलनिजबलपरिवृतो मिलदनिलदावानल इव यवफलगहनं ददाह।

महाभारत में कहा भी है—धनुष से निकले तीर द्वारा किसी का मारा जाना और बच जाना दोनों ही सम्भव हैं; अतः उससे किसी का मारा जाना निश्चित नहीं। और यदि तीर के द्वारा किसी न किसी के मारे जाने को निश्चित समझ लें तो भी इतना तो स्पष्ट है कि तीर की मार से केवल एक व्यक्ति के प्राण जायँगे। किन्तु यदि बुद्धि से काम लिया जाय तो वह विपक्षी राजा के साथ-साथ उसके समस्त राज्य को भी चौपट कर डालती है। इन्हीं बातों को सोचकर कोई भी शत्रु तेजस्वी धर्मध्वज के साथ युद्ध नहीं करना चाहता था। परन्तु यदि उनके हितैषी राजा लोग किसी समय सहायता माँगते तो वे तुरन्त स्वीकार कर लेते और ध्वजा-कवच आदि युद्धोपकरणों से सुसज्जित एवं छत्र, चँवर प्रभृति राज-चिह्नों से अलंकृत होकर, सुविशाल रथ पर सवार हो चतुरङ्गिणी प्रबल सेना को साथ ले हाथियों, घोड़ों तथा पैदल सैनिकों के पैरों की और रथों की धूलि से समस्त दिशाओं और आकाश-मण्डल को

धूसरित करते हुए चल पड़ते थे। उनके प्रचण्ड रण-वाद्यों की ध्वनि से सारा भूमण्डल काँप उठता था। समरभूमि में अपने सामने शत्रुओं को देखकर जब वे क्रोध से लाल हो जाते थे तब किसी को उनकी ओर आँख उठाकर देखने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। वे परशुरामजी की भाँति अपने प्रचण्ड भुजदण्डों की सहायता से बड़े भारी धनुष को खींचकर सिंहनाद के साथ-साथ, प्रकुपित, काले-काले विषधर सर्पों के तुल्य, असह्य तीखे बाणों के द्वारा शत्रुओं को उसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर डालते थे जिस प्रकार प्रबल दावानल आँधी की सहायता से घास-फूस आदि से भरे जङ्गल को जलाकर भस्म कर देता है।

अथ च निजामृतमयूखमुखीमुखतो विदितवृत्तान्तः प्रकुपितान्तःकरणो धरणीमण्डले सर्वोपायैरखण्डान्पाखण्डानुच्छेदमगमयत्। तेन द्यामिव पुण्यवतीं प्रभूरत्नगर्भामकार्षीत्। मनीषिजनमान्यो जनकजनपदवदान्यो वसुमतीशतमन्युरर्थिषु वसूनि ववर्ष वार्षिको वारिवाह इव। कामदेवकामिनीमिव ललनाललामतयोल्लसन्तीं वासन्तीलतामिव सुकुमारां पीवरतरतुङ्गपयोधरभरभङ्गुरकृशकटितटीं स्ववधूटीं कुसुमसायकरसरिरंसयोत्कलितमानसामाकलय्य मतिमदमात्यसमारोपितनरपतिविधेयो वसन्तादिषु ऋतुषु तुषारमन्दसुगन्धिगन्धवहाकम्पमानमनोज्ञफलपल्लवकुसुमस्तबकानतनूतनतरुलतेषु मत्तकोकिलकलकूजितजनितयुवजनमीनकेतनेषु प्रमदवनेषु हंससारसचक्रवाकादिशकुन्तकुलसन्नादितगुञ्जदलिपुञ्जविकचकञ्जरजःपिञ्जरीभूतभुवनेषु पद्माकरेषु विकसितविविधकुसुमकमनीयासु पुष्पवाटिकासु निर्मलगगनतारकापरीतविभावरीकरमरीचिकोमलासु त्रियामासु च तामभिरमयन्प्रमदमधुग्मुखाम्बुजो धर्मध्वजो विजहार।

उन्होंने चन्द्रवदनी विद्यावती के अनुरोध से क्रुद्ध होकर सभी प्रकार के उपायों से काम ले संसार भर से सम्पूर्ण पाखण्डों को मिटा दिया। ऐसा करने से पृथिवी पर स्वर्ग के समान फिर शुभ कर्मों की धारा बहने लगी। विद्वानों में उनका बड़ा सम्मान था। वे देश भर में सर्वश्रेष्ठ दानी माने जाते थे। लोग उनको भूतल का इन्द्र समझते थे। वे माँगनेवालों पर धन की वर्षा करके उनको उसी प्रकार सन्तुष्ट कर देते थे जिस प्रकार बरसात में बादल पानी बरसाकर पानी के इच्छुक प्राणियों को प्रसन्न कर देते हैं। रति के समान रूपवती, स्त्रियों की शिरोमणि, वासन्ती लता के तुल्य सुकुमार, पीवरस्तनी,

कृशाङ्गी विद्यावती को काम-क्रीड़ा के लिये उत्सुक जानकर महाराज धर्मध्वज अपने दूरदर्शी मन्त्रियों को राज-काज सौंप, विद्यावती को साथ ले, वसन्त आदि के दिनों में शीतल-मन्द-सुगन्धित समीर से हिल रहे मनोहर फल-फूलों के गुच्छों तथा नये-नये पत्तों के बोझ के कारण झुके, नवजात लता-वृक्षों से परिपूर्ण, मतवाली कोयलों की कूक से युवकों के हृदय में काम का सञ्चार करनेवाले, रानियों के विहार-योग्य उद्यानों में जाकर हंस, सारस, चक्रवाक आदि सुन्दर पक्षियों के कलरव तथा भौंरों की मधुर गुञ्जार से पूरित, खिले कमलों के पराग के कारण पीले हो रहे तालाबों के किनारे, तरह-तरह के फूलों से मनोहर पुष्प-वाटिकाओं में और निर्मल आकाश के नीचे चाँदनी रातों में अपनी प्यारी विद्यावती के साथ आनन्दपूर्वक विहार किया करते थे।

नायिकारत्नरूपा च सा रत्नसानुभृङ्गसुतुङ्गस्तनी गोस्तनीरसमसृण-गिरः सृजन्ती रिङ्खदपाङ्गलीलया दयितं तमतीव मोदयामास। रहसि च बहुविधकेलिकलाकलापहावभावललितक्ष्वेलिकादिविलासपेशलायां समानशीलायां परमप्रेमभाजि प्रियतमायां विद्यावत्यामात्मनोऽभिरूपान्पञ्च तनूजानजीजनद्भूतादिरिव पञ्च महाभूतानि।

सर्वोत्तम सुन्दरी विद्यावती भी प्रियतम को अपनी मधुर बातों और चञ्चल चितवन द्वारा पूर्णतया प्रसन्न रखती थी। हाव-भाव आदि काम-चेष्टाओं में चतुर, अपने अनुरूप, पतिपरायणा विद्यावती के गर्भ से रूप-गुण में अपने समान पाँच पुत्रों को राजा ने उसी प्रकार उत्पन्न किया जिस प्रकार पञ्चभूतों के कारण-स्वरूप, रूपरसादिमय, तन्मात्राओं से अग्नि आदि पञ्चभूतों की उत्पत्ति होती है।

इत्थं पृथ्वीं प्रशासतः शतक्रतोरिव प्रतापवतः शारदरजनीकरज्ज्योत्स्नाऽवदातकीर्तेः सकलविद्वज्जनैकसमाश्रयस्य तस्य परस्सहस्राः परिवत्सरा व्यतीयुः।

विद्वानों के एकमात्र आश्रयदाता, इन्द्र के सदृश प्रतापी तथा शरद् ऋतु के चन्द्रमा की चाँदनी की भाँति उज्ज्वल कीर्त्तिधारी राजा धर्म्मध्वज को पूर्वोक्त रीति से शासन करते एक हज़ार वर्ष से कुछ अधिक समय बीत गया।

अथ भोगेन पुण्यक्षयमभोगेन पापक्षयं च कुर्वन्तौ चिरोपभुक्तविषयविषविपण्णौ गुणवत्सु पुत्रेषु राजधुरामवतार्य भगवदेकमनस्कौ मनस्वि-

नावनुसवनसमेधमानभक्तियोगवेगावभञ्जितकषायौ भगवद्भावनया प्रतिदिनसमर्च्यमानैर्भगवद्धर्म्माध्वनिष्णातैः पुरुषविशेषैः समं समयं गमयन्तौ प्रवयसौ परमनिर्वेदमापन्नौ तपोवनगमनव्यवसितमती जायापती विद्यावतीधर्मध्वजावेकदा विहिताह्निकावह्नाय भगवन्नैदेशिकोपस्थापितं सुपर्णलक्षणं भास्करसहस्रभास्वरं कार्तस्वरं विमानवरमग्रतो विलोक्य समुत्त्यासनतः परमपुरुषपारिषदानभिवाद्य सम्मदोदञ्चदश्रुकलाकुलदृशौ संभ्रमकम्पितौ यथाविधि तानभिसम्पूज्य तैरनुज्ञातौ ब्राह्मणैः कृतमङ्गलौ प्रदक्षिणीकृतं विमानमधिरुह्य दिव्याद्भुतरूपधारिणौ श्रीलक्ष्मीनारायणाविव दिशः प्रकाशयन्तौ सदद्भ्रादरमभिवीक्षमाणेषु सार्घ्यपात्रपाणिषु गीर्वाणगणेषु कौतूहलपारिप्लवलोचनासु सन्तानकुसुमानि सस्मितमवकिरन्तीषु विबुधवधूषु च देवादिलोकानतीत्य दशदशगुणोत्तरपृथिव्यादिप्रधानावसानाष्टतत्त्वावरणं काण्डकटाहमुद्दिश्य सद्य एव तद्विष्णोः परमं पदमपश्यतां सूरी । यदधिगम्य न पुनरावर्तन्ते जना जनार्दनाधीशाः । इति तत्र तत्र ऋषिवर्यवर्णिता पापपर्वतविदारणह्लादिनी कामकदम्बाभिवर्षणकादम्बिनी भक्तजनहृदयसदनमुदितवदनपदनदीव परमपावनी शतधनुरुपाख्यानकथैषा व्यरंसीत् ।

इस प्रकार फलभोग द्वारा पुण्यों का, और नवीन पापों से बचे रहकर पूर्वजन्म के दुष्कर्मों का नाश करते-कराते जब रानी और राजा चिरकाल तक भोगे हुए सांसारिक विषयों की ओर से खिन्न हो गये तब वे अपने सुयोग्य पुत्रों को शासन-भार देकर स्वयं भगवद्भजन में लग गये। अन्तःकरण की शुद्धता के कारण दिनोंदिन प्रबल हो रहे भक्तियोग के प्रभाव द्वारा विषय-वासनाओं से पिण्ड छूट जाने पर भगवद्भक्ति की भावना से प्रेरित हो सर्वदा पूजनीय भक्ति-मार्ग के मर्मज्ञ लोगों की सङ्गति में ही दोनों का समय बीतने लगा। भगवद्भक्तों के सम्पर्क में रहते-रहते एवं वृद्धावस्था आ जाने के कारण राजा-रानी के मन में संसार की ओर से अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हो गया। अतः दोनों ने घर-द्वार छोड़कर बन जाने का निश्चय कर लिया। एक दिन वे दोनों सन्ध्यावन्दन आदि दैनिक कार्यों से निवृत्त हुए ही थे कि उन्होंने अपने सामने भगवान् के आज्ञाकारी पारिषदों द्वारा लाये गये, गरुड़ के चिह्नों से चिह्नित, हजारों सूर्यों के सदृश देदीप्यमान सुवर्णमय एक उत्तम विमान देखा। उसको देखते ही

महाराज धर्मध्वज तथा महारानी विद्यावती ने अपना-अपना आसन छोड़ दिया, और भगवान् के पारिषदों को अभिवादन कर, मारे आनन्द के आँखों में आँसू भरे हुए, झट से आगे बढ़कर उनका यथाविधि सत्कार किया। तत्पश्चात् पारिषदों से अनुमति ली और ब्राह्मणों के द्वारा मङ्गलाचरण हो चुकने के बाद दोनों प्रदक्षिणा करके विमान पर सवार हो गये। ऐसा करते ही उन्होंने आश्चर्यमय दिव्य देह धारण कर ली। श्री लक्ष्मीजी समेत विष्णु भगवान् के समान दोनों के तेज से दिशाएँ चमक उठीं। देवताओं ने उनको आया देख अर्घ्य लेकर बड़े आदर के साथ पूजा की। देवाङ्गनाओं ने आश्चर्य-चकित हो मुसकराते-मुसकराते पुष्प-वृष्टि की। इस भाँति देवताओं आदि के लोकों को लाँघ, उत्तरोत्तर दस गुने बड़े और पृथिवी आदि ही जिनकी समाप्ति के मुख्य स्थान हैं ऐसे, आठ तत्त्वों से आच्छादित ब्रह्माण्ड को भेदकर वे विवेकी दम्पती शीघ्र ही विष्णु भगवान् के उस परमपद में जा विराजे जिसे पाकर भगवद्भक्त लोग संसार-चक्र से सदा के लिये छुटकारा पा जाते हैं।

राजा शतधनु का यह उपाख्यान पापनाशक, मनोरथों को पूर्ण करनेवाली भगवती भागीरथी के समान परम पावन है। इसी लिये ऋषि-महर्षियों ने पुराण आदि में स्थान-स्थान पर इसका विशेष रूप से उल्लेख किया है।

एवंविधो विसङ्कटसङ्कटसृट् पाखण्डसंसर्गः। अत्यन्ताद्भुतासक्तिरेतादृशी धर्मपत्नी यदा नाभविष्यत्तदा कदा नु महानुभावोऽपि शतधनुः कुयोनिपरम्परामुदतरिष्यत्। अत एव विद्यारण्यस्वामिनोऽप्याहुः— पथि गच्छन् पुरः पाखण्डं दृष्ट्वा मत्सरग्रस्त इव दूरतोऽपसरेद्विद्वानिति।

विशुद्ध्यति मृदा स्नानात् स्पर्शे रजकवाजिनः।
पाखण्डस्य तु कृते स्पर्शे शुद्धिर्नैवास्ति कर्हिचित्।
बुभुक्षितं व्याधितं वा यद्वाऽन्यभयविद्रुतम्।
पाखण्डं नानुकम्पेत स्वधर्मं संरिरक्षिषुः॥

इत्यागमात्पाखण्डं शत्रुवज्जानीयात्। अन्यथा भागवतोऽपि धर्मो मलिनीभवति। धर्मान्तरं तु नश्यत्येवेति रामाश्रपादयश्च। अतश्चण्डालादिनीचसंसर्गोऽपि तादृग्धर्मनाशको न भवति यादृक् पाखण्डसंसर्ग इति।

इस प्रकार शतधनु-उपाख्यान से यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है कि पाखण्डियों का संसर्ग महान् अनर्थकारी है। यदि पतिपरायणा

विद्यावती जैसी धर्मपत्नी का आश्चर्य्यमय सहयोग न मिलता तो यह कब सम्भव था कि प्रबल प्रतापी होने पर भी राजा शतधनु नीच योनियों से छुटकारा पा जाते? अतएव श्री विद्यारण्य स्वामीजी ने भी कहा है—यदि रास्ता चलते किसी विद्वान् को मार्ग में सामने पाखण्डी दिखाई पड़े तो उसे पाखण्डी के सामने से, मत्सरग्रस्त के समान, दूर से ही हट जाना चाहिए। क्योंकि मनुष्य यदि गधे को छू ले तो मृत्तिका-स्नान से उसकी शुद्धि हो सकती है, किन्तु पाखण्डी का स्पर्श कर लेने पर वह कदापि शुद्ध नहीं हो सकता। पाखण्डी भूखा हो अथवा रोगी, या किसी से डरकर शरण में आया हो—कैसा भी क्यों न हो—स्वधर्म-रक्षा के इच्छुक व्यक्ति को उस पर दया न दिखानी चाहिए। उसको तो अपना शत्रु ही समझे। ऐसा न कर दया करने से सर्वश्रेष्ठ भागवत धर्म का भी नाश हो जाता है। रामाश्रम प्रभृति आचार्यों के मतानुसार दान आदि धर्मों के नष्ट होने में तो सन्देह ही नहीं। पाखण्डियों के दर्शन का पाप अनर्थों का मूल ही है। सारांश यह कि पाखण्डी के संसर्ग से धर्म की जितनी अधिक हानि होती है उतनी चाण्डाल आदि नीच जातिवालों के सम्पर्क से नहीं।

इत्थं नानाविधज्ञानप्रतीपप्रतीकारोपाय एष एवास्ति स्वमनोनिग्रहो नाम। स हि सहसा न कस्यापि सुकरः। अत एव क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे इति सूत्रे जेतुं योग्यं जेयं मन इति प्रत्युदाहृतम्। न तु जय्यमिति। अशक्यत्वात्। तथा च श्रुतिः—मनसो वशे सर्व्वमिदं बभूव। नान्यस्य मनो वशमन्वियाय। भीष्मो हि देवः सहसः सहीयानिति। देवो मनोरूपः हि यतो भयानकस्ततो बलिनोऽपि बलीयानित्यर्थः। विपरीतो वा हेतुहेतुमद्भावः।

अर्ज्जुनः—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

इस प्रकार भली भाँति विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि मनोनिग्रह ही एक ऐसा उपाय है, जो ज्ञान के विरोधी दोषों को पूर्ण रूप से दूर करने की क्षमता रखता है; किन्तु इस उपाय से काम लेना सब के लिये सहज नहीं। इसी बात को ध्यान में रखकर 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' सूत्र में

मन को 'जेय' (जीतने योग्य) कहकर प्रत्युदाहरण के रूप में दिखाया गया है, 'जय्य' (सहज में वश करने योग्य) के रूप में नहीं; क्योंकि मन को जीतना अत्यन्त कष्टसाध्य है। इसी लिये मन के साथ 'जेय' शब्द का ही प्रयोग होता है, 'जय्य' का नहीं। श्रुति भी ऐसा ही कहती है—सब कुछ तो मन के वश में है परन्तु वह किसी के वश में नहीं। मन-रूपी देवता बड़ा ही भयङ्कर और प्रबल है अथवा इस प्रकार समझना चाहिए कि मन बड़ा प्रबल है अतएव वह भयानक है। अर्जुन कहते हैं कि हे कृष्ण! मन बड़ा ही चञ्चल और बलवान् है; वह इन्द्रियों को उन्मथित करने की क्षमता रखता है। उसको वश में करना मेरे विचार से उतना ही कठिन है जितना वायु को वश में करना।

चतुर्थे नारदः—

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः॥

न भविष्यतः नीचत्वं प्राप्स्यत इति श्रीधरः। श्रुतिश्च—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

मनुष्य का मन ही उसके आगामी अभ्युदय और अधोगति के पूर्वरूपों—प्रथम चिह्नों—को बतला देता है। 'न भविष्यतः' का अर्थ श्रीधर स्वामी ने नीचत्व किया है। श्रुति भी इसी का समर्थन करती है—मनुष्यों का मन ही उनके बन्ध और मोक्ष का प्रधान कारण है; यदि वह विषयों मे फँस जाता है तब तो बन्ध का कारण बन जाता है और यदि विषयों में लिप्त नहीं होता तो, उस दशा में, मनुष्य की मुक्ति-प्राप्ति का साधक हो जाता है।

जनकः—

सहस्राङ्कुरशाखाग्रफलपल्लवशालिनः।
अस्य संसारवृक्षस्य मनो मूलमिति स्थितम्॥ १॥
सङ्कल्पमेव तन्मन्ये सङ्कल्पोपशमेन तत्।
शोषयामि यथा शोषमेति संसारपादपः॥ २॥
प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दुष्टश्चौरो मयाऽऽत्मनः।
मनो नाम निहन्म्येनं मनसाऽस्मि चिरं हृतः॥ ३॥

जनकजी कहते हैं कि यह संसार ही हजारों अङ्कुरों, बड़ी-बड़ी शाखाओं, फलों और नये पत्तों से शोभित एक विशाल वृक्ष है। इसकी जड़ है मन और मन ही सङ्कल्प का दूसरा नाम है, अतः मैं सङ्कल्प को नष्ट करके इस पेड़ की जड़ (मन) को ही सुखाये देता हूँ। उसके सूखते ही यह अपने आप सूख जायगा। अब मेरी नींद टूट चुकी है, आँखें खुल गई हैं, मैंने अपने मन-रूपी चोर को पहचान लिया। बात की बात में इसे मारे डालता हूँ। इसने मुझे बड़े कष्ट दिये हैं।

देवस्थानः—

मनो यस्य वशे तस्य भवेत्सर्वं जगद्वशे।
मनसस्तु वशे योऽस्ति स सर्वजगतो वशे॥

महर्षि देवस्थान का कथन है कि जिसने अपने मन को वश में कर लिया उसने संसार भर को वश में कर लिया। किन्तु जो व्यक्ति मन को न जीतकर स्वयं उसके वश में हो जाता है उसने सारे संसार की अधीनता स्वीकार कर ली।

अत्र प्राञ्चः—

आत्मभूपतिरयं पुरातनः पीतमोहमदिरामदाकुलः।
किङ्करस्य मनसोऽपि किङ्करैरिन्द्रियैरहह किङ्करीकृतः॥ इति।

अतः सज्जनैः सुबुद्धिसारथिभिरभ्यासवशाद्विषयेन्द्रियसँय्योगसङ्कोचपुरस्कारेण अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा इति पातञ्जलोक्तपञ्चक्लेशदुर्मदोद्भटप्रतिभटतरुणतिमिरपटलीविपाटनपाटवप्रकटीकृतविसङ्कटप्रभावविशदप्रबोधपद्मबन्धूदयहेतवेऽतिबलतरलतरकच्चरमनस्तुरङ्गवेगो निरोद्धव्यः।

प्राचीन विद्वान् कहते हैं कि यह आत्मा-रूपी राजा बड़ा पुराना है। जब तक यह सावधान रहा तब तक प्रजा (मन, इन्द्रिय आदि) पर इसका अधिकार बना रहा; किन्तु ज्योंही मोहमयी मदिरा पीकर यह होश-हवास खो बैठा त्योंही इसके दास (मन) की दासी इन्द्रियों ने इसको अपना आज्ञाकारी सेवक बना डाला। स्वामी होकर दासों की अधीनता! अतएव सज्जनों को चाहिए कि बुद्धि की सहायता से—अभ्यास द्वारा—इन्द्रियों तथा उनके विषयों से दूर रहें और प्रबल, अति चञ्चल, विषय-वासनाओं से नितान्त दूषित तथा वेगगामी अपने मन-रूपी घोड़े को—दुर्दान्त अविद्या आदि क्लेशों की निवृत्ति के साधक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये—विषयों की ओर से रोकें।

वशिष्ठः—

अस्य संसारवृक्षस्य नानोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः ॥
मनसोऽभ्युदये नाशो मनोनाशे महोदयः ॥ इति ।
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥

इत्यादिभिरेतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमित्यन्तैः पञ्चभिः श्लोकैस्त्रयोदशाध्यायोक्तज्ञान-साधनपरिशीलनवतो धीरस्य वैराग्ययुक्तेनाभ्यासेन मनः शनैर्वशीभवति ।

वशिष्ठजी कहते हैं कि बहुत से अनर्थों के मूल-कारण इस संसार-रूपी वृक्ष की जड़ काटने का एक ही उपाय है, और वह है अपने मन का संयम। मन को स्वतन्त्र कर देने से मनुष्य का सर्वनाश और मन के नाश में अभ्युदय निहित है। अभिमान दम्भ और हिंसा का त्याग, क्षमा, आर्जव, आचार्य की सेवा, पवित्रता, स्थिरता और मनोनिग्रह ही आत्मज्ञान के साधन हैं। यहाँ तक गीता के तेरहवें अध्याय के पाँच श्लोकों द्वारा वर्णित, ज्ञान के साधनों का परिशीलन करनेवाला धीर पुरुष यदि वैराग्य की भावना के साथ मनोनिग्रह का अभ्यास करे तो उसका मन धीरे-धीरे वश में हो जाता है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ इति भगवदुक्तेः।

योगशास्त्रे—

यथा यथा सदाभ्यासान्मनसः स्थिरता भवेत् ।
वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा ॥ इति ।

अत्र साधनसम्पदमदर्शयद्वशिष्ठः—

हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥ १ ॥
अध्यात्मविद्याऽधिगमः साधुसङ्गम एव च ।
वासनानां परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥ २ ॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल । इति।

यथा—श्लोकं श्लोकौ वा नित्यं पठन्माणवको दशभिर्वर्षैरध्यापको भवति। यथा च काकिणीं काकिण्यौ वा नित्यं सञ्चिन्वन् वणिग्दशभिर्वर्षैर्लक्षपतिर्भवति, तथैवान्वहमहमपि घटिकां घटिके वा मन: समादधान: श्रीहरिगुरुचरणप्रसादात्कतिपयहायनै: सिद्धसंकल्प एव भूयासमिति निश्चयेन ध्यानादे: पुन: पुनरावृत्तिरभ्यास उच्यते।

"हे अर्जुन! निस्सन्देह मन चञ्चल है; इसका दबाना कठिन है। किन्तु वैराग्य तथा अभ्यास द्वारा यह वश में किया जा सकता है।" इस भगवान् की उक्ति से मन को दबाना दुस्तर सिद्ध होता है। योगशास्त्र में भी कहा है कि सर्वदा अभ्यास करने से जैसे-जैसे मन की स्थिरता होती है वैसे-वैसे प्राण-वायु, कर्मेन्द्रियों, शरीर और ज्ञानेन्द्रियों में स्थिरता होती है; अत: साधक साधनों का निरन्तर अभ्यास करता रहे। साधन की सम्पत्ति को वशिष्ठजी ने कहा है—हाथ को हाथ से मींजकर, दाँतों से दाँतों को विचूर्ण कर तथा अङ्गों से अङ्गों को दबाकर सबसे पहले साधक अपने मन को जीते। अध्यात्म-विद्या का लाभ, साधुओं की सङ्गति, वासनाओं का परित्याग और प्राण की गति को रोकना—ये सब युक्तियाँ चित्त के विजय में निश्चित रूप से प्रबल हैं। जैसे एक-एक तथा दो-दो श्लोकों को नित्य पढ़कर बालक दश वर्षों में अध्यापक हो जाता है अथवा जैसे कौड़ी-कौड़ी सञ्चय करके बनिया दस वर्षों में लक्षपति हो जाता है, वैसे ही प्रतिदिन घड़ी दो घड़ी सावधान होकर मन को समाधि में लगाने और भगवान् तथा गुरु के चरण-कमलों की कृपा से कुछ ही वर्षों में साधक 'मेरा सङ्कल्प पूरा हो' इस निश्चय के द्वारा ध्यान आदि की परिपक्वता प्राप्त कर लेता है।

भस्म विष्ठा कृमिश्चेति देहस्यास्य त्रयी गतिरिति निश्चित्य देहे विरक्तस्य तदनुबन्धिषु दारदारकादिषु नितरां विरतिरुदेति। हतायां तावदहन्तायां ममताया लूनमूलत्वात्। तथा हि। अस्मिन्किल संसारे सारभूतवस्तु सुखं किमपि कदापि कुत्रापि केनापि नानुभूतम्। कोऽहम्, कुत आगत:, क्व यास्यामीत्याद्यपेक्षितहितचिन्तां स्वप्नेऽप्यस्पृशन् एवं कृते एवं स्यात् एवं कुर्यामेवं स्यामयमहमिमे मामका मदीयमिदमित्यादिदुर्वासनाशतसंहतिमहोरगीसरोषफूत्कारनिर्गतगरलसंसर्गविघूर्णमानमानस:, उन्मत्तचेष्टया जन्म क्षिपन्सर्वोऽपि जनो दुरतिक्रमावितर्क्यचण्डरंहसाऽन्हेसा कुटिलमालोकितोऽकृतार्थ एव सुखं ह्यादाय विकृताकृतिर्म्रियते।

मनुष्य जब इस बात का भली भाँति अनुभव कर लेता है कि इस शरीर की 'भस्म, विष्ठा और कृमि' ये तीन गतियाँ हैं, तब वह इसकी ओर से अत्यन्त उदासीन हो जाता है। फलतः उक्त देह से सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री-पुत्र आदि से भी उसके हृदय में बिल्कुल विरक्ति हो जाती है; क्योंकि अहङ्कार के नष्ट होते ही ममता की जड़ अपने आप उखड़ जाती है। एक बात और भी है— इस संसार में भला किसी ने कभी कहीं थोड़ा सा भी वास्तविक सुख पाया ? किन्तु इतने पर भी 'मैं कौन हूँ ?' 'कहाँ से आया हूँ ?' और 'कहाँ जाऊँगा ?' इत्यादि आवश्यक एवं हितकारी बातों की ओर मनुष्य स्वप्न में भी ध्यान नहीं देता। इसके विपरीत, 'ऐसा करने पर ऐसा हो जायगा', 'यदि इस प्रकार करूँ तो ऐसा हो जाऊँगा', 'यह मैं हूँ', 'ये सब मेरे हैं', 'यह वस्तु मेरी है' इस प्रकार की दुर्वासनाओं में फँसकर लोग अमूल्य मानव-जीवन को पागलों के समान योंही गँवा देते हैं और अन्त में दुर्लङ्घनीय, दुर्लक्ष्य, द्रुतवेगगामी काल की कुटिल दृष्टि पड़ते ही उसके कराल-गाल में समा जाते हैं।

तदुक्तं शिवगीतायाम्—

किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
इति कर्तव्यतामूढः कृच्छ्राद्देहात्त्यजत्यसून्॥ इति।

इह जन्मनि स्वीयत्वेन प्रतीयमानः पितृमातृस्त्रीपुत्रादिरूपो जनोऽपि स्वप्रयोजनमुद्दिश्यैव स्नेहं दर्शयति। न तु विपत्तौ कश्चिदनुवर्तते। अतोऽसौ धूर्त एव। नात्मीयः।

शिवगीता में कहा है—'क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, क्या लूँ, क्या छोड़ूँ' के चक्कर में पड़े किंकर्तव्यविमूढ़ प्राणी के प्राण बड़ी कठिनता से निकलते हैं। मनुष्य जिन माता-पिता और स्त्री-पुत्र आदि को ममतावश अपना समझता है वे सब के सब, केवल अपना-अपना स्वार्थ-सिद्ध करने के लिये, प्रेम प्रकट करते हैं। सङ्कट के समय कोई काम नहीं आता। अतः सब पक्के धूर्त हैं, अपना कोई नहीं।

अत्र श्रीऋषभदेवः—

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥

सम्यक् उपेतः प्राप्तो मृत्युः संसारो येन तमित्यर्थः। यथा रामायणे। सप्तर्षिवचनात्पृथक्सर्वान् पृष्टवान् पितृमातृभ्रातृभार्यापुत्रपुत्रीस्नुषादिभिः

सर्वैरपि वयं त्वदार्जितधनस्यैव भोक्तारो न तु त्वदीयशुभाशुभकर्मणा-मिति प्रत्युक्तो निर्विण्णः सप्त ऋषीनेव शरणं गतो वाल्मीकिः किल मरेति व्यत्यस्ताक्षरभगवन्नाममन्त्रोपदेशरूपात्तदनुग्रहतो महर्षितां प्रपेदे। एवञ्चात्रैव मतिमद्भिर्दृशौ विस्फार्य स्वयमन्तर्विचार्यताम्। स्वीयाभासः परिवारस्तादृशोऽवटे पातयति। सत्सङ्गमः पुनः एतादृशः पारं गमयतीति। पञ्चमेऽपि भवाटवीवर्णनाध्याये स्फुटीकृतमेतत्।

गुरु, बन्धु-बान्धव, पिता, माता, पति और दैव ये सब यदि सिर पर सवार मौत (भवसागर) से न छुड़ा सकें तो इनके रहने से लाभ ही क्या? इस विषय में रामायण की एक कथा है—एक बार सप्तर्षियों के कथनानुसार वाल्मीकिजी ने जाकर पिता, माता, भाई, स्त्री, पुत्र, पुत्री और पुत्रवधू आदि से अलग-अलग प्रश्न किये परन्तु सबने यही उत्तर दिया कि हम लोग तो केवल तुम्हारे धन को भोगनेवाले हैं—तुम्हारे शुभाशुभ कर्मों के हिस्सेदार नहीं। इस उत्तर को सुनकर वे बड़े दु:खित हुए और लौटकर पुनः सप्तर्षियों की शरण में गये। उन्होंने वाल्मीकिजी को भगवान् के नामरूपी मन्त्र (राम) के अक्षरों को उलट-कर (मरा मरा) जपने का उपदेश दिया। तब उनकी कृपा से वाल्मीकि 'महर्षि' के उच्च पद पर जा पहुँचे। इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। बुद्धिमान् लोग आँखें खोलकर स्वयं विचार कर लें। मतलब यह कि पुत्र-कलत्र आदि की माया-ममता मनुष्य को अवनति के गढ़े में गिरा देती है। इसके फन्दे में फँसकर उद्धार की आशा दुराशामात्र है। किन्तु सत्सङ्गति अपार संसार-सागर के पार पहुँचा देती है। श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध में, 'भवा-टवी' का वर्णन करते समय, इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला गया है—

यस्यामिमे षड् नरदेव दस्यवः सार्थं विलुम्पन्ति कुनायकं बलात्।
गोमायवो यत्र हरन्ति सार्थिकं प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृकाः॥ इति।

मूलस्य तत्रैवोत्तराध्याये यस्यामु ह वा एते षडिन्द्रियनामानः कर्म्मणा दस्यव एव ते इति पूर्वार्धविवरणम्। अथ च यत्र कौटुम्बिका दारापत्यादयो नाम्ना कर्म्मणा वृकसृगाला एव अनिच्छतोऽपि कदर्यस्य कुटुम्बिन उरणकवत्संरक्ष्यमाणं मिषतोऽपि हरन्तीत्युत्तरार्द्धविवृतिः।

राजन्! यह संसार एक प्रकार का जङ्गल है; इसमें इन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, जीभ, मन और त्वक्) लुटेरे तथा स्त्री-पुत्र आदि ही भेड़िये एवं

गीदड़ हैं। ये सब (भव) जङ्गल के स्वामी (जीव) को असावधान देखकर अवसर पाते ही देखते-देखते उसका सर्वस्व उसी प्रकार हर लेते हैं जिस प्रकार वन में शेर और भेड़िये आदि हिंस्र प्राणी पूरी-पूरी देख-रेख रहने पर भी गाय-भेड़ को ले भागते हैं। प्राचीन टीकाकार भी इस श्लोक की वही व्याख्या करते हैं जो ऊपर दी गई है।

वदन्ति च सन्तः—

भार्या पिशाची तनयाः शृगालाश्चिल्लास्सकुल्या इतरे च काकाः।
व्याघ्रा नृपास्तत्पुरुषा भुजङ्गास्त्राताऽस्ति नान्यो भुवि पद्मनाभात् ॥ इति।

भारते च दारपुत्रादिविषयभोगेषु दोषदर्शिनो बुद्धिमन्तो देवापि-प्रभृतयः सार्वभौमश्रियं तृणीकृत्य तरुणा एवारण्यं शरणीचक्रुः।

महान्तोऽप्याहुः—

पिब चपल पयांसि यावदाविर्भवति न चेतसि चेतनासमुद्रः।
स्तनकलशयुगेन वा जनन्यास्तनय कराङ्गुलिमध्यकुल्यया वा ॥

भर्तृहरिणापि भणितम्—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥ १ ॥

अहो एवं सति कस्मै हितमुपदिशाम इति भावः।

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम्।
लोला यौवनलालनास्तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुभगे बुद्धिं विदद्ध्वं[1] बुधाः ॥ २ ॥

अस्यां वसुधायां बुधा इव सुधाम्बुधा एवेदृशमिदमद्भुतं सुखमास्वाद-यितुमर्हन्तीति बुधानेव सम्बोधयति।

विवेकी पुरुषों का कहना है कि स्त्री पिशाची, पुत्र शृगाल, कुल के लोग चील तथा अन्यान्य सम्बन्धी कौवे के तुल्य हैं। इसी प्रकार राजा व्याघ्र

(१) शिवशर्म्मणा स्वहस्तेन विदद्ध्वं इत्येव लिखितम्।

और उसके कर्मचारी सर्प के समान हैं। ये सभी भक्षक हैं, रक्षक नहीं। रक्षा करनेवाला तो केवल एक भगवान् है।

तभी तो महाभारत में वर्णित दूरदर्शी देवापि प्रभृति अनेक राजा—स्त्री-पुत्र आदि तथा सांसारिक विषय-भोगों को अनर्थों की जड़ जान—विपुल साम्राज्य-वैभव का तृण की भाँति परित्याग कर युवावस्था में ही वन को चले गये। बड़े लोग भी कहते हैं कि चपल बालक! तेरे हृदय में जब तक ज्ञान-सागर की लहरें नहीं उठतीं तब तक चाहे माता के स्तनों का दूध पी और चाहे उसके हाथों के कटोरे का; किन्तु हृदय में ज्ञान का अंकुर उगते ही सब छूट जायगा! भर्तृहरिजी ने भी कैसा अच्छा उपदेश दिया है—सूर्य के उदय-अस्त के साथ-साथ मनुष्य का जीवन दिनोंदिन क्षीण हो रहा है, काम-काज की बहुत सी झञ्झटों में फँसे रहने से समय के बीत जाने का पता भी नहीं लगता। जन्म, जरा, विपत्ति और मृत्यु के कष्टों को देखकर भी लोग नहीं डरते। मालूम होता है, सारा का सारा संसार प्रमादरूपी मदिरा पीकर मतवाला हो गया है, तभी तो मोह का चारों ओर एकछत्र राज्य है! ऐसी विषम दशा में हित की बात किसे सुनाई जाय? सुनेगा भी कौन? संसार के सभी सुख-भोग बादलों में चमकनेवाली बिजली के समान चञ्चल (अस्थिर) हैं, आयु भी आँधी के झोंकों में पड़कर नष्ट-भ्रष्ट बादलों की बूँदों की भाँति नश्वर है और युवावस्था के लाड़-प्यार भी स्थिर नहीं। अतएव विवेकशील सज्जनो! आप अपनी स्थिति पर विचार कीजिए और विचार के पश्चात्, जितनी जल्दी हो सके, अपनी बुद्धि को योग-मार्ग में लगाइए। ऐसा करने से आप लोगों को धैर्य, समाधि और सिद्धियों की प्राप्ति स्वयमेव हो जायगी। जिस प्रकार अमृतपान के अधिकारी केवल देवता हैं अन्य नहीं, उसी प्रकार संसार में तत्त्वज्ञान का अद्भुत आस्वाद विवेकी जन ही लेते हैं। इसी लिये भर्तृहरिजी विवेकियों को ही सम्बोधित करके कहते हैं।

वरं शरावहस्तस्य चण्डालागारवीथिषु।
भिक्षार्थमटनं राम न मौर्ख्यं हतजीवितम्॥ इति।
योगापवीयोक्तेरबुधास्तु मुधाजन्मान एवेति भावः।

मही शय्या रम्या विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।

स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥

मुनिर्मननशीलः । बुधानां विधातुमुचितमेवमेवेति भावः ।

'राम भद्र! हाथ में ठीकरा लेकर चाण्डालों के घरों और मुहल्लों में जाकर भीख माँगना अच्छा है परन्तु मूर्खतामय जीवन किसी काम का नहीं।' वशिष्ठजी के इस कथन के अनुसार, अविवेकियों का जन्म लेना ही निष्फल है।

जिसके मन में शान्ति और विवेक का पूर्ण रूप से उदय हो चुका है ऐसे मननशील विवेकी के लिये भूमि ही सुन्दर शय्या, हाथ बहुमूल्य तकिया, आकाश चँदोवा और शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर ही बढ़िया पङ्खा है। चन्द्रमा को वह अपना ज्योतिर्मय प्रदीप समझता है। दरिद्र होने पर भी ऐसा व्यक्ति वैराग्यमयी भावना-सहचरी के साथ रहने के कारण वैसे ही शान्ति और सुख का अनुभव करता है जैसे एक समृद्धिशाली सम्राट्! विद्वानों को ऐसा ही होना भी चाहिए।

तदेवं महतामपीदृशी कथा वयं तु वराकाः कियन्तः कलिकालोरगग्रस्ता विविधविपत्तिविध्वस्ताश्च। आधुनिकेषु जनेषु च, पितापुत्रौ, मातापुत्र्यौ, श्वश्रूवध्वौ, जायापती, भ्रातरौ, स्वसारौ, स्वसाभ्रातरौ, मातुलभागिनेयौ, श्वशुरजामातरौ, सखायौ, हन्त गुरुशिष्यावपि, स्वामिसेवकौ, संबन्धिबान्धवाश्च। सर्व इमे तिरस्कृतसौहार्दाः कुटिलप्रकृतयः कूटव्यवहाराः काकिण्यर्थेऽपि मिथो विरुध्य वैरायमाणा द्विपदापसदपाखण्डसङ्गत्या मद्यमांसोच्छिष्टतुष्टिभैरवमरालादिक्षुद्रदेवतामभिचर्य स्वजनं घातयन्तो घ्नन्तश्च दृश्यन्ते।

इस प्रकार जब बड़ों-बड़ों की यह कथा और दशा है, तब हममें से तो कितने ही बेचारे विविध विपत्तियों तथा कराल कलिकाल-सर्प के मुख में पड़े हैं, ऐसी अवस्था में हम लोगों पर जो भी बीते थोड़ी है! देखा जाता है कि आजकल पिता-पुत्र, माता-पुत्री, सास-बहू, स्त्री-पुरुष, भाई-बहिन, भाई-भाई, बहिन-बहिन, मामा-भानजा, ससुर-दामाद, मित्र-मित्र, गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक और सम्बन्धी-बान्धव—ये सब के सब पारस्परिक प्रेम को छोड़कर आपस में कपट-व्यवहार करने लग जाते हैं। ऐसे लोग कौड़ी के वास्ते आपस में विरोध कर लेते हैं। नीच पाखण्डियों की कुसङ्गति में पड़कर—मद्य, मांस और

जूठन से प्रसन्न रहनेवाले—भैरव मैराल आदि क्षुद्र देवताओं की पूजा कर अपने आत्मीय जनों का वध दूसरों से कराने और स्वयं करने पर उतारू हो जाते हैं।

कुलीनाश्च स्वधर्मनष्टिमविगणय्य वित्ताशया नीचान्सेवमाना न त्रपन्ते। प्रत्युत धूर्तया धिया वयमिति गर्वमखर्वमारूढा उच्चैर्निरीक्षन्ते।

और अच्छे कुल के लोग भी अपने धर्म के नाश की उपेक्षा कर धन की आशा से नीचों की सेवा करते नहीं लजाते; प्रत्युत जो कुछ हैं हमीं हैं, ऐसा दुर्बुद्धि के कारण मानकर महाअभिमान में आ अपने आपको सबसे बड़ा मान लेते हैं।

आवश्यकाचरणीयकुल्यकरणादौ देवपित्रुद्देशेन साध्विव यत् कुर्वन्ति तदुपधिदन्दशूकशूक्कृतम्। अहो जगति सज्जनत्वेन प्रसिद्धस्य पितुरपि पुत्राः सर्वथाऽन्यथैवाचरन्ति। एवञ्च कार्यगुणाः कारणगुणानारभन्त इति न्यायार्थोऽपि बोद्धुमधुना न शक्यते। केचित्काव्यकवितादिरूपां विद्यां सम्पाद्य सकलजनमनोरञ्जनया ततस्ततो भूरि धनं लब्ध्वा स्त्रीपुत्रादिभिः सुखं जन्म नेष्याम इति प्रवृत्ता धनिकमात्रं स्तुवन्ति। तादृशानुपहसति बृहस्पतिः।

ऐसे लोग यदि देवताओं तथा पितरों के उद्देश से थोड़ा-बहुत सत्कर्म—कुल-परम्परा-प्राप्त एवं आवश्यक समझकर—करते भी हैं तो केवल दूसरों को धोखा देने के लिये, न कि श्रद्धा के साथ। आश्चर्य है, सज्जन पिता के लड़के भी सर्वथा दुराचारी हो जाते हैं। अतएव कारण के गुण कार्य में आते हैं, इस न्याय का अर्थ भी इस समय जानना कठिन है। कुछ लोग काव्य-कविता आदि सीखकर मनुष्यों को प्रसन्न करके जगह-जगह से बहुत सा धन पाकर स्त्री-पुत्रादि के साथ सुखपूर्वक जन्म व्यतीत करने की आशा से धनिकों की स्तुति किया करते हैं। इस प्रकार के मनुष्यों का उपहास करते हुए बृहस्पति कहते हैं—

आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया।
तथा चेद्विश्वकर्त्तारं को न मुच्येत बन्धनात्॥ इति।

केचन सदाचारेण जनानां श्रद्धामुत्पाद्य ततो बहु धनं लप्स्यामहे। अथ सुखिनः स्यामेत्येव सदाचारं दर्शयन्ति। तादृशां शून्यशेषमाह स्मृतिः।

असम्मानात्तपोवृद्धिः सम्मानात्तपसः क्षयः ।
अर्चितः पूजितो विप्रो दुग्धा गौरिव गच्छति ॥ इति ।

अर्चितो गन्धमाल्यादिना । पूजितो द्रव्याम्बवस्त्राद्यैः ।

स्त्रियो हि लघिष्ठमपि धनिकं दृष्ट्वा पतिपुत्रादिभिर्विगृह्य तस्मै कन्यां प्रयच्छन्ति । कामचारिण्यस्ताः पतिभिर्न तृप्यन्ति । सतीराक्रोशन्ति कुलटाः । नरास्तु पूर्वाघदुर्गन्धकामान्धा ममेयं गम्याऽगम्या वेति न विचारयन्ति । भ्रातृभगिन्यादय एव सङ्गता बहव इदानीं प्रसिद्धाः । ब्रुवते हि वृद्धाः —

अन्यत्र भीष्माद् गाङ्गेयादन्यत्र च हनूमतः ।
कुरङ्गखुरमात्रेण चर्म्मणा मोहितं जगत् ॥

मनुष्य धन पाने की आशा से धनी लोगों की जिस आदर के साथ स्तुति करता है यदि कहीं उसी आदर के साथ जगत्कर्ता जगदीश्वर की स्तुति करे तो उसे निःसन्देह जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा मिल जाय ।

कुछ लोग यह सोचकर कि सदाचार के द्वारा हम अपने प्रति दूसरों के मन में श्रद्धा उत्पन्न करके उनसे बहुत सा धन पावेंगे और सुखी होंगे, सदाचार का ढोंग रचते हैं । किन्तु इस प्रकार से सदाचार का स्वाँग दिखानेवाले पुरुषों के हाथ कुछ भी नहीं लगता । स्मृति का वचन है—असम्मान से तप की वृद्धि तथा सम्मान से उसकी हानि होती है ; क्योंकि मनुष्य का जिस समय आदर-सत्कार अधिक होने लगता है उस समय वह प्रतिष्ठा के फेर में पड़कर अपने कर्तव्य से भ्रष्ट हो जाता है। फलतः लोग उसे, दुही गाय की भाँति, उपेक्षणीय समझने लगते हैं । अतः विवेकी को चाहिए कि मान-अपमान से सर्वथा दूर रहे । समय के प्रभाव से स्त्रियाँ भी पति और पुत्र आदि की बात न मानकर अपनी कन्याओं का विवाह ऐसे व्यक्ति के साथ ही करती हैं जो धनवान् हो, फिर चाहे वह अल्पायु तथा अयोग्य ही क्यों न हो । स्वामी से सन्तुष्ट न होकर वे स्वेच्छाचारिणी हो जाती हैं—स्वयं दुराचारिणी होकर भी सती-साध्वी स्त्रियों की निन्दा करने से नहीं चूकतीं । और पुरुष भी पूर्वजन्मों के पापों के प्रभाव से कामान्ध होकर गम्यागम्य का विचार नहीं करते । भाई और बहिन अपने पवित्र सम्बन्ध की उपेक्षा करके आपस में अनुचित सम्बन्ध कर लेते हैं । यह सभी जानते हैं । बड़े-बूढ़ों का कहना है—

भीष्म पितामह और श्री हनुमान्‌जी के सिवा सारी दुनिया चार अङ्गुल भर चमड़े के लिये मरी जा रही है।

अरुन्धतीपतिरप्याह—

स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च।
अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥ १ ॥
चर्म्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम्।
तत्रापि रमते लोकः साहसं किमतः परम् ॥ २ ॥
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥३॥ इति।

वशिष्ठजी कहते हैं कि स्त्रियों के अवाच्य देश (उपस्थ) और नाड़ी के ताजे घाव में अन्तर न होने पर भी भावना-भेद के कारण प्राय: लोग वञ्चित हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि ख़राब से ख़राब चीज़ को भी भ्रमवश अच्छी समझ लेने से मनुष्य उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। अत: मिथ्याज्ञान को हटाकर ख़राब को ख़राब तथा अच्छी को अच्छी समझने में ही कल्याण है।

दो भागों में विभक्त चमड़े का एक छोटा सा टुकड़ा! वह भी अपान वायु की दुर्गन्ध से दूषित! इतने पर भी मनुष्य अज्ञानवश यदि उसको अपने आनन्द की सामग्री समझ बैठे तो इससे बढ़कर साहस क्या होगा? यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जिसके पास स्त्री है उसी व्यक्ति के मन में प्राय: विषय-भोग की प्रबल लालसा भी रहती है। जिसके पास स्त्री ही नहीं उसको भोगेच्छा कैसी? जिसने स्त्री त्याग दी, समझ लो उसने संसार की सभी वस्तुओं का त्याग कर दिया! और ऐसा करके उसने वास्तविक सुख तथा शान्ति प्राप्त कर ली।

वर्णसाङ्कर्यं च वदितुमसमञ्जसं प्रसरति सर्वजातौ सर्वदेशे। व्रात्यव्रात आत्मनि योग्यतामध्यस्य सत्कुलानि लघयन्महीमण्डलमाक्रामति। परिवित्तिपरिवेत्तारस्तु कर्तव्याकर्तव्यव्यवस्थाप्रसङ्गे वयं निर्णेतार इति महाजनसमक्षं प्रगल्भन्ते। भाषावेषादिना म्लेच्छप्रायं जगदाभाति। को द्विजः, कः शूद्रः, को हिन्दुः, को यवन इति न परिचीयते। आचारोऽलुप्यत। सम्प्रदाय उदच्छिद्यत। मङ्गलमगलत्। धर्मचर्चा तु हंसीरूपेणोड्डीय मानससरः शिश्रिये। नूनं जानीम इदं देवा एवाधुनातनं जनं न रिरक्षिषन्ति। यतः सर्वोऽपि विपरीतबुद्धिर्दृश्यते।

चारों ओर वर्णसङ्करता फैल रही है। संस्कारहीन व्यक्तियों ने योग्यता की खोल ओढ़कर श्रेष्ठ कुलवालों को अपमानित करने के लिये धावा बोल दिया है। 'परिवित्ति' और 'परिवेत्ता' (बड़े भाई के रहते विवाह तथा अग्न्याधान कर लेने पर छोटा भाई परिवित्ति और बड़ा परिवेत्ता कहलाता है) कर्तव्याकर्तव्य के व्यवस्थापक बनकर पूज्य जनों के सामने ढिठाई कर रहे हैं। भाषा तथा वेषादि की दृष्टि से सारा जगत् म्लेच्छप्राय हो चुका है। ब्राह्मण, शूद्र, हिन्दू और यवन की पहचान ही दुःसाध्य है। आचार, सम्प्रदाय, मङ्गलमय कार्य, इन सबका ह्रास हो चुका है। धर्म-चर्चा तो उठ ही गई। प्रतीत होता है कि इस समय देवता भी लोगों की रक्षा करना नहीं चाहते; क्योंकि सभी की बुद्धि भ्रष्ट हो रही है।

यथोक्तमितिहासोत्तमे —

न देवा यष्टिमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम् ॥ १ ॥
बुद्धिरुत्पद्यते तादृग्व्यवसायोऽपि तादृशः।
सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता ॥ २ ॥ इति।

न श्रुतचरो न च दृष्टचरो जनव्यवहारः प्रसर्पति। आढ्योऽनाढ्यायते। रङ्कस्तु वराकः किं कुर्यात्। साधून्दीनांश्च कोऽपि नावेक्षते। प्रत्युत तानेव पीडयति। अभीक्ष्णाक्षुण्णपरापकारो नरः कोऽपि नोपकरोति कञ्चित्। किराटाः श्रेणयः शिल्पवेतनोपजीविनोऽपिच्छलप्रखरचित्ताः प्रसभं परस्वं हरन्ति। सत्यासत्यवैपरीत्यकृतोऽपुण्यलम्पटा भूपा बहूपायकलनाकृष्टवित्ताः स्वा एव प्रजास्तापयन्ति, न तु पान्ति। अहो कष्टं धिग्धिक्।

'इतिहासोत्तम' में लिखा है—देवता लोग चरवाहे की तरह हाथ में डण्डा लेकर किसी की रक्षा नहीं करते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसे सद्बुद्धि भर दे देते हैं। आगे बुद्धिमान् जानें। जैसी होनहार होती है, मनुष्य को वैसी बुद्धि, उद्योग और सहायक भी मिल जाते हैं। लोगों में जो व्यवहार और जैसे विचार आज देखने में आ रहे हैं उनको आज तक न तो किसी ने कानों से सुना है और न आँखों से देखा है। धनवान् कञ्जूसी के कारण दरिद्रों को मात कर रहे हैं, और बेचारे दरिद्रों से तो होना जाना ही क्या है।

धर्मात्माओं और दीन-दुखियों की ओर कोई आँख उठाकर देखने तक को तैयार नहीं; प्रत्युत उनको सताने के लिये लोग उधार खाये बैठे रहते हैं। हानि पहुँचाने में सभी सिद्धहस्त हैं परन्तु उपकार का नाम सुनते ही नानी मरती है। सारा समाज ही जङ्गली जान पड़ता है। कारीगरों तथा नौकरों को देखो तो वे भी पक्के धूर्त, दूसरों का धन हड़पने में मस्त, हैं। राजाओं के लिये तो सत्य-असत्य और पाप-कर्म कोई चीज ही नहीं; सब के सब महापापी और लम्पट हो रहे हैं। तरह-तरह की युक्तियों से प्रजा के धन को चूसते और उसे सताते रहते हैं। धिक्कार है एस लोगों को।

गावर्यस्योपद्रवग्रस्ता वृषो यस्य हताश्रयः।
वत्सा यस्य च निष्टप्ताः स गोपालोऽभकृत्[1] कुतः॥

एवं दुस्सङ्गदुराचारप्राचुर्ये सति—

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम्।
येनाञ्जसोल्वणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः॥ १ ॥

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः॥ २ ॥

जिसके गाय-बैल और बछड़े कष्ट पाते हों वह ग्वाला ही कैसा? पशु-पालक के रहते पशुओं को दुःख! भगवन्, कुसङ्गति तथा कदाचार के इस विशाल साम्राज्य में आपकी कृपा से मुझे आपके परमभक्त, विशुद्धहृदय महापुरुषों की सङ्गति सदा प्राप्त होती रहे जिससे आपके गुण-गाथा-अमृत को पी, मतवाला बनकर, मैं इस महादुःखमय संसार-समुद्र से शीघ्र पार हो जाऊँ। प्रभो! जो लोग आपके भक्तों की सङ्गति प्राप्त कर लेते हैं वे अपने पुत्र, स्त्री, मित्र, घर-द्वार, धन-दौलत और आसक्ति के मूल इस नश्वर संसार को भूल जाते हैं। ऐसे लोग सत्सङ्गति के सिवा दूसरी ओर ध्यान ही नहीं देते।

---

(१) आर्षत्वे अभूदित्यस्य अकथि अभकृत् इति रूपम्।

इत्येवमौत्तानचरणिवर्णितानां महात्मनां सहृदयानां पुंसां प्रसङ्गो बत दुर्लभ एवाकारि कलिना पापिना। यस्मिन्देशे सन्तः सुखमासते स तावत्स्वैरिभसन्निभः सन्निभासते। तदितरैः स्वैरिकैः परीतोऽपीतरस्तु श्मशानायते। यद्यपि देशे देशे ग्रामे ग्रामे जातौ जातौ कुले कुले ब्राह्मणा ईश्वरविरचितपारम्पर्यागतसन्मर्यादामनुपालयन्तः सन्तः सन्ति शतशस्तथापीत्थमवहित्थया कचित्कथञ्चिन्निर्वहन्त एत एतादृशा महान्त इति न ज्ञायन्ते। कदाचिदुपेतमपि कञ्चित्साधुरयमसाधुर्वेति शङ्कया नाङ्गीचिकीर्षन्ति।

> अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्।
> मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृद्‌ध्रो जरद्गवः॥

इति विष्णुशर्मोक्तन्यायात्। दैवं च कालक्रमाद्विपरीतमभूत्। यतोऽसतोऽभिरमयन्सत एवोपतापयति।

आश्चर्य है कि उत्तानपाद के पुत्र द्वारा वर्णित सहृदय महात्मा पुरुषों के प्रसङ्ग (सङ्गति) को पापी कलि ने दुर्लभ ही कर दिया। जिस देश में सत्पुरुष सुखपूर्वक निवास करते हैं, वही देश उत्तम है; अन्य देश, सत्पुरुषों से हीन होने के कारण, श्मशान की भाँति हैं। यद्यपि प्रत्येक देश, प्रत्येक ग्राम, प्रत्येक जाति तथा प्रत्येक कुल में ईश्वर-विरचित परम्परागत अच्छी मर्यादा का पालन करनेवाले सहस्रों ब्राह्मण हैं, तो भी किसी प्रकार से निर्वाह करते हुए निज अवहित्था (आकार-गुप्ति) से रहते हैं जिससे कोई उनकी महत्ता को नहीं जान पाता। किसी समय आये हुए साधु को, असाधु समझकर, अङ्गीकार करने की इच्छा नहीं करते।

'जिसका कुल तथा शील न मालूम हो उसको स्थान नहीं देना चाहिए; क्योंकि विडाल के अपराध के कारण वृद्ध गृध्र मारा गया'—विष्णु शर्मा के इस कथन से, काल-क्रम के अनुसार, भाग्य भी विपरीत हो गया। इससे सिद्ध हुआ कि वह दुष्ट को सुखी तथा अच्छे को सन्तप्त करता है।

विदो हीदमूदुः—

> मध्युगमध्योत्पन्नाः कृतयुगधर्मानुसारिणः किमिति।
> इति रोषादिव कलिना पीड्यन्ते साधवो जगति॥ इति।

अहो प्रतिक्षणं दुःखाद्दुःखतरं प्रतीमः। स्वप्नेऽपि सुखलवलेशकणाणुगन्धमपि न परिचिनुमः। क्व यामः, किमिह कुर्मः, वपुरपीदम-

नित्यमनुवासरभङ्गुरमासन्नध्वंसमविश्वसनीयमतिजुगुप्सितमलविलिप्तत्वान्न ममताभाजनम्। अभिहितं हि विष्णुपुराणे—

मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ।
देहे वै प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः॥ १॥
स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान्।
वैराग्यकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते॥ २॥

श्रूयते च मैत्रेयीब्राह्मणे—शरीरमिदं मिथुनादेवोद्भूतं सँविद्व्यपेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्म्मणाऽवनद्धमित्यादि। अतोऽस्मिन्मिथ्याभूते जगति यद्भवति तद्भवतु नाम। परन्तु श्रीभगवानेकः शरण्यशिरोमणिचरणसरोरुहः शरणागतकिङ्करकरुणाकरः शरणीकरणीयः। अत्र ज्यायांसोऽपीदमुदीरयाम्बभूवुः—

जानकारों ने कहा है कि संसार में कलियुग, क्रुद्ध होकर, साधुजनों को मानो इसलिये पीड़ित करता है कि 'मेरे युग में उत्पन्न होकर ये कृतयुग के धर्मों का अनुसरण क्यों करते हैं'। प्रत्येक क्षण में अतिशय दुःख की अवगति (ज्ञान) हो रही है। स्वप्न में भी सुख के लेशमात्र अणुभाग की गन्ध तक प्राप्त नहीं होती। कहाँ जायँ; यहाँ हम क्या करें; यह शरीर भी अनित्य है, प्रतिदिन क्षीण हो रहा है, इसका नाश समीप है; यह तनिक भी विश्वसनीय नहीं है। अत्यधिक घृणित मल से लिप्त होने के कारण यह ममता का पात्र नहीं है। विष्णुपुराण मे भी कहा है कि 'मांस, रक्त, पीब, विष्ठा, मूत्र, स्नायु (सूक्ष्म नाड़ियाँ), मज्जा, अस्थि, इन सबसे संघटित शरीर में जिसे निश्चित प्रीति होगी वह मूढ़ नरक को भी प्रिय समझेगा। जो पुरुष अपने देह की अपवित्र गन्ध से विरक्त नहीं होता, उसे भला और किस उपदेश से वैराग्य की प्राप्ति हो सकती है?' मैत्रेयी-ब्राह्मण में भी सुना जाता है कि यह शरीर स्त्री-पुरुष के संयोग से ही उत्पन्न है। ज्ञान के बिना इसे नरक ही समझना चाहिए; क्योंकि यह मूत्र के दरवाज़े से निकला है, हड्डियों से इसका ढाँचा बना है, यह मांस से लिपा हुआ तथा चर्म से बँधा हुआ है। इससे इस मिथ्याभूत जगत् में जो हो, वह स्पष्ट हो। किन्तु शरणागत पुरुषों के शिरोमणि-स्वरूप चरणकमलवाले केवल श्री भगवान् ही अपनी शरण में आये

हुए दासों के ऊपर करुणा कर उनकी रक्षा करते हैं। इस विषय में बड़े लोग भी कहते हैं—

सर्वोत्कृष्टसुखप्राप्तिं सर्वदुःखपरिक्षयम्।
यदीच्छसि तदेकं त्वं समाराधय माधवम्॥ १॥

निरोधो न द्वारे न च खलजनो यस्य सदने
न चास्ते दारिद्र्यं भजति भजतो वाऽप्यभजतः।
यथा येषां वाञ्छा वितरति तथा कल्पतरुव-
द्रमेशं तं तूर्णं जगति परिपूर्णं भज सखे॥ २॥इति।

एतच्च भक्तिप्रकरणे प्रकटीभविष्यति विस्तरशः। अहो इत्थम्भूतमहानुभावो भगवान्कुत्र गत्वा लभ्येत, कथं वेत्यपि न संशयितव्यम्। देवादिरूपेण बहिरन्तरन्तरात्मरूपेण च सर्वं विश्वं व्याप्य खलु तस्य विभ्राजमानत्वात्। एवमपि बहिर्दृष्टीनां कुमेधसां दूरे विद्यमानो जन्मकोटिभिरपि न स्फुरति। अन्तर्दृशां सुमेधसां तु समीपतरवर्ती सद्योऽन्तरेव सञ्चकास्ति।

यदि तुम सर्वोत्तम सुख प्राप्त करना तथा सम्पूर्ण दुःखों से पिण्ड छुड़ाना चाहते हो, तो केवल माधव की ही आराधना करो। लक्ष्मीपति की आराधना सम्पूर्ण फल देती है। हे मित्र! उस पूर्णस्वरूप लक्ष्मीपति को शीघ्र भजो, जिसके द्वार पर न तो कोई रोक-टोक है और न जिसके यहाँ दुर्जनों का निवास ही है; वह न केवल अपने भक्तों का ही वरन् भजन न करनेवालों का भी दारिद्र्य दूर कर देता है तथा वह लोगों को—जिसकी जैसी इच्छा रहती है उसे वैसा ही—कल्पवृक्ष के समान फल देता है। भक्ति के प्रकरण में इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायगा। अजी, इस तरह का संशय न करना चाहिए कि ऐसे महानुभाव भगवान् कहाँ जाने पर अथवा किस प्रकार मिलेंगे। उनकी प्राप्ति में कभी संशय न करना चाहिए; क्योंकि भगवान् इन्द्र आदि देवताओं के रूप में बाहर और अन्तरात्मा-रूप से भीतर—इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होकर विराजमान हैं। फिर भी बाह्य दृष्टिवाले कुत्सित बुद्धियुक्त पुरुषों के समीप होते हुए भी भगवान् उनसे इतने दूर हैं कि करोड़ों जन्मों में भी उन्हें प्राप्त नहीं होते। और अन्तर्दृष्टिवाले सद्बुद्धि पुरुषों के तो इतने समीप रहते हैं कि उन्हें शीघ्र ही इसी देहरूप मन्दिर में अधिगत हो जाते हैं।

तदेतदधीयते माध्यन्दिनाः—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥
तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ इत्यादि ।

एतादृशसर्वव्यापकसर्वात्मकपरब्रह्मस्वरूपो भगवाँश्च स एष श्रीकृष्ण एवेत्यामनन्ति बह्वृचाः ।

य ईञ्चकार न सो अस्य वेद य ईन्ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् । स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश । कृष्णं त एम रुशतः पुरोभा । विष्णुं स्तोमासः पुरुदस्ममर्का इत्यादि । तस्मात् यत्र कुत्रापि रहोवासपरिशीलनादन्तर्निष्ठयैव निषेव्यमाणः श्रीवासुदेवो भक्तवर्गनिसर्गानुक्रोशपरवशहृदयो भगवान् विशुद्धदीपशिखाकृति ज्ञानात्मकं रूपमाविष्कुर्वन् हृदयकुशेशयकोशावकाशे प्रचाकशीति ।

माध्यंदिनीय (माध्यंदिनी शाखा का अध्ययन करनेवाले) पुरुष अध्ययन करते हैं, अर्थात् विद्वानों के हृदय में ही सर्वरूप ब्रह्म प्रकाशित होता है। माध्यन्दिनी शाखावाले ऋषि कहते हैं कि 'वही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा और शुक्र (शुद्ध) ज्योतिरूप है। वही ब्रह्म, जल और ब्रह्मा है। वह चलता है, अर्थात् सूर्य, ग्रह-नक्षत्र आदि रूप से भ्रमण करता है। वह चलायमान नहीं है, अर्थात् व्यापक रूप से सर्वत्र वर्तमान है। वह ब्रह्म अज्ञानी की दृष्टि से तो दूर है पर ज्ञानवान् की दृष्टि में समीप ही है। वह ब्रह्म सबके भीतर भी है और बाहर भी। इस प्रकार सर्वव्यापक सर्वात्मा परब्रह्मस्वरूप भगवान् ही श्रीकृष्ण हैं—ऐसा बह्वृच् शाखावालों का कथन है। जिस पिता ने पत्नी में गर्भ का आधान किया, उसने उस गर्भ को नहीं जाना। जिस जीवात्मा ने गर्भ के भीतर प्रविष्ट होकर गर्भ का अवलोकन किया, उसने उसको नहीं देखा, यद्यपि वह उससे पृथक् नहीं है। वह माता की योनि में वेष्टित होकर, अनेक रूप से जन्म लेता हुआ, दुःख पाता है। संसार से विरक्त होने के लिये अधिकारी पुरुषों को इस मन्त्र का उपदेश किया गया है। "चकार" क्रियापद का प्रयोग डुकृञ्करणे और कृ-विक्षेपे इन दोनों धातुओं से सिद्ध होता है। डुकृञ्करणे धातु का प्रयोग 'गर्भ की उत्पत्ति' के अर्थ में है, जैसा ऊपर

व्याख्यात है। दूसरा व्याख्यान इस प्रकार है—जिस सूर्य की किरण ने जल का आकर्षण कर मेघ को बनाया उसने उसको नहीं जाना। जिस मेघ ने अर्थात् उसके देवता ने देखा, वह उससे पृथक् नहीं है। वह अन्तरिक्ष की योनि में परिवीत (वेष्टित) मेघरूप से मण्डल बना हुआ है। उसी मेघ के भीतर बिजली के संघर्ष से अनेक प्रकार का होता हुआ—अर्थात् खण्ड-खण्ड होकर पिघलता हुआ—निर्ऋति में प्रवेश करता है।

[कृष्णं त एम रुशतः पुरोभाश्चरिष्णर्चिर्वपुषामिदेकं यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदुदूतः। मन्त्र ९, अ० १, सू० ७, मं० २।]

हे (रुशतः) प्रकाशवाले अग्नि ! (ते) आपके (एम) चलने का मार्ग (कृष्णं) कृष्णवर्ण है। आपकी (भाः) कान्ति (पुरः) आगे होती है। (वपुषा) रूपधारी तेजस्वियों में आपका (चरिष्णुः) फैलनेवाला (अर्चिः) तेज (एकमित्) मुख्य ही होता है। (यत यं) जिस आपको (अप्रवीता) नहीं पहुँचे हुए यजमान (गर्भं) आपकी उत्पत्ति के कारणभूत अरणि को (दधते) धारण करते हैं, वही आप (सद्यश्चित्) शीघ्र ही (जातः) उत्पन्न हो यजमान के (दूतः) दूत होते हैं। (इत्) निश्चय करके इस मन्त्र में कृष्ण शब्द आया है। यह पद कृष्ण भगवान् का निर्देशक है। वासुदेव ने कृष्णअग्निरूप सर्वेश्वर हिरण्यगर्भ के तेज के अंश को लेकर संसार में धर्म-मार्ग का प्रचार करनेवाले कृष्णरूप को धारण किया। भक्तों के चित्त को धर्म-मार्ग में आकृष्ट किया, इसलिये हिरण्यगर्भ को कृष्णमार्गरूप धर्म-पथ-प्रदर्शक साक्षात् कृष्ण ही कहा है। हिरण्यगर्भरूप की दीप्ति अर्चिष् आदि रूप कृष्ण भगवान् ही हैं।

इसलिये मनुष्य चाहे जहाँ रहकर अभ्यास आदि करे किन्तु दृढ़ निष्ठा के साथ आराधना करने पर ही भक्तवत्सल वासुदेव भगवान् अपनी विशुद्ध आत्मज्योति का उपासकों के हृदय में प्रकाश करते हैं।

गिरितरुगुल्मगह्वरसागरगगनदिग्वनिजन्तुजातघटपटपुरटकटकादिकं नामरूपात्मकमिदमज्ञानोपकल्पितं शुक्तिरजतवद् भ्रान्तिमात्रम्। सत्यं तु सर्वं वस्तुतो भगवानेवेति यज्ज्ञानं। तद्रूपत्वादेव भगवतः। तथा च श्रीविष्णुपुराणम्—

ज्ञानस्वरूपमत्यर्थनिर्मलं परमार्थतः।
तदेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्॥ इति।

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥ इत्युपाध्यायाः ।

एवमादिव्यवसायवतां विरक्तिः सुलभैव । प्रसंख्यानसुखानुभूतिबद्धपरिकरस्य धीरस्य न किञ्चिदसाध्यम् ।

धीरलक्षणमाह कालिदासः—

प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥ इति ।
तां पार्वतीम् । पूर्वं विवाहात् ।

गिरि (पर्वत), तरु (वृक्ष), गुल्म (लता का झुरमुट), गह्वर (गुफा), सागर (समुद्र), गगन (आकाश), दिक् (दिशा), अवनि (पृथ्वी), जन्तु (प्राणियों) का समूह, घट (घड़ा), पट (कपड़ा), पुरट (स्वर्ण) का कटक (कड़ा) इत्यादि नाम-रूपात्मक यह अज्ञान-कल्पित जगत्—सीप में जिस प्रकार भ्रमवश चाँदी प्रतीत होती है वस्तुतः उसी प्रकार—ब्रह्म की भ्रान्तिमात्र है। 'सब कुछ भगवान् ही हैं', यह ज्ञान केवल भगवान् के स्वरूप के कारण है। उनके स्वरूप के विषय में विष्णुपुराण में लिखा है—"ब्रह्म परमार्थ में ज्ञान-स्वरूप और अत्यन्त निर्मल है, वह भ्रान्तिज्ञान से सांसारिक वस्तुओं के रूप में वर्तमान है; अर्थात् सब वस्तुएँ ब्रह्म-स्वरूप ही हैं।" विद्वानों का कथन है कि अस्ति (है), भाति (मालूम होता है), प्रिय (प्यारा), रूप तथा नाम ये पाँच अंश जगत् में हैं। इनमें पहले तीन अंश ब्रह्म के स्वरूप हैं और पिछले दो रूप जगत् के। जो लोग इसे समझकर प्रयत्न करते हैं उनके लिये वैराग्य सुलभ ही है। जो धैर्यवान् ज्ञान-सुख का अनुभव करने के लिये कटिबद्ध हो जाता है उसके लिये कुछ असाध्य नहीं है।

धैर्यवान् का लक्षण कालिदास ने इस प्रकार बतलाया है–शिवजी ने पार्वतीजी को समाधि (योग) में प्रत्यक्ष बाधक जानकर भी परिचर्या करने की आज्ञा दे दी। बात यह है कि विकार-कारणों के प्रस्तुत रहते भी जिनका मन डावाँडोल नहीं होता वही 'धीर' हैं (यों तो विकार-कारणों के न रहने पर सभी धीर बन बैठते हैं)।

अत्रोपपत्तिं ययातिराह—

दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न सँविशेत् ।
संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान्स आत्मदृक् ॥

अस्यायमर्थः । दृष्टं उच्चावचमैहिकं सुखं असत् अनिष्टं बुद्ध्वा न

संविशेत् नोपभुञ्जीत। तत्रासक्तिं जह्यादेवेत्यभिसन्धिः। श्रुतं उत्तरत आदि-चकारोऽपकृष्यते। आमुष्मिकं स्वर्गादिसुखं च असत् बुद्ध्वा नानुध्यायेत्। तन्मे भूयादिति नानुचिन्तयेत्। तत्र विराग एव श्रेयानित्याशयः।

इसमें उपपत्ति (फलसिद्धि) की युक्ति ययाति बतलाते हैं कि देखी हुई तथा सुनी हुई वस्तु को असत् समझकर न तो उसका ध्यान करे और न उसे भोगे ही। आत्मद्रष्टा वही है जो इस संसार को तथा शरीर को नाशवान् समझता है। यहाँ "दृष्ट" शब्द से नाना प्रकार के सांसारिक सुखों से तात्पर्य है। असत् शब्द का अर्थ अनिष्ट है। इन दोनों को समझ-बूझकर भोगे। तात्पर्य यह कि इन दोनों में आसक्ति ही न रक्खे। "श्रुतम्" आमुष्मिक परलोक का स्वर्गादि सुख है; क्योंकि वह सुना जाता है, देखा नहीं जाता। इससे उसका भी, अनिष्ट समझकर, ध्यान न करे। इस प्रकार का चिन्तन न करे कि मुझे स्वर्गादि सुख प्राप्त हो। आशय यह है कि ऐहिक (सांसारिक) तथा पारलौकिक सुखों से विरक्त हो जाना ही श्रेयस्कर है।

कुत इत्यत आह। तत्र तयोः संवेशनानुध्यानयोः संसृतिं जन्म आत्मनाशं च स्वरूपाप्राप्तिं विद्वान् जानन् यः स एव सर्वं वाक्यं सावधारणं भवतीति न्यायात् एव शब्दो लभ्यते आत्मदृग् भवति प्रत्यगात्मानं पश्यतीत्यर्थः। शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येदिति श्रुतेरिति भावः।

वैराग्य ही क्योंकर श्रेयस्कर है, इस आशङ्का में कहते हैं कि भोग तथा पदार्थ के चिन्तन में संसार (जन्म) और आत्मनाश (स्वरूप की अप्राप्ति) को जाननेवाला ही आत्मद्रष्टा है—अपने अन्दर आत्मा को देखता है। शान्त (बाहरी इन्द्रियों को रोकनेवाला), दान्त (भीतरी इन्द्रियों को रोकनेवाला) पुरुष सहनशील होकर हृदय में अपने आपको देखे, यह श्रुति-अर्थ भी इस अर्थ में प्रमाण है।

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्म्मणाम्।
अयं तु परमो धर्म्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥ इति।

धर्म्मशास्त्रमाह याज्ञवल्क्यः—

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः।
काम जानामि ते मूलं सङ्कल्पात्किल जायसे॥

न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि समूलस्त्वं विनङ्क्ष्यसि।

इतिस्मृतिमनुरुन्धानया बुद्ध्या सङ्कल्पत्यागात्कामा नश्यन्ति। ततः कृतार्थतामाह श्रीनृसिंहम्प्रति प्रह्लादः—

विमुञ्चति यदा कामान्मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते॥ इति।

उक्तं च गौडपादाचार्य्यैः—

आत्मसत्याऽनुरोधेन न सङ्कल्पयते यदा।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहः॥ १॥
मनसो निग्रहायातमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव चेत्॥ २॥ इति।

'यज्ञ, आचार, दम (मन का दमन), अहिंसा, दान, स्वाध्याय (वेदाध्ययन), इन कर्मों के बीच परमधर्म है योग द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करना।' याज्ञवल्क्य का धर्मशास्त्र-रूप वाक्य है—"कामना का आदिकारण सङ्कल्प है। सङ्कल्प से ही यज्ञों की उत्पत्ति होती है। हे काम, मैं तुम्हारे मूल (जड़) को भली भाँति जानता हूँ—निस्सन्देह तुम्हारी उत्पत्ति सङ्कल्प से ही हुई है। अर्थात् सङ्कल्प न किया जाय तो तुम्हारी जड़ ही कट जाय।" इस स्मृति का अनुसरण करनेवाली बुद्धि के द्वारा, सङ्कल्प का त्याग कर दिये जाने पर, कामनाएँ स्वतः नष्ट हो जाती हैं। उसके बाद, कृतार्थता के विषय में, श्रीनृसिंह भगवान् से प्रह्लाद ने कहा है कि हे पुण्डरीकाक्ष! मनुष्य जब अपनी मनोकामनाओं का परित्याग कर देता है तभी वह भगवत्स्वरूप-प्राप्ति में समर्थ होता है। इस विषय में गौड़पादाचार्य ने कहा है कि जिस समय साधक सर्वत्र अन्तर्यामी आत्मा की सत्ता का अनुभव करने लगता है उस समय उसका मन सब प्रकार के सङ्कल्प-विकल्पों से मुक्त हो जाता है। फलतः वह आत्मा के अतिरिक्त, ग्रहण करने योग्य, अन्य वस्तु न रह जाने से शान्त हो जाता है। मन का निग्रह करने से ही योगियों को अभय प्राप्त होता है, उनके दुःख नष्ट हो जाते हैं और उन्हें आत्मज्ञान तथा अक्षय शान्ति की उपलब्धि होती है।

तत्त्वज्ञानाभिनिवेशेन ध्यानाद्यभियोगे वासनाः क्षीयन्ते। क्षीणासु तासु निर्वृत्तिकं मनो लीयते। लीने च तस्मिन्निष्प्रत्यूहं तत्त्वज्ञानमुल्लासतीति।

एतच्च त्रयं सहैवाभ्यसनीयम्—

वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते ।
समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदायिनः ॥ इत्यापर्वोक्तेः ।

तत्र तत्त्वज्ञानस्य साधनं श्रवणमननादि । मनोनाशस्य प्राणायाम-प्रत्याहारादि । वासनाक्षयस्य प्रतिकूलवासनोत्पादनमिति ।

एवं सिद्धस्य ज्ञानस्यायं महिमा—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्व्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ १ ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ २ ॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३ ॥

मनुष्य जब तत्त्व-ज्ञान में एकाग्रतापूर्वक चित्त लगाता है तब ध्यान, धारणा आदि के संयोग से उसकी वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं। वासनाओं के क्षीण हो जाने पर मन वृत्ति-शून्य होकर लीन हो जाता है और उसके लीन होने पर ही निर्विघ्न तत्त्वज्ञान प्रकाशित होता है। वासना का क्षय, विज्ञान और मनोनाश—इन तीनों का अभ्यास एक साथ ही करना चाहिए। इस प्रकार एक साथ बहुत समय तक अभ्यास करने पर इनका फल मिलता है, यह वशिष्ठ ऋषि का वचन है। इसमें 'तत्त्व-ज्ञान' तो श्रवण मनन आदि के द्वारा, 'मनोनाश' प्राणायाम, प्रत्याहार (विषय-निवृत्ति की साधक क्रियाओं) आदि के द्वारा और 'वासना का क्षय' विपरीत वासना उत्पन्न करने से निष्पन्न होता है। सिद्ध ज्ञान का माहात्म्य इस प्रकार है—यदि तुम सब पापियों से बढ़कर हो, तो भी ज्ञान-रूप नौका का सहारा लेने पर सब दुःखों से तर जाओगे; और कोई उपाय नहीं है। हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि में कितनी भी लकड़ियाँ क्यों न डाली जायँ, उन सबको वह भस्म कर डालती है इसी प्रकार ज्ञान-रूपी अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है—अर्थात् ज्ञानी पर पुण्य-पाप का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। संसार में ज्ञान ही सब वस्तुओं से बढ़कर पवित्र है। आश्रमोचित कर्तव्यों का यथाविधि पालन करते-करते, अन्तःकरण की शुद्धि होने पर, उस ज्ञान की प्राप्ति अपने आप हो जाती है।

योगोऽत्र कर्म्मयोगः । सुचिरेण कालेन यथावद्विहितानुष्ठानात्संसिद्धः विशुद्धान्तःकरणः सन्, विषयेभ्यो निर्विद्य मद्भजनतत्परः आत्मनि स्वयमेवोत्पद्यमानं ज्ञानं लभत इत्यर्थः । न हि मद्भक्ता इतर इव ज्ञानाय क्लिश्यन्त इति भावः ।

यहाँ योग शब्द का अर्थ कर्मयोग है । विहित कर्म का बहुत समय तक विधिपूर्वक अनुष्ठान करते रहने से जब मनुष्य का अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है और विषयों की ओर से विरक्त हो वह मेरा भजन करने लगता है तब उसे आत्मा में ही ज्ञान की उपलब्धि होने लगती है । तात्पर्य यह है कि मेरे भक्तों को, केवल कर्म-काण्ड के प्रपञ्च में पड़े रहनेवालों की तरह, ज्ञान-प्राप्ति के लिये क्लेश नहीं उठाना पड़ता ।

स्मृत्यन्तरे —

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥ इति ।

सर्वं चैतत्सत्सङ्गत्यैव सुसाधम् । असम्भावनाविपरीतभावनादिदोषपरिजिहीर्षया ज्ञानसिद्ध्यनुगुणमैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यपापविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनमिति सूत्रकारदर्शितगुणविशेषजिज्ञासया च सन्तोऽभिगन्तव्याः ।

दूसरी स्मृति में भी कहा है कि 'जो योगी ज्ञान-रूपी अमृत को पीकर तृप्त और कृतकृत्य हो चुका है उसके लिये संसार में और कुछ भी कर्तव्य नहीं रह जाता ।' आत्मज्ञान की प्राप्ति होने पर भी यदि ज्ञानी के लिये कोई कर्तव्य बाकी रह जाय तो फिर वह आत्मज्ञानी ही कैसा ? इन सब बातों की प्राप्ति सत्सङ्गति से ही हो सकती है ।

सुख, दुःख, पुण्य और पाप यथाक्रम मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा नामक वृत्तियों के विषय हैं। इन (ज्ञानसिद्धि के अनुकूल) वृत्तियों की भावना करते-करते असम्भावना, विपरीत भावना आदि दोष दूर हो जाते हैं और अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है। सूत्रकारों के बतलाये हुए पूर्वोक्त गुणों को प्राप्त करने के लिये साधक को भगवद्भक्तों की शरण लेनी चाहिए ।

ते हि युक्त्या बोधयन्ति । पुनः पुनः स्मारयन्ति च । असम्भावनाविपरीतभावनाशब्दवाच्यौ संशयविपर्ययौ । तत्राद्यस्वरूपमुपपादितं

विद्यारण्यश्रीपादैः । आत्मा साक्षी कर्ता वा । साक्षित्वेऽप्यस्य ब्रह्मत्वमस्ति न वा । ब्रह्मत्वेऽपि तद् बुद्ध्या वेदितुं शक्यते न वा । शक्यत्वेऽपि तद्वेदनमात्रेण मुक्तिरस्ति न वेत्यादयः संशया इति । द्वितीयः पाञ्चभौतिके पिण्ड आत्मबुद्धिः । तथा हि भाष्यकाराः—देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्ना इति ।

भावना विपरीता या या च संशयभावना ।
कुरुते प्रतिबन्धं सा खलु ज्ञानस्य नापरम् ॥

इति पराशरानुशासनं मनसि निधाय शास्त्रसज्जनसम्पर्कादुभयमुन्मूलनीयं मनीषिभिः । प्रथमानिवृत्तौ द्वितीयानिवृत्तिः स्वत एव भवतीति । सुखदुःखशब्दौ रागद्वेषपरौ । 'सुखानुशयी रागः दुःखानुशयी द्वेष' इति च सूत्रितौ । रागः स्नेहः । द्वेषोऽप्रीतिः । यथा, कदाचित्किञ्चित्सुखमनुभवन्कश्चित्तत्र स्नेहं कुरुते सुखजातीयं सर्वं सर्वदैव मे भूयादिति । तत्तस्य दृष्टादृष्टसाधनाभावान्न सम्पद्यते । ततः स रागश्चित्तं कलुषीकरोति ।

वे भगवद्भक्त युक्ति से समझाते हैं तथा बार-बार स्मरण कराते हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञान दृढ़ करा देते हैं। असम्भावना तथा विपरीत भावना के दूसरे नाम क्रमश: संशय और विपर्यय हैं। इन दोनों में पहली का स्वरूप पूज्यपाद विद्यारण्य स्वामी ने इस प्रकार वर्णन किया है—'आत्मा साक्षी है अथवा कर्ता है? साक्षी होने पर भी इसका ब्रह्मत्व है या नहीं? ब्रह्मत्व होने पर भी यह बुद्धि द्वारा जाना जा सकता है या नहीं? बुद्धिगम्य होने पर भी उसके ज्ञानमात्र से मुक्ति होती है या नहीं—इत्यादि भावनाएँ संशय हैं।' पाँच भूतों से रचे गये इस शरीर में आत्मबुद्धि रखना ही विपरीत भावना है। यही भाष्यकार दिखाते हैं। प्राकृत (साधारण) जन कहते हैं कि देह ही चैतन्य-विशिष्ट आत्मा है। नास्तिक भी इसी को स्वीकार करते हैं। विपरीत भावना और संशय-भावना—ये दोनों ही ज्ञान की प्रतिबन्धक हैं।

विद्वानों को चाहिए कि वे महर्षि पराशर के पूर्वोक्त अनुशासन को ध्यान में रखकर, शास्त्रों और सज्जनों के सम्पर्क से, इन दोनों (असम्भावना तथा विपरीत भावना) को जड़-मूल से नष्ट कर दें। इनमें से पहली (असम्भावना) की निवृत्ति हो जाने पर दूसरी (विपरीत भावना) अपने आप निवृत्त हो जाती है। सुख-दुःख शब्द राग-द्वेष-परक हैं। 'योगदर्शन' के अनुसार सुख-सम्बद्ध भावना

को राग और दु:ख-सम्बद्ध भावना को द्वेष कहते हैं। इन्हीं दोनों को यथा-क्रम स्नेह और अप्रीति भी कहते हैं। कोई यदि कभी किसी वस्तु के संयोग से थोड़े से भी सुख का अनुभव कर ले और उसमें आसक्त होकर चाहे कि वह सुख उसे सदैव पूर्ण रूप में मिलता रहे तो यह 'राग' कहा जायगा; किन्तु ऐसा चाहने पर भी दृष्ट और अदृष्ट साधनों के न रहने से मनुष्य की पूर्वोक्त इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती। इससे उसका चित्त कलुषित हो जाता है। यही 'द्वेष' है।

यदा त्वसौ सुखिषु जनेषु मैत्रीं भावयेत् सर्व एते सुखिनो मदीया एवेति। तदीयं सुखं पुत्रमित्रादेरिव स्वकीयमेव सम्पन्नमिति रागापगमे चित्तं प्रसीदति। तथा कश्चिद् दु:खमनुभवन्ममेदृशं दु:खं कदापि मा भूदिति द्वेष्टि। ज्वरादिरोगेषु शत्रुचोरादिषु दु:खदेष्वनेकेषु सत्सु तन्न सम्भवति। अत: स द्वेषश्चित्तं सन्तापयति। यदाऽसौ दु:खिषु करुणां भावयेत् कस्यापीदृशं दु:खं मास्त्विति तदा स्वदु:खपश्चात्तापकार्श्याच्चित्तं प्रसीदति। यद्ययं पुण्यात्मसु मुदितां भावयेत्पुण्या एते साधु कुर्वन्तीति तदा तद्वासनया स्वयमेवाप्रमत्त: पुण्यकर्मणि प्रवर्त्तते। तथा पातकिनोऽमी दूरतो वर्जनीया इति पापिषूपेक्षां भावयन्स्वयमपि पापान्निवर्तते।

जब वह पुरुष सुखी जनों में मैत्री की वृत्ति धारण करता है कि सब सुखी जन मेरे ही हैं—इनके पुत्र-मित्रादि के सुखी होने में मेरा भी सुख है—तब ऐसी भावना करने से, राग दूर होकर, चित्त प्रसन्न हो जाता है। ऐसे ही कोई पुरुष दु:ख का अनुभव करता हुआ कहे कि मुझको इस प्रकार का दु:ख कभी न हो तो वह ऐसी भावना करके दु:ख में द्वेष करता है। ज्वर, शत्रु, चोर आदि अनेक दु:खदायक वस्तुओं के रहते हुए दु:खाभाव सम्भव नहीं है। इस कारण उस द्वेष से चित्त दुखी हो जाता है। परन्तु जब वही पुरुष दुखी व्यक्ति के प्रति करुणा की भावना करता है कि किसी को ऐसा दु:ख न हो तब, अपने दु:ख का पश्चात्ताप कम होने से, चित्त प्रसन्न होता है। जब वह पुरुष पुण्यात्मा जनों में मुदिता वृत्ति की भावना करता है, अर्थात् सोचता है कि ये पुण्यवान् जन अच्छा कर रहे हैं, तब वह इस भावना के कारण स्वयं साव-धान होता हुआ पुण्यकर्म में लगता है। इसी प्रकार ये पापी हैं, इनसे दूर ही रहना चाहिए, ऐसा समझ 'पापियों में उपेक्षा' की भावना करता हुआ वह स्वयं भी पाप से निवृत्त हो जाता है।

एवं भावयतोऽसूयेर्ष्याद्यखिलदोषनिवृत्तौ चित्तनैर्मल्याज्ज्ञानभाजनताऽभिसम्पद्यत इति सूत्रार्थः। आह च कृष्णमिश्रः, तत्र मैत्रीवाक्यम्—

ध्यायन्ति मां सुखिनि दुःखिनि चानुकम्पां
पुण्यक्रियेषु मुदितां कुमतावुपेक्षाम्।
एवं प्रसादमुपयास्यति रागलोभ-
द्वेषादिदोषकलुषोऽप्ययमन्तरात्मा ॥ इति।

सन्तश्चात्र वेदविद एव, न तु लौकिकाः। तेषु हि प्राचीनसुकृतसंस्कारवशात्सहजसन्मार्गाभिरुचिवर्त्तित्वेन दूरीकृतदुरीहत्वे सत्यपि सोऽहं सोऽयं तत्त्वमसीत्यादौ वस्तुस्वरूपोद्बोधकपदार्थपरिज्ञानाभावेनानुभवलववैधुर्यादन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धा इति श्रौतन्यायेनोपदेशविधेरयोगात्। शब्दबोधकं व्याकरणम्। अर्थबोधको वेदान्तः। तदुभयं विना वेदार्थो दुर्घटः। तेन विना परमेश्वरविज्ञानं दुर्लभतरम्। तथा च श्रुतयः—नावेदविन्मनुते बृहन्तम्। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह। आचार्यवान्पुरुषो वेद। आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापदित्यादयः। आचार्यादेवेत्यन्वयः। हेति प्रसिद्धौ। साधिष्ठं शोभनतमं फलं प्रापयतीत्यर्थः। अन्तिकबाढयोर्नेदसाधावितीष्ठनि साधादेशः। प्रापदिति भूतनिर्देश आशंसायां भूतवच्चेति शास्त्रात्। गुर्वाचार्यलक्षणं च स्मृती आहतुः—

ऐसी भावना करनेवाले पुरुष के असूया, ईर्ष्या आदि सब दोष दूर हो जाते हैं। इससे उसका चित्त शुद्ध हो जाता है और वह ज्ञान का पात्र बनता है। यह सूत्र का अर्थ है। कृष्णमिश्र भी मैत्रीवृत्ति का ऐसा ही स्वरूप बतलाते हैं—'सुखी जनों में जो मेरा ध्यान करते हैं, दुखियों पर जो दया करते हैं, और पुण्यकर्म में मुदिता-वृत्ति धारण करते हैं तथा मूर्खता की उपेक्षा करते हैं उनका चित्त चाहे राग, लोभ, द्वेष आदि दोषों से कलुषित क्यों न हो, फिर भी पूर्वोक्त भावनाओं का आश्रय लेने से उन्हें प्रसन्नता प्राप्त होगी। इस स्थान में 'सन्तः' पद से वेद के जाननेवालों का अभिप्राय है न कि लौकिकों का; क्योंकि लौकिक जनों के भीतर पूर्वजन्म के शुभ संस्कारों के कारण स्वभावतः सन्मार्ग की ओर अभिरुचि तथा पापमय वृत्तियों के न रहने पर भी 'वह मैं हूँ', 'वह यह है', 'वह तू है' इत्यादि महावाक्यों में वर्णित वस्तु के परिचायक पद और पदार्थ

का ज्ञान नहीं होता। इससे अनुभव मिलना अत्यन्त कठिन है। अतएव ऐसे लोगों के लिये उपदेश की सभी विधियाँ सर्वथा निष्फल हैं; क्योंकि जो स्वयं अन्धा है वह दूसरों को रास्ता नहीं दिखा सकता। यह बात न्यायसिद्ध है। शब्द का बोधक व्याकरण है और अर्थ का बोधक वेदान्त है। इन दोनों के बिना वेदार्थ का समझना कठिन ही है। वेदार्थ-ज्ञान के बिना परमेश्वर का परिज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है। अवेदवित् (वेद को न जाननेवाले) उस बृहत् ब्रह्म को नहीं जानते। उस ब्रह्म को जानने के लिये समिधा हाथ में लेकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के पास जाना चाहिए। ऐसे शरणागत शिष्य के लिये विद्वान् गुरु उपदेश करते हैं कि वही पुरुष जान सकता है जिसका आचार्य उच्च कोटि का हो। जो विद्या आचार्य से सीखी जाती है वही भली भाँति प्राप्त होती है। "आचार्याद्ध" का "आचार्यादेव" अन्वय कर लेना चाहिए। साधिष्ठ (शोभनतम) को विद्या प्राप्त होती है। "अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ" इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार अन्तिक और बाढ शब्द को इष्ठन् के परे नेद और साध आदेश होता है। इस नियम से बाढ़ को साध आदेश हुआ। 'प्रापत्' क्रिया भूतकाल की है। पाणिनि-व्याकरण के अनुसार, आशंसारूप अर्थ में भूतकाल के सदृश प्रत्यय होता है, इससे यहाँ लुङ् लकार हो गया। गुरु और आचार्य के लक्षण स्मृतिकारों ने ये बतलाये हैं—

संस्कृतैः प्राकृतैश्चैव गद्यपद्याक्षरैस्तथा।
देशभाषादिभिः शिष्यं बोधयेत्स गुरुः स्मृतः॥ १॥
आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्तु स आचार्य्य उदाहृतः॥ २॥ इति।

कृतार्थो ह्याचार्यो नाम भवतीति भाष्यम्। गुरुभक्तिरीश्वरसंतुष्टावन्तरङ्गा भवतीत्याम्नायते श्वेताश्वतरशाखायां मन्त्रोपनिषदि—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ इति।

भगवदनुशिष्टिरपि—

नाहमिज्ज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन च।
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा॥

महाभारते—

गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः।
असतां च गतिः सन्तो न त्वसन्तः सतां गतिः॥ १॥

दर्शनात्पावनाः सन्तः सन्तः शोकहरा गिरा ।
सेवनाज्ज्ञानदाः सन्तः सन्तः संसारतारकाः ॥ २ ॥

श्रीभागवते—

त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्ज्जिताः ।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥ १ ॥

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्ग्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥ २ ॥

गुरु उसी को समझना चाहिए जो शिष्य को संस्कृत और प्राकृत भाषाओं, गद्य-पद्याक्षरों तथा देश-भाषा आदि के द्वारा समझावे। जो शास्त्र के अर्थ को शिष्य में इकट्ठा करता है (पढ़ाकर सञ्चय करता है), शिष्य को सदाचार में प्रवर्तित करता है तथा स्वयं भी शिष्य जैसा आचरण करता है वही आचार्य कहा गया है। भाष्यकार का कथन है कि जो कृतार्थ है, अर्थात् जिसने शास्त्र के अर्थों का सम्पादन किया है, वही आचार्य है। ईश्वर की सन्तुष्टि का मुख्य करण गुरुभक्ति ही है। श्वेताश्वतरशाखा के मन्त्रोपनिषद् में कहा है कि जिसकी देवता में उत्तम भक्ति है और वैसी ही भक्ति गुरु में है, उसी महात्मा को कथित (व्याख्यात) अर्थ ज्ञात होते हैं। भगवान् की भी शिक्षा है कि हे अर्जुन! सबका अन्तरात्मा (सबके भीतर व्याप्त) मैं इज्या (यज्ञ), प्रजाति, (उत्तम जन्म), तप, उपशम (शान्ति) आदि द्वारा उतना सन्तुष्ट नहीं होता जितना गुरु-सेवा से होता हूँ। महाभारत में भी कहा है कि सज्जन ही आत्मज्ञानियों की गति हैं। सज्जनों की गति तो सज्जन हैं ही, वे असत्पुरुषों की भी गति हैं। असत्पुरुष सत्पुरुष की गति नहीं है। सन्त दर्शनमात्र से पवित्र कर देते हैं, बातचीत करने से शोक को दूर कर देते हैं, सेवा करने पर ज्ञान प्रदान करते और संसार से बेड़ा पार कर देते हैं। श्रीमद्भागवत में भी कहा है कि हे साध्वि! ये साधुजन सर्व-सङ्ग-विरहित होते हैं, अर्थात् किसी विषय में उनको राग नहीं होता। तुम उनकी सङ्गति करो; क्योंकि वे लोग विषय-सङ्ग से उत्पन्न दोष को अवश्य दूर कर देते हैं। सत्पुरुषों के संसर्ग से मुझको बल और ज्ञान की ही नहीं, वरन् कानों को प्रिय लगनेवाली कथा की भी प्राप्ति हुई है। उन्हीं की सेवा से मोक्ष-मार्ग में क्रम से श्रद्धा, रति और भक्ति बहुत शीघ्र होगी।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायणम् ।
सन्तो ब्रह्मविद: शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ।। इति ।

वशिष्ठम्प्रति वायसाग्र्य:—

अधिगतपरमात्मनोऽपि मन्ये भवदवलोकनशान्तदुष्कृतस्य ।
मम सफलमिहाद्य जन्म साधो सकलमलापहरो हि साधुसङ्ग: ।।

महात्मभिरपि तच्चरितानुवादमुखेनैव सन्त: स्तूयन्ते—

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरं
विपक्षो नाभ्यर्थ्य: सुहृदपि न याच्य: कृशधन: ।
विपद्युच्चै: स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ।।

वासरगम्यमनूरोरम्बरमवनी च वामनैकपदम् ।
जलधिरपि पोतलङ्घ्य: सतां मन: केन तुलयाम: ।।

इत्यादि बहु । अत: सतां सङ्गं श्रेयसो मूलं विद्म: ।

यत्र वसन्ति हि सन्तो विचिन्तयन्तोऽच्युतं चिरं तत्र ।
द्वापरमर्दनशूरा वाक्पूरा बहु वितायन्ते ।।

ब्रह्म को जाननेवाले शान्त स्वभाव के सन्त जन ही इस घोर संसार-समुद्र में डूबकर उतराते हुए पुरुषों के लिये परम आश्रयस्वरूप हैं। जैसे जल में डूबते हुए पुरुषों का आश्रय दृढ़ नौका होती है वैसे ही निश्छिद्र (छिद्र-रहित) नौका के समान सन्त लोग संसारी पुरुषों के परम आश्रयस्वरूप होकर उन्हें डूबने से बचाते हैं। वशिष्ठजी के प्रति काक-शिरोमणि काकभुशुण्डिजी कहते हैं कि हे सत्पुरुष! आपके दर्शन से मेरे पाप शान्त हो गये तथा मुझे परमात्मा का साक्षात्कार हो गया। इस जगत् में मेरा जन्म ग्रहण करना सफल हो गया। साधुओं का सङ्ग सब मलों (विकारों) को दूर कर देता है।

बड़े लोग भी साधु जनों का चरित कह-सुनकर उनकी स्तुति करते हैं—"सज्जन उचित व्यवहार पर प्रीति रखते हैं। उनके प्राण भले ही चले जायँ पर वे किसी के साथ निन्दित व्यवहार नहीं करते। न तो वे शत्रुओं की प्रार्थना करते हैं और न अर्थकष्ट में पड़े हुए मित्र से ही याचना करते हैं। आपत्तिकाल में भी वे उन्नत होकर रहते तथा बड़े लोगों के पद का अनुसरण करते हैं। न जाने किस पुरुष ने सज्जनों के लिये इस—तलवार की धार के समान—कठिन व्रत

का निर्देश किया है। सूर्य के सारथि अनूरु (बिना पैरवाले) विस्तृत आकाश को एक दिन में ही अतिक्रम कर लेते हैं; यह पृथिवी वामन भगवान् के एक ही पैर में नाप ली गई और समुद्र को भी लोग नौका के सहारे पार कर लेते हैं। ये सब जब सज्जनों के मन की (विशालता की) तुलना के योग्य नहीं हैं तो फिर इसकी तुलना किससे की जाय ?" इत्यादि बहुत से वचन वशिष्ठ के प्रति काकभुशुण्डिजी ने कहे हैं। इस कारण हम यह जानते हैं कि सज्जनों का सङ्ग कल्याण का मूल है। भगवान् का चिन्तन करते हुए सन्त जन जिस देश में बहुत समय तक निवास करते हैं, उस देश में सन्देह का मर्दन करने में समर्थ वाक्यों के प्रवाह बहुत विस्तीर्ण हो जाते हैं। अर्थात् भगवान् के चरण-कमलों का चिन्तन करने से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है जिससे भ्रम, विपर्यय, असम्भावना आदि दोष नष्ट हो जाते हैं; प्रमाज्ञानरूप सूर्य का उदय होता है; अनात्मा में आत्मज्ञान, आत्मा में अनात्मज्ञान, सुख में दुःखज्ञान, दुःख में सुख-ज्ञान-रूप सन्देहमूलक विपर्यय-ज्ञान को नष्ट करनेवाले वाणी के प्रवाह—उपनिषद् पुराण आदि का पठन-पाठन—विस्तृत हो जाते हैं। असत्कथा की चर्चा, जिससे रागद्वेषादि की उत्पत्ति होती है, वहाँ नहीं होने पाती।

असत्सङ्गस्तु त्याज्य एव—

हीयते हि मतिस्तात हीनैः सह समागमात्।
समानैश्च समानत्वं विशिष्टैश्च विशिष्टता ॥ इत्यष्टावक्रस्मृतेः।
स्नेहो यत्र भयं तत्र भये स्नेहसुखं कुतः।
स्नेहमूलानि दुःखानि स्नेहत्यागी सुखी भवेत् ॥

इति जनस्नेहोऽपि विक्षेपहेतुत्त्वादुपेक्ष्य इत्युक्तम्। यस्मादसौ महानिद्रानिशमथ शमथमथन।

श्लोकं श्लोकार्द्धमेवाऽपि पादं पादार्द्धमेव वा।
भारतं भारतश्रेष्ठ व्याचष्टे यस्तु शास्त्रवित् ॥

स सर्ववेदव्याख्यानफलं प्राप्नोत्यसंशयमिति वैशम्पायनमुनिवचनप्रलोभितचेतसो भगवन्नमस्कारमन्त्रोऽयमिति चोत्पश्यतः शास्त्रविदिति शब्दार्थं त्वविज्ञायैव ममायं परिकरबन्धो न हि काचिदासक्तिरिति।

असत्सङ्ग तो सदा त्याज्य ही है। हे तात! हीन के साथ सम्पर्क रखने से बुद्धि हीन होती है। ऐसे ही अपनी बराबरीवाले का साथ करने से वह

समान रहती और अपने से उत्तम व्यक्ति के साथ रहने से बढ़ जाती है। यह अष्टावक्र स्मृति में कहा है।

जहाँ स्नेह होता है, वहाँ भय भी होता है। भय के रहते प्रेम का सुख कहाँ? स्नेह ही दु:खों का मूल है। मनुष्य स्नेह का त्याग करने से ही सुखी होता है। विक्षेप का कारण होने से स्नेह भी त्याज्य है; क्योंकि वह कल्याण का बड़ा भारी घातक है। अस्तु। "महाभारत के एक श्लोक, आधे श्लोक या चौथाई श्लोक का व्याख्याता व्यक्ति ही सच्चा शास्त्रज्ञ ा है। वही सम्पूर्ण वेदों की व्याख्या करने का फल पाता है।" 'वासुदेवरसानन्द' ग्रन्थ बनाने के मेरे लिये दो ही कारण हैं; एक तो भगवान् की वन्दना का मूल मन्त्र, 'वासना वासुदेवस्य' यह (महाभारत का कूट) श्लोक, दूसरा महर्षि वैशम्पायन की सदुक्ति द्वारा प्रदत्त प्रबल लोभ। मेरे ग्रन्थ-निर्माण का कारण पाण्डित्य का अभिमान कदापि नहीं है।

प्रेर्य्यमाणस्य केनापि पुंसाऽन्तर्व्वासिना बलात्।
वाचालतां ममाज्ञस्य क्षन्तुमर्हन्ति सत्तमाः ॥ १ ॥
सुप्रीताः सन्ति सन्तो मे यदि कारुण्यकन्धयः।
कृती तदा भवाम्येव सन्तो हीश्वरमूर्तयः ॥ २ ॥

यावतीर्वै देवतास्ताः सर्व्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति। तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे दिवे नमस्कुर्यान्नाश्लीलं कीर्तयेदेता एव देवताः प्रीणातीत्यापस्तम्बशाखायां श्रवणात्।

इति श्रीवासुदेवरसानन्दे ज्ञानशास्त्रप्रक्रिया वर्णिता।

अत: सज्जन पुरुष मेरी इस अज्ञान-जनित वाचालता के लिये मुझे क्षमा करें; क्योंकि प्राणिमात्र के अन्त:करण में विराजमान किसी अलौकिक महाशक्ति की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही मैं उक्त अपराध कर बैठा हूँ, स्वत: नहीं। मुझे पूर्ण विश्वास ही नहीं, किन्तु दृढ़ निश्चय भी है कि यदि दयालु सत्पुरुषों की मुझ पर कृपा-दृष्टि हुई तो मुझे अपने उद्योग में सफलता अवश्यमेव मिलेगी क्योंकि सत्पुरुष भगवान् की मङ्गलमयी मूर्त्तियाँ ही तो हैं। "सत्पुरुषों (वेदवेत्ता ब्राह्मणों) के शरीर में समस्त देवताओं का निवास है अतएव उनको प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिए। भूलकर भी उनके लिये कोई कटुवचन न कहे।" इस आपस्तम्ब शाखा का अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति सत्पुरुषों का सत्कार करता है वह मानों सम्पूर्ण देवताओं का पूजन करता है।

यहाँ तक ज्ञान-शास्त्र की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है।

अतः परमविरतपरमानन्दघनमधुरमधुधारासारानारतसंस्रावशीतलतया कुशलजनसुखसेवनीयं विश्वजनीनं श्रीभगवद्भक्तिशास्त्रमात्मनोऽनुरूपं निरूपयितुमतिकुतुकितमतिरमतिरपि जनोऽयमुत्साही ।

वाचां स्वान्तसमेतानामप्राप्यो योऽखिलाश्रयः ।
भक्तानां भक्तिगम्यं तं वासुदेवमुपास्महे ॥ १ ॥
वन्दारुवृन्दाभिमतामृताब्धिं सद्भक्तिसँय्युक्तजनानुरक्तम् ।
भूभारसंहारविहारवीरं वन्देऽनिशन्देवमुकुन्दमेकम् ॥ २ ॥
निगमसुगमपदमनुपमशमदं भजदभिमतशतभृतिकृतियशसा ।
त्रिभुवनपरिततमरिदहमहसं हृदि यदुपतिमहमिह दयितमये ॥ ३ ॥

इसके आगे अब हम परम शान्तिमय, भक्तों के अत्यन्त प्रिय, उस भक्ति-शास्त्र का वर्णन करेंगे जो प्राणिमात्र के लिये अत्यन्त हितकर है और जिसके अभ्यास से हृदय में ब्रह्मानन्द की मधुरतामयी धारा प्रवाहित होने लगती है। भक्ति-शास्त्र जैसे गम्भीर शास्त्र का पूरा-पूरा वर्णन करना तो शक्ति के बाहर है, फिर भी जहाँ तक बन पड़ेगा—अपने उत्साह, उमङ्ग और योग्यता के अनुरूप—उसके वर्णन करने का हम प्रयत्न करेंगे। जड़-चेतन के आधार उन वासुदेव भगवान् को हमारा प्रणाम है जिनको मन समेत समस्त इन्द्रियाँ नहीं पा सकतीं। वे एकमात्र भक्ति के द्वारा प्राप्त होते हैं। और का तो कहना ही क्या, द्रुतगति मन भी उनको नहीं पा सकता।

भक्तों के मनोरथ पूर्ण करनेवाले, उपासकों के प्रेमी, संसार का भार हरण करनेवाले, दिव्यस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को हम नमस्कार करते हैं। अपने तेज से प्रबल शत्रुओं का संहार करनेवाले, परमप्रिय, यदुपति उन श्रीकृष्णचन्द्र की हम हृदय से शरण लेते हैं जिनको योगी-यति वेदों द्वारा सहज ही में प्राप्त कर लेते हैं, जिनके द्वारा अनुपम शान्ति मिलती है तथा जो अपने शरणागतों की इच्छा पूर्ति करने में परम प्रसिद्ध हैं।

वृत्तिरियं माला च मणिगुणनिकरश्च । विवक्षया लक्षणद्वयस्यापि सत्त्वात् । लघूपायेन तद्भेदनाय नूतनं सङ्गृह्यते ।

ननननसगणैर्यां वृत्तिमाहुः कवीन्द्रा
भवति शशिकला सा शैलनागावसाना ।
रसनिधिविरतिश्चेत्सैव मालाऽभिधाना
मणिगुणनिकरः स्यात्सैव वस्वश्वभिन्ना ॥

चतुर्भिर्नगणैः पञ्चमेन सगणेन च युक्ताम्। सैव शशिकलैवेत्यर्थः।

अथात एषा मीमांसा विशेषेणास्मिन्कलौ भूरिजन्मोपार्जितवृजिनजातजनितोत्ताडजडिमप्रताडितमतीन्कथञ्चिदपि वैदिकमार्गमारोहयितुम्। अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति। यत्र नोष्णं न च शीतं स्यान्न ग्लानिर्नाप्यरातयः। अपाम सोममृता अभूमेत्यादिभिः श्रौतैः।

इस छन्द का नाम माला है। कुछ लोग इसे मणिगुणनिकर भी कहते हैं, क्योंकि विवक्षा से दोनों के लक्षण सम्भव हैं। छन्द के स्वरूप को समझने के लिये एक नवीन श्लोक लिखा जाता है। चार नगण और एक सगण से युक्त छन्द को शशिकला कहते हैं। आठवें और सातवें अक्षर पर इसमें विराम होता है। छठे और नवें अक्षर पर विराम हो तो यही छन्द माला छन्द हो जाता है तथा आठवें और सातवें पर विराम हो तो इसी को मणिगुणनिकर कहते हैं। इस कलियुग में जो लोग अनेक जन्मोपार्जित पापों के कारण अज्ञान के गहरे गढे में जा गिरे हैं उनको किसी प्रकार से वैदिक मार्ग पर लाने के लिये यहाँ पर कुछ थोड़ा सा विचार किया जाता है। चातुर्मास्य याग करनेवालों को उस अक्षय लोक की प्राप्ति होती है जहाँ न सर्दी है न गर्मी; वहाँ मन की ग्लानि भी सर्वथा दूर हो जाती है, तथा शत्रुओं का भय नहीं रह जाता। उस लोक में पहुँचकर प्राणी सोमपान करते एवं अमर हो जाते हैं।

देवानिष्ट्वा मखैर्लब्ध्वा लोकान्पुण्यजितानथ।
विमानैर्विहरिष्यामो मोदमाना सहामरैः॥

इत्यादिभिः स्मार्तैश्च प्ररोचनार्थकवचनैः पल्लवितचेतसां चाटुकभाषिणां गतानुगतिको लोक इतिवदुत्सुकतामात्रेण कर्मणि प्रवर्तमानानां जनानां पुनरयत्नतोऽहर्निशजायमानकलिकल्मषकलुषीकृतमतीनां किल कर्माहदेशकालद्रव्यक्रियामन्त्रप्रयोगादिगुणदोषानभिज्ञतया वैगुण्यबाहुल्यात्कर्मयोगो यथा न सिद्धिदः। किन्त्वाशामोदकमात्रम्। यदाहोशना—

हम लोग भी यज्ञ-यागों द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर उनकी कृपा से, और अपने शुभ कर्मों के फलस्वरूप अनेक पवित्र लोकों में जाकर, देवताओं के साथ विमानों में बैठ उन लोकों का सुख भोगेंगे तथा आनन्दपूर्वक विचरा

करेंगे।—इत्यादि श्रुतियों और स्मृतियों के कर्म-प्रशंसक तथा चित्ताकर्षक वचनों से प्रोत्साहित होकर केवल दूसरों की देखा-देखी जो बिना किसी प्रकार की श्रद्धा-भक्ति के यज्ञ याग आदि कर्मों को करने लगते हैं, उनके सभी कर्म निष्फल हो जाते हैं; क्योंकि कर्म करते समय ऐसे लोगों की बुद्धि कलिकाल के प्रभाव से दिनोंदिन बढ़नेवाले, स्वत:सिद्ध पापों के कारण अत्यन्त मलिन रहती है। इन लोगों को शुभ कर्मों के उपयुक्त देश, काल, द्रव्य, क्रिया तथा मन्त्र-प्रयोग आदि के गुणों और दोषों का ज्ञान भी नहीं होता। अतएव कर्मों में अपूर्णता प्रभृति अनेकानेक दोष आ जाते हैं, फलत: ऐसे लोगों का कर्मयोग (प्रवृत्ति-मार्ग) सिद्धि-प्राप्ति में सहायक न होकर बिलकुल व्यर्थ जाता है और ये लोग मनोमोदक खाते रह जाते हैं।

देशकालाद्यविज्ञाय बालानां कर्म कुर्वताम्।
फलाशा कीदृशी स्थूलतुषान्कण्डयतामिव ॥ इति।

एवमुक्तरीत्या ज्ञानयोगोऽपि सन्दिग्धप्राय एव। तीव्रतरचित्तैकाग्र्य-प्रधानप्रभूतायाससाध्यत्वात्। उक्तं हि सर्वानुभवयोगिना —

महर्षि उशना ने कहा है—अज्ञान के कारण जो लोग यज्ञ-याग आदि शुभ कर्मों के अनुकूल देश-काल प्रभृति के जाने बिना ही कर्म करना आरम्भ कर देते हैं वे फल-प्राप्ति की आशा कैसे कर सकते हैं? उनका शुभ कर्म करना तो चावलों की प्राप्ति के लिये भूसी कूटने के समान है! इन अविवेकियों का कर्मयोग तो पूर्वोक्त रीति से निष्फल गया ही; रहा ज्ञानयोग (निवृत्ति-मार्ग), उसके द्वारा भी ऐसे लोगों की मनोरथ-पूर्ति होने में पूरा-पूरा सन्देह है। ज्ञानयोग तो कर्मयोग की अपेक्षा और भी कष्टसाध्य है; क्योंकि उसमें अनेक प्रकार के व्रतों के पालन एवं चित्त को एकाग्र करने में तरह-तरह की कठिनताएँ सामने आ खड़ी होती है।

चित्तैकाग्र्याद्यतो ज्ञानमुक्तं समुपजायते।
तत्साधनमतो ध्यानं यथावदुपदिश्यते ॥ इति।

विषयरागो हि ज्ञानशत्रुस्तद्रहितो जन एवाधुना दुर्लभः।

सर्वानुभवी योगी ने कहा भी है—चित्त की एकाग्रता होने पर ही वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसी लिये चित्त की एकाग्रता के मुख्य साधन ध्यान का शास्त्रों में यथाविधि वर्णन किया गया है। ज्ञान का सबसे प्रबल

शत्रु है विषयानुराग और इस समय लोगों में इसी का बोलबाला है। फिर बेचारा ज्ञान पनपे तो कैसे ?

तदाह श्रीपराशरः—

सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति सम्प्राप्ते तु कलौ युगे।
नानुतिष्ठन्ति मैत्रेय शिश्नोदरपरायणाः ॥ इति।

उत्सर्पदुष्णतरदुःसहोग्रजवजाल्मीकृतजगतः शिश्नस्य वशगाः सर्व एव कतिचन कथञ्चन तन्निरोधयन्तोऽपि प्रतिवेलातिवेलवलज्जाठरज्वलनज्वालावलीकवलीकृतसाराः पुनरेकामेकादशीमपि सपत्नमातरमिव मन्तुमन्तो मन्वते जिह्मचेतसा। लपनकुहरान्तरालवर्तिनी रसना गरलवल्लरीव सकलं जनमाकुलीकरोति। कुटुम्बपोषणमात्रपुमर्थमानिनामर्थोपार्ज्जनयुक्तायुक्तविचारो रसातलमाविशत्। तथा च—

जिह्वा दग्धा परान्नेन हस्तौ दग्धौ प्रतिग्रहात्।
मनो दग्धं परस्त्रीभिर्जपसिद्धिः कथं भवेत् ॥

इति आचार्यन्यायेन हन्त निराश्रया ज्ञानचर्चा वराकीव दूरचरी कर्णगोचरीभवितुमपि विशङ्कते।

पराशरजी कहते हैं—मैत्रेयजी ! कलियुग के आने पर सभी लोग ब्रह्म की चर्चा करते दिखाई देंगे। 'ब्रह्मचर्चा करने का अधिकारी कौन है, कौन नहीं' इस ओर किसी का ध्यान तक न जायगा। लोग सत्कर्मों का करना अधिकांश में छोड़ देंगे, केवल पेट पालने और लम्पटता में ही समस्त कर्तव्यों की इतिश्री समझी जायगी।

हा ! दुर्दान्त विषय-वासनाओं ने दुनिया को अपना क्रीत दास बना रक्खा है, इनके प्रबल प्रवाह में पड़कर लोगों में भला-बुरा विचारने की शक्ति भी नहीं रह गई। यदि किसी प्रकार से कहीं पर थोड़े-बहुत संयमी पुरुष देखने में आते भी हैं तो बुरी हालत में; पेट की चिन्ता के मारे बेचारे घुले जा रहे हैं। ऐसी दशा में ये लोग झुँझलाकर यदि एकादशी आदि पुण्यतिथि के साथ सौतेली माँ का व्यवहार करते हैं तो ठीक ही करते हैं; क्योंकि पारणा का सामान कहाँ से आयेगा। कोई देनेवाला भी तो नहीं ! दो अङ्गुल की इस जीभ ने विष की बेल की तरह सबको व्याकुल कर रक्खा है। परिवार के पालन-पोषण को ही लोग पुरुषार्थ—जीवन का लक्ष्य—मान बैठे हैं। धनोपार्जन में उचित-अनुचित

का विचार तो मानो रसातल को चला गया है। किसी आचार्य ने ठीक ही कहा है—दूसरों का अन्न खाते-खाते जीभ का महत्त्व जाता रहा। दान लेने के कारण हाथों की भी यही दशा हुई। रह गया मन, उसका होना न होना बराबर ही है क्योंकि पराई बहू-बेटियों के चिन्तन से उसे छुट्टी नहीं मिलती। फिर भला जप आदि में सिद्धि मिले तो कैसे! इस प्रकार बेचारी ज्ञान-चर्चा निराश्रय होकर दूर ही दूर भागती फिरती है। कानों के पास तक आने में उसे भय लगता है।

किञ्च—

रतिरविरतपद्रतश्रीसुखसञ्चयसूरसूरिसूनूनाम्।
शिश्नोदरकलुषजुषां न जातु जायेत माजानौ॥

इदानीन्तनेषु सहस्रेषु यतमानेषु ज्ञानी कदाचिदेक उपलभ्येत, द्वौ वा। न तु तृतीयो येन बहुवचनं पूर्येत। यस्तु बहिः साधुतां दर्शयन्मनसि रागवानहं ज्ञानीत्यभिमन्यते तत्तस्य ज्ञानमेवोपहासास्पदम्। तदुदाचेरुः श्रीमदाचार्य्याः—

रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाड्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः॥ इति।

स्वयमपि—

कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ इति।

अथ समस्तवेदवेदान्तकदम्बहृदयरहस्यभूतपदकमलमहिमानमीहमानजनमनआनन्दवर्द्धनाभिरामापरिमितधामानमादिपूरुषमद्वितीयं भगवन्तं श्रीवासुदेवं विशुद्धकायवाङ्मनोव्यापारैः परमगौरवेण भजमानानां जनानां तु स्वाभाविको रागोऽपि नानालं[1] बन्धाय। तदाजिज्ञपन्भगवन्त एव दयावन्तः—

साधारण लोगों की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े भगवद्भक्तों के लड़कों में भी भगवद्भक्ति देखने में नहीं आती। वे रात-दिन खाने-पीने और लम्पटता में पड़े रहते हैं। आजकल हजारों आदमी ज्ञानी बनने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं

---

(१) न + अलम् = नालम्। न + नालम् = अनालम्। न + अनालम् = नानालम्।

किन्तु सम्भव है खोजने पर एक या दो मूर्त्तियाँ मिल जायँ, पर तीसरे का मिलना अत्यन्त कठिन है। और जो व्यक्ति मन में राग-द्वेष आदि के भरे रहने पर भी दूसरों पर अपनी साधुता का सिक्का जमाने के लिये ज्ञानी होने का दम भरता है, उसके लिये 'यह ज्ञानी होने का अभिमान' ही उपहास का कारण बन जाता है। आचार्यों ने लिखा है—मन में राग-द्वेष आदि का होना मनुष्य के अज्ञानी होने का स्पष्ट प्रमाण है। राग-द्वेष के रहते ज्ञान कहाँ? जिस पेड़ के कोटर में आग रक्खी हो भला वह कब हरा-भरा रह सकता है? स्वयं कृष्ण भगवान् ने भी कहा है—जो आदमी कर्मेन्द्रियों को रोक लेने पर भी मन में विषयों का चिन्तन करता रहता है वह बड़ा भारी अज्ञानी और पाखण्डी है। ज्ञानी पुरुषों में भी स्वभावतः राग रहता है किन्तु वह उनको बन्धन में नहीं डाल सकता; क्योंकि वे लोग वेद-वेदान्त के लक्ष्य-बिन्दु, महिमामय, आनन्ददाता, परमतेजोमय, अद्वितीय आदिपुरुष श्री वासुदेव भगवान् के भजन में तल्लीन रहते हैं। विषय-वासनाओं से दूर रहने के कारण उनकी सभी इन्द्रियाँ परम पवित्र हो जाती हैं। फलतः ज्ञानी पुरुष भगवद्भजन के रङ्ग में रँगे रहते हैं तब सांसारिक विषयों की ओर उनका ध्यान जाने ही क्यों लगा? राग अपना कार्य करे तो किधर से?

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥

हे उद्धवेति। प्रगल्भया समर्थयेति श्रीधरः। तदैकान्तिकतया भगवत्सन्तोषणनिपुणयेत्यर्थः। एतादृशभक्तिरसचश्चरीकाप्राचुर्यज्ञापनाय प्रायग्रहणम्। विषयभोगजन्यजघन्यफलबाधां नैवाप्नोतीत्यर्थः। मद्भ-क्तेरद्भुतप्रभावत्वादिति भावः।

भगवान् कहते हैं—उद्धवजी! मेरे जिन भक्तों का पिण्ड विषयों से पूरी तरह नहीं छूट पाया है वे उनके प्रवाह में पड़े रहने पर भी मेरी भक्ति की लहरों में गोते खाते रहते हैं, इसलिये उन पर सांसारिक विषयों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु इस कोटि के भक्त विरले ही होते हैं। मेरी भक्ति की महिमा बड़ी अद्भुत है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ १॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ २ ॥

गीता में भगवान् ने कहा है—कोई व्यक्ति अत्यन्त दुराचारी होकर भी यदि अनन्य भाव से मेरा भजन करता है तो उसको भी सदाचारी ही समझना चाहिए; क्योंकि उसकी प्रवृत्ति, एक प्रकार से, सत्कार्य की ओर ही है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर स्थिर शान्ति को प्राप्त कर लेता है। अर्जुन! तुम निश्चय रूप से समझ लो कि मेरा सच्चा भक्त कभी अधःपतित नहीं हो सकता।

विष्णुपुराणे—

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः ।
तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः ॥

स्मृतिसङ्ग्रहे—

न तावत्पापमस्तीह यावन्नाम हरेर्द्धरेः ।
अतिरेकभयादाहुः प्रायश्चित्तान्तरं बुधाः ॥

जैमिनिः—

हृदि भावयतां भक्त्या भगवन्तमधोक्षजम् ।
यः कोऽपि दैहिको दोषो जातमात्रो विनश्यति ॥

शान्तौ शान्तनवः—

कृष्ण कृष्णेति जपतां न भवो नाशुभा गतिः ।
प्रयान्ति मानवास्ते तु तत्पदं तमसः परम् ॥

भगवद्भक्तानां रागादिभ्यो भयं नास्तीत्यभ्यधायि शङ्कराचार्य्यैः ।

विष्णुपुराण में भी ऐसा ही कहा है—भगवान् के नाम में जब तक पापों के नाश करने की शक्ति है तब तक पापी से पापी व्यक्ति भी पाप करने की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। भगवान् का नाम शक्ति का बड़ा भारी भाण्डार है। स्मृति-संग्रह नाम की पुस्तक के वचन से भी यही सिद्ध होता है—संसार में जब तक भगवान् का नाम है तब तक पाप रह ही नहीं सकते। विद्वानों ने पापों के दूर करने के लिये शास्त्रों में जो अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान किया है वह केवल इसलिये कि पाप बढ़ने न पावें। महर्षि जैमिनि कहते हैं—भगवद्भजन-प्रेमी लोगों से यदि कोई शारीरिक पाप हो

भी जाय तो वह भगवद्भजन के प्रताप से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म पितामह का भी यही कथन है—जो लोग भगवान् के पवित्र नाम (कृष्ण-कृष्ण) का स्मरण करते हैं वे संसार-सागर से पार हो जाते और सब प्रकार की अधोगति से बच जाते हैं। इतना ही नहीं, अन्त में वे भगवान् के ज्ञानमय परमपद की भी प्राप्ति कर लेते हैं।

श्री शङ्कराचार्य महाराज का भी कहना है कि भगवद्भक्तों को सांसारिक राग-द्वेष आदि का तनिक भी भय नहीं रहता।

> रागादय: सन्तु कामं न तद्भावोऽपराध्यते।
> उत्खातदंष्ट्रोरगवदविद्या किं करिष्यति॥ इति।

भक्त्यैव रागादिफलाङ्कुरोच्छेदादिति भाव:। अजामिलधनेश्वरादिष्वतिजुगुप्सिताचरितेष्वपि महोद्भटतरमद्भुतं भगवन्महिमप्रभावमवधारयन्खलु बादरायणिरपि सरोमाञ्चं साहङ्कारं प्रतिशृणोति षष्ठे—

> सकृन्मन: कृष्णपदारविन्दयोर्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह।
> न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृता:॥ इति।

स्कन्दपुराणे यम उवाच—

> एकतो धावते चक्रमेकतो हरिवाहनम्।
> एकतो विष्णुदूताश्च वैष्णवे चार्दिते मया॥ इति।

ज्ञानी के हृदय में अविद्या के फल राग-द्वेष आदि भले ही बने रहें, किन्तु इनके रहने पर भी उसकी कोई क्षति नहीं; क्योंकि विषैले दाँत उखाड़ लिये जाने से साँप जिस प्रकार किसी को हानि नहीं पहुँचा सकता, इसी प्रकार अविद्या का भी ज्ञानी को अपने प्रभाव में लाना कभी सम्भव नहीं। भगवद्भक्ति के प्रताप से जब अविद्या की उत्पादक शक्ति क्षीण हो जाती है तब राग-द्वेष प्रभृति कदापि उत्पन्न नहीं हो सकते। अत: यह बिलकुल स्पष्ट है कि ज्ञानी पर अविद्या का तनिक भी असर नहीं होता। दुराचारी से दुराचारी लोगों पर भी भगवान् की महिमा (भक्ति) अपना अद्भुत प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती, इसी बात को प्रमाणित करने के लिये श्री शुकदेवजी भागवत के छठे स्कन्ध में अत्यन्त दुराचारी धनेश्वर और अजामिल का दृष्टान्त देकर दावे के साथ कहते हैं—जो लोग अपने भगवद्गुणानुरागी मन को एक बार भी भगवान् के चरण-कमलों में लगाते हैं उनको यमराज और उसके पाशधारी भयङ्कर दूतों

के दर्शन स्वप्न में भी नहीं होते। अर्थात् भक्तों पर, भगवान् की कृपा होने से, यमराज आदि के द्वारा दिये जानेवाले क्लेशों की आँच नहीं आती।

स्कन्दपुराण में यमराज ने कहा है—मर्त्यलोक से यमपुरी में आये किसी विष्णु-भक्त जीव के पाप-पुण्य का विचार कर मैं उसके पापों को पुण्य की अपेक्षा अधिक देख ज्योंही उसे दण्डनीय ठहराता हूँ त्योंही विष्णु भगवान् का सुदर्शन चक्र, वाहन गरुड़जी और विष्णु-तदू—भक्त को बचाने के लिये—चारों ओर से दौड़ पड़ते हैं।

अस्येदं व्याख्यानम्—

वैष्णवे चार्दिते मयेत्यत्र चकारस्यायमर्थः—तदीयधर्म्माधर्म्मौ विचार्य धर्म्मादधर्म्माधिक्यं निर्णीय तदयं दण्डनीय इति मयेच्छामात्रे कृते सति सपद्येवमेवं सङ्कटमकस्मादुत्पततीति। तदेवाभिनयन्निवाह एकत इति। सर्वतः प्रसरद्भरभराकारकरालकीलमालाजटालत्रिजगद्ग्रसिष्णुसङ्कर्षणमुखोत्थितयुगान्तदहनमधरीकुर्वता समूर्ज्जितनिजतेजसा ग्रैष्मचण्डकरमण्डलमथ जर्जरितशरावसमतां गमयत्सुदुस्सहधाम सुदर्शनो नाम चक्रं मम सँय्यमिनीं भस्मीकरिष्यदिव जाज्वल्यमानमेकतो धावते। किञ्च प्रस्फुटनटद्भिसङ्कटकोपकुटिलीकृतकठिनदृष्टिरुत्कटाकारदुरतिक्रमणीयविक्रमनक्रकुटिको विकटाटोपचपलप्रबलपक्षयुगलाघातप्रादुष्कृतघनघोरघटनप्रभञ्जनस्फारफूत्कारपूरैः पौरकुलमाकुलयन्नशनिविस्फूर्जितैरिव बधिरीकुर्वन्सर्वत उत्थापितरेणुभिरन्धीकुर्वन्नगरप्राकारहर्म्यकुट्टिमाट्टकोष्ठादीनि विघटयन्गुल्मगोपुरादीनि सरक्षकाणि चिछन्दन्भिन्दन्कम्पयन्पातयन् विलोडयन्नुत चैत्यनिष्कुटारामरोपितान्बृहतोऽनोकहानुन्मूलयन् वैतरणीमवघूर्णयन्कुम्भिपाकरौरवादिनिरयान्प्रशोषयन्मदीयं मत्तमपि महिषं स्थूलोतुमिव प्रखरनखरैर्विदारयन्प्रचण्डतुण्डभीषणोऽसावण्डजमण्डलाखण्डलो हरिहरि गरुड उड्डीय पुनरन्यतोऽभ्यापद्यते।

भक्त की रक्षा के लिये एक ओर से भगवान् विष्णु का वह परम तेजस्वी महाभयङ्कर सुदर्शन चक्र सामने आ जाता है जिसके उग्र तेज के सम्मुख ग्रीष्म-काल का सूर्यमण्डल भी पुराने सकोरे के समान तुच्छ जान पड़ता है और शेषनाग के मुख से उत्पन्न, अपनी भीषण ज्वालाओं से त्रिलोकी का संहार करनेवाला, प्रलयाग्नि भी हीन है। सुदर्शन चक्र की भयङ्करता देखकर ऐसा जान पड़ता है मानों यह मेरी संयमिनी नगरी को जलाकर भस्म कर देगा।

दूसरी ओर से पक्षिराज गरुड़ महाराज भी दौड़ पड़ते हैं। उनकी क्रोधमयी, चञ्चल, कुटिल दृष्टि का ध्यान आते ही यह आभास होने लगता है कि कहीं पङ्खों की फड़फड़ाहट से उठी आँधी के भयावने शब्दों के द्वारा कानों के पर्दे फटकर लोग बहरे न हो जायँ। चारों ओर घबराहट फैल जाती है। पङ्खों का फड़फड़ाना क्या है वज्र की भीषण गर्जना है। उड़ने के समय उड़ी हुई धूल से नगर, चहारदीवारी, धनिकों के सुन्दर भवन, अटारी, छत आदि सभी स्थान पट जाते हैं; तरह-तरह की लहलहाती लताओं आदि से ढके बड़े-बड़े दरवाजे अपनी देख-रेख करनेवालों समेत नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं; बाग-बगीचों के बड़े-बड़े पेड़ों के गिरते देर नहीं लगती; वैतरणी नदी लहरें मारने लगती है और कुम्भीपाक, रौरव आदि नरक सूख जाते हैं। गरुड़जी अपने तीखे नखों की मार तथा नुकीली चोंच की चोटों से मेरे मतवाले भैंसे को, मोटा बिलाव मात्र समझ, लोहू-लुहान कर डालते हैं।

किञ्च महामहत्तकतया त्रिजगति प्रतीताः पीताम्बरयुगावीता वनमालापरीता मृगमदकेसरहरिचन्दनानुलिप्तपीवरप्रतीकाः परिसर्पदामोदसम्पदाहूतचञ्चरीकाः सभाजितभजनीयपदपञ्चजनावलिदलितव्यलीकाः स्वभावतोऽभीकाः सुकुमारकरचरणादिरुचिरावयवाः समधिकदीधितिततिदीपितनूत्नरत्नपरिस्फुरदूर्मिकापदकहारकेयूरकङ्कणकुण्डलमुकुटमण्डिताः शङ्खचक्रगदापद्मभासुरोदारचतुर्भुजाः श्वेतलोहितपीतासिताद्यनेकवर्णसुन्दसुन्दराकृतयः सकललोकमङ्गलैकनिकेता एवं प्रार्थनीय प्रियदर्शना अपि पुनरकाण्ड एवाविर्भवन्निर्भरसंरम्भरभसाक्रान्ततया भयावहा विस्फारितारुणारालविपुलविलोचनाः शक्रकार्मुकवक्रतरभ्रुकुटिभङ्गदुरासदाः प्रस्फुरदनलविस्फुलिङ्गसदृशदशनच्छदा दण्डगदामुद्गरान्दारुणकृपीटकारणकरणमुचः परिभ्रामयन्तः खलु मन्ये क्षणेनैव ब्रह्माण्डखण्डमपि खण्डशः खण्डयितुमतिपर्याप्तपौरुषा महाद्भुतप्रभावाः क्वासौ कोऽसौ कीदृगसौ यमो नाम योऽसौ श्रीमदकदर्थीकृतसत्पथानां प्रशासितुरीश्वराधीश्वरस्य भगवतः कैटभशासनस्यानुशासनधारिणोऽस्माननूहमानः कथमथ यथेष्टमाचेष्टते नष्टचेता आः पश्यत भगवदनुग्रहोपजीविनः कृतघ्नस्य निरपत्रपत्वं यत्तदीयप्रियजनानपि प्रशिशासिषतीति खरतरां गिरमीरयन्तश्चण्डप्रचण्डपुरोगमाः श्रीविष्णुदूताश्च सर्वत आपतन्ति।

वह काण्ड यहीं समाप्त नहीं हो जाता। भक्त के बचाव के लिये विष्णु भगवान् के दूत भी क्रोध से लाल-लाल आँखें किये, भौंहें चढ़ाये, होंठों को फड़फड़ाते सामने आ खड़े होते हैं। ये लोग पीताम्बर, वनमाला, रत्नजटित चमकीले केयूर, कुण्डल, मुकुट, कङ्कण, हार आदि आभूषण धारण किये तथा देह में कस्तूरी, केसर, चन्दन लगाये रहते हैं; चारों हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म लिये रहते हैं। इनमें से कुछ का रङ्ग काला, कुछ का लाल, कुछ का पीला होता है, और कुछ दूसरे रङ्ग के भी होते हैं। त्रिलोकी में सभी लोग इनकी महिमा से परिचित हैं। इनके हाथ, पैर आदि अङ्ग अत्यन्त सुन्दर एवं सुकुमार होते हैं। स्वाभाविक निर्भीकता तो इनमें कूट-कूटकर भरी रहती है। यद्यपि ये सभी पूर्णतया प्राणियों के शुभचिन्तक हैं तथापि जिस समय चण्ड-प्रचण्ड आदि साथियों के साथ सहसा क्रोध में आकर, अपने आग उगलनेवाले दण्ड-गदा-मुद्गरों को घुमाते, भ्रुकुटि कुटिल किये, दाँत कटकटाते आते दिखाई पड़ते हैं उस समय यह मालूम होता है मानों ये अपनी असीम शक्ति द्वारा क्षण भर में ब्रह्माण्ड के टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे। ये लोग जब आपस में कहते हैं कि 'वह यमराज कहाँ है? कैसा है? धनाभिमानी बड़े-बड़े पापियों को दण्ड देनेवाले, प्रभुओं के प्रभु भगवान् विष्णु के आज्ञाकारी सेवक हम लोगों को भी कुछ नहीं समझता? इसने ऐसा अन्धेर क्यों मचा रक्खा है? विष्णु भगवान् की दया पर जीवन बितानेवाले इस कृतघ्न की निर्लज्जता तो देखो। स्वयं जिनका आश्रय लेता है उन्हीं के भक्तों को दण्ड देना चाहता है!'—

तदानीं कृतान्तोऽप्यहं क्रीतान्त इव किल किमिदमिति चकितकम्पित-हृदयोऽञ्जलिमात्रसहायोऽलीकसङ्कल्पो लालाटिकतां गतो गुर्वीं दुरवस्थां प्राप्नोमि। अतो यत्र कुत्रापि यूयं वैष्णवं जनं निरीक्ष्य दूरादेव पलायध्वमरे वराका मामका हो इति निजभटानुपशिक्षयति सकलजगतो दण्डयितापि दण्डपाणिरिति। एतदेव षष्ठेऽपि तानाह स एव—

ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः।
तान्नोपसीदत हरेर्गदयाऽभिगुप्तान्नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे॥

तब मैं, लोक-संहारक होने पर भी, यही अनुभव करता हूँ मानो सृष्टि-संहार करने की मेरी शक्ति को मुझसे किसी ने छीन लिया है। उस समय सृष्टि को ध्वस्त करने के—दण्ड देने के—मेरे सभी मनसूबे हवा हो जाते हैं। हृदय कर

के मारे काँप उठता है। आज्ञा पाने के लिये हाथ जोड़े मैं इनके मुख की ओर ताकता रहता हूँ। मुझसे कुछ करते-धरते नहीं बनता। अपनी शक्तिहीनता का विचार करके मेरे मन की जो दशा होती है उसे मैं ही जानता हूँ! अत: 'मेरे दूतो! तुम लोग जहाँ कहीं विष्णुभक्त को देखो, तत्काल वहाँ से भाग जाया करो'। श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध में यमराज अपने दूतों को लक्ष्य करके कहते हैं—भगवान् के भक्त समदर्शी, सरल प्रकृति के और बड़े ही परोपकारी होते हैं। देवता, सिद्ध, चारण आदि भी इनकी पवित्र गुणगाथा का गान किया करते हैं। स्वयं भगवान् अपनी गदा द्वारा इनकी रक्षा करते रहते हैं। अतएव तुम भूलकर भी इनके पास न जाना, क्योंकि भक्तों को दण्ड देने की शक्ति न तो हम लोगों में है और न महाबली काल में ही।

वय: काल: ।

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति यच्चरणारविन्दम् ।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥

आद्यो यच्छब्दोऽव्ययम् । यत् येषामित्यर्थ: । जिह्वेत्याद्यन्वय: । न कृतं विष्णो: कृत्यं जपव्रतनियमादि यैस्तानिति । अत एव हि श्रीकृष्णभक्ता: कुतोऽपि न बिभ्यतीति प्रायुञ्जत वैज्ञानिका: ।

अरण्यस्थलीनाश्रयो नाप्यहीनां धरण्यम्बुराशेर्न वा कुक्षिवास: ।
तरण्यङ्गसम्भूतदूतोपतापे शरण्य: परं शारदाम्भोजनेत्र: ॥ १ ॥
अरे रे परेताधिराजस्य दूता न भूतानुकम्पालवस्त्वादृशानाम् ।
किमेतावता भाति मे तावकी भीरहं सेवको देवकीशावकस्य ॥२॥

अतश्च भागवतजनसौभाग्यं सुचिरदृढतरहृदयारूढविपर्ययनिगूढमार्गान्तरान्तरायातुरपुरुषै: कुत्र नु लब्धुं शक्येत भगवज्जनोपसदनानुसेवनाभिरुचिमन्तरेण ।

इसलिये तुम लोग मेरे पास विष्णुभक्तों को न लाकर ऐसे आदमियों को लाया करो जो न तो भगवान् का गुण-गान करते और न उनका नाम ही लेते हैं, जिनका सिर (दिन में) एक बार भी भगवान् को प्रणाम करने के लिये नहीं झुकता तथा जो जप, तप, व्रत एवं नियम आदि के करने से जी चुराते हैं। वास्तव में ऐसे ही लोग दण्ड पाने के योग्य हैं।

अतएव विवेकी पुरुष यह मानते और कहते हैं कि 'भगवद्भक्तों को किसी भी प्रकार का भय नहीं रह जाता।' किन्तु इसके विपरीत जो लोग दुनिया की झञ्झटों में पड़कर भगवद्भक्ति से मुँह मोड़ लेते हैं उनको घने से घने जङ्गल, पाताल और समुद्र के तले जा छिपने पर भी यमदूतों की यातनाओं से छुटकारा नहीं मिल सकता। पृथिवी पर तो भला शरण मिलने ही क्यों लगी। यदि उनके लिये कोई शरण की जगह है तो केवल भगवान् के चरणकमल। कोई भगवान् का प्यारा भक्त कहता है—अरे यमदूतो! तुम लोग बड़े नीच और क्रूर हो, इसलिये तुम जैसे लोग प्राणियों पर दया कब कर सकते हैं? किन्तु मुझे इससे क्या? मैं तो भगवान् का दास हूँ, अतः तुमसे क्यों डरूँ! सारांश यह कि उपर्युक्त अलौकिक बल भगवद्भक्तों में ही होता है। जो लोग अविद्या के अँधेरे में भटक रहे हैं, सांसारिक विषय-वासना ही जिनकी एकमात्र आराध्य देवी है तथा जो भक्ति-मार्ग की ओर आँख उठाकर देखते तक नहीं वे लोग भक्तों की महत्ता को कैसे पा सकते हैं? जब तक भगवद्भक्तों के सत्सङ्ग और उनके सेवा-भाव की अभिरुचि न हो तब तक वह उन्हें मिल भी कैसे सकती है?

श्रीधराचार्याः—

तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान्।
यजन्तु यागैर्विविदन्तु योगैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति॥ इति।

अहो निश्श्रेयसैकनिश्श्रेणी तृणीकृतकालकर्मादिरूपसंसारचक्रघोरशक्तिः श्रीभगवद्भक्तिः संस्कारहीनजातीनपि कांस्कान्न सन्तारयति। गोगोपगोपीमृगविहगतरुगुल्मकुब्जिकुम्भीनसपूर्वदेवदानवनिषादगृद्धशाखामृगऋक्षराक्षसा घण्टाकर्णादयः पिशाचाश्च भक्त्या यथासुखमुत्तेरुः। न येषां ज्योतिष्टोमादिक्रिया, नापि ज्ञानम्। किञ्च कर्मयोगज्ञानयोगावुभावपि दुःखसाध्यौ भक्तिसापेक्षौ च। भक्तियोगस्तु स्वयन्निरपेक्षः सुखसाध्यश्चेति महदन्तरम्। शमादयो मैत्र्यादयश्चोदाहृता गुणा महता श्रमेण मुहुरभ्यस्य ज्ञानार्थिभिरप्रमत्तैः साध्यन्ते। कष्टेन जातमपि ज्ञानमरक्ष्यमाणं दुःसङ्गादिना विनश्यति। न पुनः प्राप्यत इति तद्रक्षणार्थमादेहपातं तेषां क्लेश एव। भजतां तु न कश्चिदायासः।

श्रीधराचार्य ने कहा है कि मनुष्य वेदों को पढ़ें, चाहे पञ्चाग्नि तापें, पर्वत से गिरें या तीर्थों में भटकें, देवताओं की प्रसन्नता के लिये यज्ञ करें अथवा योगशास्त्रों की चर्चा करें; परन्तु भगवान् की कृपा बिना मृत्यु से मुक्ति नहीं मिल सकती। अहो, कालकर्मादिरूप संसार-चक्र की घोर शक्ति का नाश करनेवाली, कल्याण की सोपानरूप भगवद्भक्ति ने संस्कारहीन किस-किस जाति के मनुष्यों को पार नहीं किया? गौ, गोप-गोपी, मृग, पक्षी, वृक्ष, गुल्म, कुब्जि, कुम्भीनस, देव, दानव, निषाद, गृद्ध, वानर, ऋक्ष, राक्षस और घण्टाकर्ण आदि पिशाच ये सभी भक्ति का आश्रय करके भवसागर के पार हो गये हैं। इनको न तो ज्योतिष्टोमादि कर्मों का अधिकार था और न ज्ञान ही। कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही दुःखसाध्य हैं; क्योंकि ये दोनों भक्ति की अपेक्षा रखते हैं। किन्तु भक्तियोग किसी की अपेक्षा नहीं रखता, अतएव सुखसाध्य है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग में यही बड़ा भारी अन्तर है। क्योंकि शमादि तथा मैत्र्यादि गुण, अति सावधान ज्ञानार्थियों को बार-बार अभ्यास करने पर प्राप्त होते हैं। यदि कष्ट से प्राप्त ज्ञान की रक्षा न की जाय तो दुस्संग आदि से वह नष्ट हो जाता है; नष्ट होने पर पुनः प्राप्त नहीं हो सकता। अतः उसकी रक्षा के लिये ज्ञानियों को जीवन भर क्लेश ही क्लेश सहने पड़ते हैं; किन्तु भजन करनेवाले पुरुषों को ऐसा कोई विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता।

तथाहि। भगवत्पुण्यकथाश्रवणादिना तावदेषां तत्र श्रद्धा समुत्पद्यते। श्रद्धा नाम अत्यौत्सुक्येन भगवत्येव भक्तिमेव करोम्येवेति सर्वतोऽवधारणवती आकाङ्क्षा। ततः श्रुतानां गुणानां पुनः पुनरनुस्मरणे किमपि सुखविशेषमनुभावयन्ती प्रीत्यपरपर्यायरतिशब्दवाच्या अन्तःकरणवृत्तिविशेषा प्रादुर्भवति। सैव सर्वतोऽन्यतो निर्मील्य श्रीमति भगवत्येव समुत्फुल्लतया निश्चलतां गता भक्तिरित्युच्यते। तस्यां विद्योतमानायां पूर्वोक्ता गुणाः।

भगवान् की पुण्यकथा के श्रवणादि से भगवान् में श्रद्धा उत्पन्न होती है। भक्ति की प्रबल आकांक्षा का नाम श्रद्धा है। श्रद्धा होने के अनन्तर भगवान् के गुणों का बारम्बार स्मरण करने से एक अपूर्व सुख का अनुभव करानेवाली प्रीति नाम की अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है। वह प्रीति जब सब ओर से हटकर भगवान् में ही पूर्ण रूप से निश्चल हो जाती है तब उसी का

नाम भक्ति पड़ जाता है। उसके बढ़ने पर शमदमादि गुणों का आविर्भाव हो जाता है।

> अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
> निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
> सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

इत्यादयो द्वादशाध्यायोक्तभक्तगुणाश्च सिद्धा एव हृदयारविन्दवर्तिना भगवता प्रवर्त्तिता यष्टिवेत्रादिपाणयः कञ्चुकिनो भक्तिमहाराज्ञीपुरस्सरा इव स्वयमेवोदयन्ते। अत्र वार्तिककारा अप्याहुः—

सम्पूर्ण प्राणियों से द्वेष न करनेवाला, सबका हितैषी, ममता और अहङ्कार से रहित, सुख-दुःख में समान दृष्टि रखनेवाला, क्षमाशील, सन्तोषी, मन को वश में रखनेवाला, योगी, इन्द्रियों का दमन करनेवाला, दृढ़निश्चयी तथा मुझमें बुद्धि को अर्पण करनेवाला भक्त मुझको प्यारा है। ये सब भक्त के गुण गीता के बारहवें अध्याय में कहे गये हैं। अन्तर्यामी भगवान् की प्रेरणा से, सहायता करने के लिये, ये गुण भक्ति के सामने उसी प्रकार आ जाते हैं जिस प्रकार रनिवास के सेवक (प्रतिहारी) दण्ड लेकर अपनी महारानी के आगे-आगे चलते हैं। यहाँ पर वार्तिककार भी कहते हैं—

> उत्पन्नात्मप्रबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
> अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः॥ इति।

उत्पन्न आत्मनि भगवति प्रकृष्टः परमप्रेमभक्तिलक्षणो बोधो यस्य तस्येत्यर्थः। तस्मात् भगवद्भक्तानां तु स्वावलम्बनीयवर्त्मनि प्रतिकूलजनसङ्गतिं दूरीकृत्य तत्रानुकूलजनसङ्गतिं च यथाप्रयोजनमूरीकृत्य वलक्षपक्षनक्षत्राध्यक्षकलयेवानुदिनसमेधमानया तिरोभूतेतरभावनया भगवद्भक्त्यैव करकमलामलकीयति मुक्तिरिति विदन्तो विदांकुर्वन्तु।

भगवद्भक्तों को अद्वेष आदि गुणों की प्राप्ति अपने आप हो जाती है, इनके लिये उन्हें साधनों का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती; अतएव जो भगवद्भक्त भक्ति-मार्ग के विरोधियों की सङ्गति को त्यागकर भगवत्प्रेमियों की मण्डली में आवश्यकतानुसार उठते-बैठते हैं उनकी भगवद्भक्ति शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कला के

समान उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है जिसके फलस्वरूप अन्य सभी सांसारिक भावनाएँ शान्त होकर मुक्ति हस्तामलकवत् अत्यन्त सुलभ हो जाती है।

मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः। इति द्वितीये श्रीशुकदेवः। अविद्यानिवृत्तिर्मोक्ष इति भाष्यम्। भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे इति शाण्डिल्यसूत्रम्। विवृतं चैतन्मदीयगोविन्दगुणानन्दे—

नित्यं सत्यं श्रीमत्प्रियं घनानन्दमद्वयं ध्येयम्।
पदकमलमेव भगवत इत्यनुरागो हि भक्तिराख्याता॥

अत्र भगवतः पदकमलमेव नित्यम्। अतः सेवितुं योग्यम्। नित्यसुखप्रदत्वात्। ततोऽन्यत्सर्वमनित्यम्। अतो न सेवनार्हम्। परिणामविरसत्वात्। एवं सत्यादिषु पट्स्वपि प्रत्येकं योजनीयम्। भजनं भक्तिः। भज सेवायाम्। भावे क्तिन्। एवं मुच्लृ मोक्षणे। मुक्तिरपि। भक्तेश्च नवविधत्वं प्रत्यपीपदत्प्रह्लादः—

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में श्री शुकदेवजी ने कहा है कि प्रपञ्चरूप को परित्याग कर अपने स्वरूप में स्थित होना ही मुक्ति है। अविद्या की निवृत्ति का नाम मोक्ष है, ऐसा भाष्यकार ने कहा है। ईश्वर के चरण-कमलों में परम अनुराग ही भक्ति है, यह शाण्डिल्य-सूत्र में कहा गया है। इस सूत्र का विशेष विवरण मेरे 'गोविन्दगुणानन्द' नामक ग्रन्थ में किया गया है। भगवान् के नित्य, सत्य, श्रीसम्पन्न, प्रिय, घनानन्द अद्वय चरण-कमलों में अनुराग ही भक्ति है। इस श्लोक में कहा गया है कि भगवान् के चरण-कमल ही नित्य हैं, इस हेतु वे ही सेवनीय हैं; क्योंकि उन्हीं के द्वारा साधक को नित्य सुख की प्राप्ति होती है। उनसे भिन्न सभी वस्तुएँ अनित्य हैं, अतएव असेव्य हैं और उनका परिणाम भी अच्छा नहीं। श्लोक के अन्य सत्यादि पदों की व्याख्या इसी प्रकार कर लेनी चाहिए। भजन का नाम भक्ति है। 'भज सेवायाम्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होने पर भक्ति शब्द निष्पन्न होता है। 'मुच्' धातु से भी 'क्तिन्' प्रत्यय होकर मुक्ति शब्द की सिद्धि होती है। प्रह्लादजी ने भक्ति को नव भागों में विभक्त किया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ इति।

अत्रैवं समग्राहि महानुभावैः ।

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षितिरभूद्वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।
अक्रूरस्त्वभिवन्दनेऽथ हनुमान् दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत्कैवल्यमेषां पदम् ॥

अत्र प्रकारान्तरमन्यत्र स्मरन्ति—

तस्यैवाहं ममैवायं स एवाहमिति त्रिधा ॥ इति ।

तत्र तस्यैवाहमितिभावेन भजन्तो ध्रुवप्रह्लादबलिप्रभृतयः । ममैवायमितिभावेन भजन्तो गोपयादवपाण्डवादयः । स एवाहमितिभावेन भजन्तः कुमारनारदमैत्रेयादयस्तत्पदमधिजग्मुरिति । अत्रेयं पूर्वशिष्टानुशिष्टिः । भगवद्गुणानां वर्णयितरि लब्धे विज्ञोऽप्यज्ञ इव जपध्यानादि विहाय सादरं शृणुयादेव ।

वे नव भेद ये हैं—भगवान् की कथा का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनके चरण-कमलों की सेवा, पूजा, स्तुति, दास्य, भगवान् से मैत्रीभाव तथा आत्म-निवेदन । विद्वानों ने भक्ति के पूर्वोक्त भेदों का उदाहरण देकर भी स्पष्ट किया है । उनके मतानुसार महाराज परीक्षित्, श्री शुकदेव, प्रह्लाद और लक्ष्मीजी क्रमशः श्रवण, कीर्तन, स्मरण एवं चरण-सेवा नाम के भक्ति-भेदों के उदाहरण हैं । राजा पृथु, अक्रूर, हनुमान, पृथा-पुत्र अर्जुन और दैत्यराज बलि यथाक्रम पूजन, स्तुति, दास्य, सख्य तथा आत्म-निवेदन के दृष्टान्त हैं । भगवान की कृपा से सभी को मुक्ति मिली ।

कुछ आचार्य दूसरी ही बात कहते हैं—'मैं भगवान् का ही हूँ', 'भगवान् मेरे ही हैं', 'भगवान् ही मैं हूँ'; इस प्रकार भावना के तीन भेद हैं । उनमें से 'मैं भगवान् का ही हूँ', इस भावना के अनुसार भजन करनेवाले ध्रुव, प्रह्लाद और बलि मुक्त हुए हैं । 'भगवान् मेरे ही हैं', इस भाव से भजन करते-करते गोप, यादव, पाण्डव आदि ने परमपद प्राप्त किया है । 'भगवान् ही मैं हूँ', इस भाव से भजन करने पर कुमार, नारद, मैत्रेय आदि को परमधाम की प्राप्ति हुई ।

प्राचीन शिष्ट लोगों का आदेश है कि यदि भगवान् के गुणों का वर्णन करनेवाले व्यक्ति प्राप्त हो जायँ तो विद्वान् भी, अज्ञानी के समान जप-ध्यानादि को त्यागकर, आदर के साथ कथा का ही श्रवण किया करे ।

श्रोतरि लब्धे कीर्तयेदेव। तदुभयालाभे संस्मृतिनिष्ठ एव भवेदिति। भगवति भक्तिमज्जनचिह्नानि च तत्र तत्र महाप्रबन्धेषु भूरिशो दृश्यन्ते। तेषु पुनरत्र विस्तरभिया कानिचिदेव लिख्यन्ते—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥ १॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ २॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाऽऽशयः॥ ३॥
वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥४॥
सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥ ५॥
न्याय्यवृत्तिसुसन्तुष्टः प्रतिग्रहपराङ्मुखः।
नारायणपरो विप्रः स वै भागवतोत्तमः॥

श्रोता के प्राप्त होने पर भगवान् का गुणानुवाद अवश्य करे। किन्तु जहाँ पर वक्ता तथा श्रोता न हों, वहाँ भगवान् के गुणों का स्मरण करने में निष्ठा ही रक्खे। भक्त जनों के परिचायक चिह्न भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में वर्णित हैं। ग्रन्थ-विस्तार के भय से थोड़े से चिह्न (लक्षण) लिखे जाते हैं—जिसे प्रिय वस्तु के संयोग से न तो प्रसन्नता है और न अप्रिय के मिलने पर द्वेष ही है तथा जो शुभाशुभ कर्मों के फल को त्याग देता है और भक्तिमान् है, वही मेरा प्रिय है।

जिसका मन दुःख में उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, जिसे सुख की कामना नहीं है, जिसके राग भय और क्रोध नष्ट हो चुके हैं तथा बुद्धि स्थिर है, वही व्यक्ति सच्चा मुनि है। जब तक रोमाञ्च और चित्त मे द्रवता न हो, आँखों में आनन्द के आँसू न आ जायँ और हृदय में भक्ति का उदय न हो तब तक अन्तःकरण किस प्रकार शुद्ध हो सकता है? जिसकी वाणी गद्गद होती है, चित्त द्रवित होता है, भक्ति के आवेश में आकर जो अनेक बार रो पड़ता है, कभी एकाएक हँसने लगता है और सङ्कोच छोड़कर ऊँचे स्वर से गाने तथा नाचने लगता है, वह व्यक्ति मेरी भक्ति से युक्त होकर जगत् को पवित्र कर देता है।

जो सम्पूर्ण प्राणियों में भगवद्भाव को देखता है और प्राणियों को ऐश्वर्यमय आत्मा में देखता है वही भगवद्भक्तों में उत्तम है। जो विप्र उचित जीविका से सन्तुष्ट, प्रतिग्रह से पराङ्मुख तथा नारायण-परायण है वही भगवद्भक्तों में उत्तम है।

कलिकलुषमलेन यस्य नात्मा विमलमतेर्मलिनीकृतोऽस्तमोहे।
मनसि कृतजनार्दनं मनुष्यं सततमवेहि हरेरतीव भक्तम्॥ ६॥
विमलमतिरमत्सरः प्रशान्तः शुचिचरितोऽखिलसत्त्वमित्रभूतः।
प्रियहितवचनोऽस्तमानमायो वसति सदा हृदि तस्य वासुदेवः॥७॥

अस्मत्तातचरणाः—

मनोधृताधोक्षजपादपङ्कजा दयार्द्रशीलार्पितलोकमङ्गलाः।
क्षिपन्ति तापत्रितयं वपुष्मतां सदुक्तिभिर्भागवताः सुदुर्लभाः॥८॥

गोविन्दगुणानन्दे—

दिवि भुवि सुखनिरपेक्षास्तत्त्वनिमग्नाश्च सत्त्वसम्पन्नाः।
मानामानसमानास्ते तव भक्ता जपासक्ताः॥

मोह का नाश होने पर जिस विमलमति पुरुष की आत्मा कलि के पाप-रूपी मल से दूषित नहीं होती तथा जिसने अपने मन में जनार्दन भगवान् को संस्थापित किया है, वही पुरुष भगवान् का परम भक्त है। स्वच्छबुद्धि, मत्सर-रहित, अत्यन्त शान्त, सच्चरित्र, सम्पूर्ण प्राणियों के मित्र, प्रिय और हितयुक्त वचन बोलनेवाले, मान-माया से रहित मनुष्य के हृदय में वासुदेव भगवान् सदा निवास करते हैं।

हमारे पूज्यों ने भी कहा है कि परम दयालु, जगत् का मङ्गल करनेवाले तथा देहधारियों के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापों को अपने सद्वचनों से दूर करनेवाले भक्त अत्यन्त दुर्लभ हैं। गोविन्दगुणानन्द नामक ग्रन्थ में भी कहा है—स्वर्ग और पृथ्वी के भोगों की अपेक्षा से रहित, आत्मा के यथार्थ ज्ञान में संलग्न, सत्त्वगुणी, मान और अपमान को समभाव से देखनेवाले, जप-परायण व्यक्ति ही आपके भक्त होते हैं।

मत्कृतरामायणार्थप्रकाशे—

स्वधर्म्मवर्ती नियतः सुवासनो मनोविशुद्धो विधुताङ्गसन्निधिः।
श्रतार्थदर्शी विजनस्थिरासनो जनो हि रामस्मरणाय कल्पते॥ इति।

भगवति भक्तैरेवमनुरक्तैर्भवितव्यमिति दर्शितं षष्ठस्कन्धे—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥ इति ।

मनःप्रसादहेतुः शान्तो रसो दशमे दर्शितः—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥ इति ।

एवम्भूताः श्रीवासुदेवभक्ताः सर्वेषामपि लोकवासिनां प्रिया भवन्तीति पितामह आह—

अपने बनाये रामायणार्थप्रकाश नाम के ग्रन्थ में भी मैंने कहा है कि अपने धर्म मे वर्तमान, नियमपरायण, शुद्ध वासनावाले, विशुद्धचित्त, मूर्खों की सङ्गति से दूर रहनेवाले, वेदों के अर्थों को जाननेवाले, एकान्तसेवी और आसनों के अभ्यासी मनुष्य ही राम का स्मरण करने में समर्थ होते हैं। भक्तों को अनुरागवान् होना चाहिए, इस विषय का प्रतिपादन भागवत के षष्ठ स्कन्ध में है—

कमलनयन! बिना पंखों के पक्षी जिस प्रकार अपनी माता को और भूख से व्याकुल छोटे-छोटे बछड़े दूध को चाहते हैं तथा परदेश में निवास करनेवाले पति के लिये उसकी विषादमूर्त्ति प्रिया जिस प्रकार उत्सुक रहती है, उसी प्रकार हमारा मन आपको देखना चाहता है। मन की प्रसन्नता का मुख्य कारण शान्तरस है। इसका वर्णन श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में है—मुकुट में मोरपङ्ख, कानों में कर्णिकार, कटि में पीताम्बर और कण्ठ में वैजयन्ती माला धारण किये महिमामय नटनागर श्रीकृष्णचन्द्र ने, गोपों के साथ, बाँसुरी बजाते हुए अपनी लीलाभूमि वृन्दावन में प्रवेश किया। श्रीवासुदेव के भक्त समस्त लोकवासियों के प्रिय होते हैं, यह ब्रह्माजी ने कहा है—

यन्नाभिपद्माज्जातोऽहं स देवो मम नारद ।
प्रियः सदा तथा तस्य भक्तास्तद्गतमानसाः ॥ इति ।

गौरीजानिरपि जगौ रुद्रगीतां जिगासुः—

यः परं रंहसः साक्षात् त्रिगुणाज्जीवसञ्ज्ञितात् ।
भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे ॥

रंहसः सूक्ष्मात्। त्रिगुणात्प्रधानात्। जीवसञ्ज्ञितात्पुरुषाच्च। परं प्रकृतिपुरुषयोः प्रवर्तकं साक्षाद्भगवन्तमित्यर्थः।

अथ भागवता यूयं प्रियास्स्थ भगवान्यथा।
न मद्भागवतानां च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित्॥

यूयं हे प्रचेतसः। मत् मत्तोऽन्य इत्यन्वयः। अतो भागवतैः श्रीब्रह्मशिवयोः प्रेमविनीतैरेव भाव्यं न तु कौटिल्यहतैः।

वत्स नारद! मैं जिनके नाभिकमल से उत्पन्न हूँ वे विष्णु भगवान् मुझे जितने प्रिय हैं, उतने ही प्रिय मुझे उनके अनन्य भक्त भी हैं। भगवान् शङ्कर ने भी रुद्रगीता में कहा है—जो व्यक्ति वासुदेव भगवान् को त्रिगुणमयी परम-सूक्ष्म माया और जीव से पृथक्, एवं इन दोनों का प्रवर्तक समझकर उनकी शरण लेता है वही मुझे अत्यन्त प्रिय है। प्रचेताओ! मेरे हृदय में भगवान् के लिये जैसा प्रेम है वैसा ही प्रेम मैं आप लोगों से भी करता हूँ क्योंकि आप सभी भगवान् के अनन्य भक्त हैं, भगवान् के भक्त केवल मुझे ही परम प्रिय समझते हैं। तात्पर्य यह है कि विष्णु-भक्तों को ब्रह्मा और शिव का प्रेमी एवं विनम्र भक्त ही होना चाहिए—अपने उपास्य देव से भिन्न जानकर उनके प्रति अश्रद्धा तथा उपेक्षा का भाव न रखना चाहिए।

इस जगह शिव और ब्रह्म शब्द से श्री वासुदेव का ग्रहण है। प्रायः देखा जाता है कि शैव विष्णु की और वैष्णव शिव की निन्दा किया करते हैं, वह अविनय है। उसको हटाकर 'जो श्री वासुदेव हैं, वही शिव हैं,' 'जो शिव हैं, वही वासुदेव हैं' इस प्रकार विनययुक्त होना चाहिए। एक दूसरे के इष्टदेव की निन्दा के कुटिल भाव का परित्याग कर दे।

तथा हि भगवदाज्ञा—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः॥ इति।

जगतः परं कारणमात्मा चेश्वरश्च साक्षी च स्वप्रकाशश्च निरुपाधिश्चैतादृशो योऽहं स एव ब्रह्मा शर्वश्चेति तदर्थः। गुणमयीं स्वमायामधिष्ठाय सर्गादिचिकीर्षया स्वयमेकोऽहमेव त्रिधा जातोऽस्मीति न मद्भिन्नौ ब्रह्मशर्वौ। मत्प्राप्तिसिद्धपथोपदेशकौ मामकजनवत्सलौ च तावुभौ

मदीयैर्बहु मन्तव्याविति स्फुटोऽभिसन्धिः। प्रागुदाहृतकश्यपवाक्यस्याप्यत्रैव तात्पर्यम्।

भगवान् की आज्ञा भी ऐसी ही है—मैं, ब्रह्मा और शिव तीनों ही जगत् के रचयिता हैं। आत्मा, ईश्वर, साक्षी, स्वप्रकाश-स्वरूप और निरुपाधि, इन सब शब्दों से जिसका बोध होता है वह मैं ही हूँ। मुझमें और ब्रह्मा-विष्णु में कोई भेद नहीं। मैं ही सृष्टि-रचना आदि की इच्छा से प्रेरित होकर त्रिगुणात्मिका माया का आश्रय लेकर ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव इन तीन रूपों में विभक्त हो गया हूँ, अतः ब्रह्मा तथा शिव मुझसे अलग नहीं हैं। ये लोग तो मेरी प्राप्ति के मार्ग-दर्शक एवं मेरे भक्तों पर बड़ी कृपा-दृष्टि रखनेवाले हैं। इस दृष्टि से मेरे भक्तों को इनका अत्यन्त आदर करना चाहिए, न कि उपेक्षा।

इन सब बातों से सिद्ध हुआ कि जो लोग शिव के भक्त होकर विष्णु की और विष्णु के भक्त होकर शिव की निन्दा करते हैं, वे ठीक रास्ते पर नहीं हैं। पूर्व में प्रतिपादित कश्यप-वाक्य का तात्पर्य भी यही है।

कुलेऽस्माकं पुमान्कश्चिन्नारायणपरायणः।
भवेत्कदेति पितरः शान्त्या आशासते सदा॥

इति भगवद्वेदाचार्य्यवाचा। एतादृग्वचनानि शचीशादिदृशानानां पितॄणां च सन्ति परन्तु विस्तरो न रोचते नः।

यत्संश्रयाद्विधिमृडेन्द्रमुखा मखाशाः
कव्याशिनोऽथ मुनयो मनुजेषु कामम्।
प्रीतिं प्रयान्ति निखिलात्मनिदानभूतं
तं वासुदेवमनिशं मनसा नमाम॥ १॥

यस्य पादसरोजश्रीस्तिरयति चेतस्तिमिरमार्तिं च।
स्मृतिमधुमधुपानां प्रकल्पयति कैवल्यम्॥
स हि जगतां भगवान्कृष्णः प्रणव इव च्छन्दसां मूलम्॥ २॥

क्रमेण चतुरक्षरवर्द्धितैरष्टद्वादशषोडशविंशतिवर्णात्मकैः पादैः कल्पितमिदं पदचतुरूर्ध्वं नाम वृत्तम्।

'हमारे कुल में कब कोई नारायण-परायण होगा, यह आशा पितर लोग सर्वदा शान्ति से करते हैं।' इसी प्रकार इन्द्रादि लोकपालों और पितरों के सम्बन्ध में वेदाचार्य्य व्यासजी के बहुत से वचन हैं। किन्तु विस्तार-भय से

अरुचिकर जानकर उनको यहाँ नहीं लिखा है। जिनके आश्रय से ब्रह्मा, शिव आदि देवता 'हविष्' और पितर 'कव्य' खाते तथा मुनिजन जिनमें यथेष्ट प्रीति प्राप्त करते हैं, सम्पूर्ण आत्माओं के कारणस्वरूप उन वासुदेव भगवान् को हम लोग नमस्कार करते हैं। जिनके चरण-कमलों की शोभा अन्तःकरण के अन्धकार तथा पीड़ा का अपहरण करती है और स्मरण-रूप मधु के भ्रमर जीवों को मुक्ति देती है, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण वेदों के आरम्भ में ॐकार के समान जगत् के मूल में हैं। चार अक्षरों की वृद्धि के क्रम से आठ, बारह, सोलह और बीस वर्णवाले चरणों से यह 'पदचतुरूर्ध्व' नामक छन्द बनता है।

स्मेरास्यः स्मरशतसुन्दरो मुकुन्दः कालिन्दीपुलिनवनावनीविनोदी।
श्यामाभश्शमितनमद्घनाघनीरो नीरोधेऽन्तरिह रहो निरंरमीतु ॥१॥
कान्त्या जिताब्दपटली पटलीनमकारि काञ्चनं किञ्च।
येन स ऐनसहृदये हृदयेऽनघ मृग्यतां भगवान् ॥ २ ॥
शास्त्रेषु वावदूकोऽपि मूको हरिमकीर्तयन्।
ध्यायन् मुकुन्दं मूकोऽपि वावदूको बुधैः स्मृतः ॥ ३ ॥
श्रीकृष्णे नव भक्तीस्ता नतावद्यातपद्रुहः।
मुक्तये कुरुत प्रज्ञा न तावद्यातपद्रुहः ॥ ४ ॥
ननु ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादिश्रुतेः।
ज्ञानादेव हि कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते ॥ इत्यादिस्मृतेः।
ज्ञानादेव हि मुक्तिः स्यादिति वेदान्तडिण्डिम इति वचनाच्च तत्त्वज्ञानादेव मोक्ष इत्यभ्युपगमादथ कथमिदमसम्बद्धमुच्यते भक्त्यैव मुक्तिरितीति चेत्। मैवम्।

मुसकानमय मुखवाले, सैकड़ों कामदेवों के समान सुन्दर, यमुना-किनारे के वनों में क्रीड़ा करनेवाले, श्याम-कान्ति-युक्त और भक्तों के प्रबल पापरूपी नीर का शमन करनेवाले, वासुदेव भगवान् मेरे अन्तर्मुख हृदय में निरन्तर रमण करें। जीव! तू अपने हृदय में ही उन भगवान् वासुदेव को खोज जो अपनी सुन्दरता से नीले मेघों को जीतनेवाले, स्वर्ण को निज वक्ष में लीन करनेवाले और पापों का नाश करनेवाले हैं। प्रकाण्ड पण्डित होने पर भी जो व्यक्ति भगवान् के गुणानुवाद से रहित है वह मूक कहा जाता है। किन्तु मूक (गूँगा) होने पर भी यदि कोई प्राणी भगवान् का ध्यान करता है, तो उसे विद्वान् लोग बड़ा

भारी पण्डित कहते हैं। मुक्ति की मुख्य साधनरूप नवधा भगवद्भक्ति की प्राप्ति जब तक न हो तब तक ज्ञान की प्राप्ति व्यर्थ है अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति के लिये सबसे प्रथम भगवद्भक्ति प्राप्त करनी चाहिए। ज्ञान की प्राप्ति भक्ति के पश्चात् भी हो तो कोई क्षति नहीं। हे मनुष्यो! 'ब्रह्म को जाननेवाला ही परमपुरुष को प्राप्त करता है,' इत्यादि श्रुति और 'ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है, मोक्ष प्राप्त हो जाने पर संसार के सभी बन्धन छूट जाते हैं' इत्यादि स्मृति से यही प्रतीत होता है। 'ज्ञान से ही मुक्ति होती है', ऐसा वेदान्तशास्त्र का भी डिण्डिम घोष है। इन वचनों के अनुसार यदि तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष-प्राप्ति हो तो 'भक्ति से ही मोक्ष होता है', यह कहना असम्बद्ध होगा! किन्तु यह प्रश्न ठीक नहीं क्योंकि—

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति तत्त्वसूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥

इति एकादशस्थश्लोकं व्याचक्षाणैः श्रीधरस्वामिभिस्तावद्भक्तेरेवावान्तरव्यापारो ज्ञानं न पृथगिति व्यवस्थापितत्वात्। वोपदेवजयदेवजगद्धरमाधवसरस्वतीमधुसूदनसरस्वतीकृष्णपण्डितभट्टोजिदीक्षितनीलकण्ठचतुर्द्धरपुरोगमैरन्तर्वाणिशिरोमणिभिरप्येवमेव निर्द्धारितत्वात्। इदानीन्तनानां नमनीयजनानामप्येवमेवाध्यवसायदर्शनाच्च।

'मेरी पवित्र गुण-गाथा के श्रवण और कीर्तन करने से भक्त का अन्तःकरण जैसे-जैसे विशुद्ध होता जाता है वैसे-वैसे ही उसको सूक्ष्म तत्त्व का अनुभव उसी प्रकार होने लगता है जिस प्रकार आँख में अञ्जन के आँजने पर उसके द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है'—ग्यारहवें स्कन्ध के इस श्लोक की व्याख्या में श्रीधर स्वामी ने ज्ञान को भक्ति से अलग न मानकर उसका अवान्तर व्यापार मात्र माना है। वोपदेव, जयदेव, जगद्धर, माधव सरस्वती, मधुसूदन सरस्वती, कृष्णपण्डित, भट्टोजिदीक्षित, नीलकण्ठ और चतुर्धर आदि उच्च कोटि के विद्वानों ने भी ऐसा ही निश्चय किया है। आजकल के आदरणीय विद्वानों का भी ऐसा ही मत है।

अत्र श्रीकपिलदेवः—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम्॥ इति।

ज्ञानप्रकरण एव न हि ज्ञानेन सदृशमित्यादिश्रीगीताऽवतारिता व्याख्याता च। प्रागुदाहृतं गौतमवाक्यमत्राप्युदाहर्तव्यम्।

इस विषय में श्री कपिलदेवजी ने भी कहा है कि वासुदेव भगवान् में किया गया भक्ति-योग शीघ्र ही वैराग्य उत्पन्न करता और ब्रह्म का साक्षात्कार-रूपी ज्ञान उत्पन्न कर देता है। गत ज्ञान-प्रकरण में ही 'ज्ञान के समान दूसरा नहीं है', गीता के इस वाक्य का अवतरण देकर व्याख्या की जा चुकी है। पूर्वोक्त गौतम-वाक्य भी यहाँ उदाहार्य है—

श्रीगोविन्दगुणानन्दे—

यदुपतिपदयुगसक्ता तद्भक्तिस्तदनुकम्पया सपदि।
बन्धविमुक्तिदशायां सैवैति ज्ञानतां शुद्धाम्॥ इति।

भगवद्भक्तेः सङ्कल्पादेव ज्ञानोत्पत्तिरिति प्रबोधचन्द्रोदयकृता चोक्तम्। तथा हि। विष्णुभक्तिं प्रति श्रद्धावाक्यम्। एवं देव्यां प्रबोधोदयाय गृहीतसङ्कल्पायामचिरं शरीरेण न भविष्यति मन इति। तथा।

श्रीगोविन्दगुणानन्द नामक ग्रन्थ में भी इसी बात का उल्लेख है—भगवान् के चरणों में लगी हुई अच्छी भक्ति ही उनकी दया से जीव के शीघ्र ही बन्धन से मुक्त हो जाने की अवस्था में, शुद्धज्ञानता को प्राप्त हो जाती है, अर्थात् भक्ति ही शुद्ध ज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' में प्रबोधचन्द्रोदयकार ने कहा है कि भगवद्भक्ति के सङ्कल्प से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। विष्णुभक्ति के प्रति श्रद्धा का वाक्य है—इस प्रकार ज्ञान के उदय के लिये भक्तिदेवी जब सङ्कल्प कर लेगी तब शीघ्र ही मन का लय हो जायगा, अर्थात् ज्ञान का उदय होने पर सङ्कल्प और विकल्परूप मन नष्ट हो जाता है।

मोहान्धकारमवधूय विकल्पनिद्रामुन्मुच्य कोऽप्यजनि बोधतुषाररश्मिः।
श्रद्धाविवेकमतिशान्तियमादिभिर्यद्विश्वात्मकं स्फुरति विष्णुरहं स एषः॥

सहसा कृतकृत्योऽस्मि भगवत्या विष्णुभक्तेः प्रसादात्सोऽहमिदानीमित्यादिज्ञानविवेकवस्तुविचारवैराग्यादीनां विष्णुभक्तिवशवर्तित्वमेव प्रस्फुटं प्रतिपादयन्प्रबन्धमुपसञ्जहार महामतिमिश्रः। किञ्च स्वतः सात्त्विकत्वाज्ज्ञानिनोऽपि देवा अग्निवाय्विन्द्रादयः कदाचित्तेजोमयेन परमाश्चर्यरमणीयरूपेण प्रादुर्भूतं ब्रह्म नाविदुरित्यर्थप्रतिपादिकायां केनोपनिषदि।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। तस्य हेति प्रक्रम्य ब्रह्मनिर्दिष्टैकतृण-खण्डमात्रदहनकम्पनाशक्तत्वात् सर्वदहनसमर्थोऽग्निरहं जातवेदाः सर्वोन्मूलनसमर्थो वायुरहं मातरिश्वेति दर्शितपूर्वगर्वविभ्रंशपराङ्मुखयोरग्निवाय्वोः सतोः अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमित्येतस्यामृचि ब्रह्मसकाशं गत इन्द्रस्तत्तिरोहितं वीक्ष्य वह्निवायुवत्सँव्वादमलभमानः संदिहानः पावकपवनाविवानिवृत्तो यत्राकाशे ब्रह्मान्तर्दधे तत्रैव समाधाय चिरमन्तर्व्यचिन्तयत्।

मोहरूपी अन्धकार और विकल्परूपी निद्रा के दूर हो जाने पर अन्तःकरण में एक प्रकार के वर्णनातीत बोधरूप चन्द्रमा का आविर्भाव हो जाता है। श्रद्धा, विवेक, बुद्धि, शान्ति तथा यम आदि साधनों से जो विश्वरूप ब्रह्म भासता है, वह व्यापकरूप विष्णु मैं हूँ। भगवती विष्णु-भक्ति की कृपा से मैं अकस्मात् कृतकृत्य हूँ। 'इस समय वह मैं हूँ' इत्यादि ज्ञान, विवेक, वस्तु-विचार और वैराग्यादि विष्णु-भक्ति के अधीन हैं; क्योंकि इन सब की उत्पत्ति विष्णु-भक्ति से ही होती है। इसी को स्पष्ट करते हुए महामति मिश्र ने अपने ग्रन्थ को समाप्त किया है। 'स्वभावतः सत्त्वगुणी होने से ज्ञानी होने पर भी अग्नि, वायु और इन्द्रादि देवता, किसी समय तेजोरूप परम आश्चर्ययुक्त मनोहर रूप से प्रकट हुए ब्रह्म को नहीं जान सके।' इस केनोपनिषत् के वचन से भी यही प्रतीत होता है कि विचारशील पुरुष मोह, अभिमान आदि आसुरी भावों को छोड़कर श्रद्धालु तथा जिज्ञासु बनकर ही ब्रह्म को जान सकता है।

केनोपनिषत् में एक आख्यायिका है कि एक बार देवासुर-संग्राम में देवताओं ने असुरों को जीत लिया था। इससे उनको अभिमान हो गया कि हमने अपनी शक्ति से असुरों पर विजय प्राप्त की है। उन्होंने यह नहीं समझा कि परमात्मा की शक्ति ही सब जगह काम कर रही है; उसके सामने हमारी शक्ति का कुछ भी मूल्य नहीं है। देवताओं के आसुरी भावों का नाश करने के लिये परमात्मा ही बड़े तेजोमण्डल के साथ, यक्षरूप में, प्रकट हुए—यह अगली श्रुतियों में दिखलाया है। परमात्मा ने ही देवताओं को विजय दी, किन्तु ब्रह्म के द्वारा प्राप्त विजय में देवताओं ने अपनी शक्ति को मुख्य कारण समझकर जब अभिमान किया तब ब्रह्म द्वारा निर्दिष्ट तृण के टुकड़े को भी जलाने तथा उड़ाने में असमर्थ होने पर 'मैं सब वस्तुओं के जलाने में

समर्थ जातवेदाः नामक अग्नि हूँ', 'मैं सब वस्तुओं को उखाड़ फेंकने की शक्ति रखनेवाला मातरिश्वा वायु हूँ', इस पूर्व अभिमान के चूर्ण होने के कारण अग्नि और वायु को अपने-अपने कार्य से पराङ्मुख होते देखकर देवताओं ने इन्द्र से कहा कि मघवन्! आप यह जानने का यत्न कीजिए कि यह यक्ष है क्या। इस अर्थ को बोधन करनेवाली "विजानीहि किमेतत् यक्षमिति" इस ऋक् में बताया गया है कि इन्द्र ब्रह्म के पास गया परन्तु ब्रह्म छिप गया। ब्रह्म को छिपा हुआ देखकर ब्रह्म के साथ—अग्नि और वायु के समान ही—वार्तालाप का अवसर न पाकर इन्द्र को कुछ सन्देह हुआ पर वह, अग्नि तथा वायु के समान, वहाँ से हटा नहीं। आकाश में जहाँ ब्रह्म छिप गया था वहीं पर सावधान हो बहुत देर तक वह कुछ सोचने लगा—

ननु मत्तोऽप्यधिकतेजस्वी सर्वेश्वरो भगवानेव मद्धितैषितया नूनमेतादृशं पूज्यतमं रूपमदर्शयदिति तस्य तत्र भक्तिः समजायत। स्वस्मिन्निन्द्रस्य भक्तिं बुद्ध्वा ब्रह्मनियुक्ताऽभिशोभमानेन देवीरूपेण तत्र विद्या प्रादुरभूत्। भो विद्ये किमेतदितीन्द्रेण पृष्टा सा चोवाच। यथा मिथ्याऽभिमानादसुराणां पराभवो जातस्तथा देवानामपि स मा भूदित्यनुकम्पया अस्माकमेष विजयोऽस्माकमेष महिमा स्वयं समर्थैरस्माभिरनुभूयते। नात्र पुनरीश्वरो हेतुरिति मिथ्याभिमानवतो युष्मान्किल तद्व्यपोहेनानुजिघृक्षु युष्मद्भाग्यवशादिह लोचनगोचरीभूतं ब्रह्मैतन्मघवन् विजानीहि। परमेश्वरानुग्रहादेव विजयादिभाजो यूयं न स्वत इति विद्यया बोधित इन्द्रो ब्रह्मैतदिति ज्ञानवान्बभूव। तद्वचनादग्निवाय्वादयोऽपि। ततश्च तेऽभिमानं जहुरिति भाष्ये स्थितम्। अतो भक्तिरेव प्रबोधलक्षणाया विद्याया हेतुरिति सुप्रसिद्धतरोऽयमर्थः। परमेश्वरप्रतिज्ञैव गीतासु—

'मुझसे भी अधिक तेजस्वी, सबका ईश्वर, यह यक्ष साक्षात् भगवान् ही है; मेरा हितैषी होने के कारण ही मुझको इसने अपना पूज्यतम रूप दिखाया है।' ऐसा सोचने पर इन्द्र को उस यक्ष में भक्ति उत्पन्न हो गई।

परमात्मा ने अपने ऊपर इन्द्र की भक्ति देखकर विद्या भगवती को आज्ञा दी कि तुम तेजोमय रूप से इन्द्र के सामने प्रकट हो जाओ। ब्रह्म के ऐसा कहते ही विद्यादेवी पूर्वोक्त रूप से प्रकट हो गई। 'हे विद्ये! यह यक्ष क्या था?' इन्द्र के यों पूछने पर विद्या ने कहा कि जिस प्रकार मिथ्याभिमान

से असुरों की पराजय हुई, उसी प्रकार देवताओं को पराजित न होने देने के लिये 'हम लोगों की ही विजय है', 'हम लोगों की ही महिमा है', 'हम लोग स्वयं शक्तिशाली हैं; विजय और महिमा की प्राप्ति हमको अपनी शक्ति से हुई है अतः इसमें ईश्वर को कारण क्यों माना जाय ?'—आप लोगों के इस मिथ्याभिमान को हटाने के लिये, स्वयं दयालु भगवान् ने यक्ष के रूप में भाग्यवशात् आप सबको दर्शन दिये हैं।

परमेश्वर के अनुग्रह से ही आप लोगों को विजय मिली है, अपनी शक्ति से नहीं। इस प्रकार विद्या भगवती के समझाने से इन्द्र को यह ज्ञान हो गया कि 'यह यक्ष साक्षात् ब्रह्म है'। इसके पश्चात् इन्द्र के कह देने से अग्नि, वायु आदि देवताओं को भी ब्रह्म के स्वरूप का बोध हो गया। तदनन्तर उन्होंने अपने अभिमान को दूर कर दिया। इस कारण भक्ति ही ब्रह्मज्ञानरूपी विद्या का हेतु है।

> तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
> नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ इति ।

एवञ्च मम तु बुद्धिविनिश्चय एष निरूढिमागात्। यया भक्तनिष्ठया भक्त्या भक्तेषु तावद्भगवान्प्रसत्तिमान् भवति। तद्भगवन्निष्ठप्रसत्तिसुधापूरोपसंक्रान्ता सती भगवत्स्वरूपानन्दप्रकाशकतां गता सैव तदानीं ज्ञानमित्युच्यत इति। अत एव चतुर्थीकारके क्लृपि सम्पद्यमाने चेत्यत्र भक्तिर्ज्ञानाय कल्पत इत्युदाहृतम्। व्याख्यातं च मनोरमायाम्, ज्ञानात्मना परिणमत इत्यर्थ इति। अत्रात्मशब्दस्तद्वृत्तिधर्म्मपरः। ज्ञानत्वेन प्रकाशत इत्यर्थः।

अत एव च प्रेमलक्षणायां भगवति भक्तौ जातायां ज्ञानं नाम स्वत एव उत्पद्यते। भक्तिं विना तु न ज्ञानगन्धोऽपीति पूर्णानन्दस्वामिनः। किञ्च यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमित्युपपादयतां पञ्चपादिकाचार्याणामप्ययमेवाशयो व्यज्यते। केवलं भगवद्भक्तिरहितं ज्ञानमज्ञानमात्रं निवर्तयति। न तु मोक्षं साधयतीति। तादृशमेव ज्ञानिनम्प्रति—

भगवान् की तो गीता में प्रतिज्ञा ही है कि मैं भक्तों के ऊपर कृपा करके उनके अज्ञानान्धकार को, आत्मभाव में वर्तमान होकर, प्रकाशमय ज्ञानरूपी प्रदीप से नष्ट करता हूँ।—इस प्रकार मेरा तो यह दृढ़ निश्चय है कि

भगवान् भक्ति से सान्निध्यापन्न होते हैं। भगवान् के सान्निध्यरूप अमृत के प्रवाह से युक्त स्वरूप के आनन्द का अभिव्यञ्जन करने के पश्चात् वही भक्ति ज्ञान कही जाती है। इसी लिये चतुर्थी कारक में 'क्लृपि संपद्यमाने च' इस वचन में 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते' यह उदाहरण दिया गया है। भक्ति ही ज्ञानरूप में परिणत हो जाती है, यह मनोरमाकार ने भी माना है। "ज्ञानात्मनः" इस स्थान पर आत्म शब्द ज्ञानवृत्ति के ज्ञानत्वरूप धर्म का वाचक है। इसी लिये प्रेममयी भगवद्भक्ति जब उत्पन्न हो जाती है तब ज्ञान स्वयं उत्पन्न हो जाता है। भक्ति के बिना तो ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती, यह पूर्णानन्द स्वामी ने कहा है। 'पञ्चपादिका' के आचार्य ने भी प्रतिपादन किया है कि ज्ञान अज्ञान का निवर्तक है, अतः उनका भी यही आशय प्रतीत होता है कि भगवद्भक्ति-शून्य ज्ञान केवल अज्ञान की निवृत्ति कर सकता है, उससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्व्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

इति भगवदादेशः। अस्यार्थः। सदभ्याससमुपार्जितज्ञानस्यापि जनस्य मद्भक्तिराहित्ये सति मदधिगमायोगाद् बहूनि जन्मानि जायन्ते। तच्चैकस्मिञ्जन्मनि समुपार्जितं ज्ञानं संस्कारवशाज्जन्मान्तरेष्वपि पुनः पुनरनुवर्तते।

तत्र तं बुद्धिसँय्योगं लभते पौर्व्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिमित्युक्तमेव। एवमनेकजन्मजातपुण्यपुञ्जोपसञ्चयात् बहूनां जन्मनामन्ते मदनुकम्पावीक्षितोऽसौ जनश्चरमे जन्मनि महान् सर्वदैव सर्वथैव सर्वेषां देवर्षिपितृमनुजदनुजादीनां पूज्यतम आत्मा स्वरूपं यस्य महात्मा अत एव भक्त्या विनोपायशतैरपि लब्धुमशक्यत्वात्सुतरां दुर्लभः।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

इति वक्ष्यमाणत्वात्।

एतादृशो यो वासुदेवः परमात्मा स एव कार्यकारणात्मकमिदं सर्वं भवति, न तु ततोऽन्यत्किञ्चिदस्तीति।

ऐसे ही ज्ञानियों के प्रति भगवान् की आज्ञा है कि 'अनेक जन्मों के पश्चात् ज्ञानी पुरुष मुझको प्राप्त होता है।' 'सब वासुदेव-रूप ही हैं', ऐसी भावना-वाले, महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं। इस श्लोक का आशय इस प्रकार है—अच्छे अभ्यास के द्वारा ज्ञानोपार्जन कर लेने पर भी ज्ञानी के हृदय में यदि भक्ति न हो तो उसे मेरी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस कारण वह अनेक जन्म धारण करता है। एक जन्म का उपार्जित ज्ञान संस्कारवश जन्मान्तर में भी अनुवर्तित होता है। प्राणी को जन्मान्तर में पूर्वजन्म के सञ्चित ज्ञान की ही प्राप्ति होती है; क्योंकि पूर्वजन्म का संस्कार अगले जन्म में भी प्राप्त होता है। इसके अनन्तर वह पूर्व-पूर्वजन्म के संस्कार से प्राप्त ज्ञान की संसिद्धि के लिये यत्न करता है। अर्जुन! इस प्रकार अनेक जन्मों में सिद्धि को प्राप्त करता हुआ वह अन्त में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अनेक जन्मोपार्जित पुण्यों के प्रताप से बहुत से जन्मों के पश्चात् मेरी दया-दृष्टि होने पर मनुष्य अन्तिम जन्म में देव, ऋषि, पितर, मनुष्य और दैत्यादि सभी प्राणियों का आदरभाजन बन जाता है। अत: ऐसा महात्मा सैकड़ों उपाय करने पर भी भक्ति के बिना अत्यन्त दुर्लभ है। 'प्राणी भक्ति से ही मुझको और मेरे वास्तविक स्वरूप को जानता है', यह आगे कहा जायगा। अत: भक्ति ही प्रधान है, और ज्ञान तो भक्ति का व्यापारमात्र है। ज्ञान-संयुक्त भक्ति से ही ईश्वर की प्राप्ति होती है, केवल ज्ञान से नहीं। इस प्रकार के भगवान् वासुदेव ही इस कार्य-कारणात्मक जगत् में विद्यमान हैं। वे ही सब कुछ हैं; उनसे भिन्न कुछ भी नहीं।

अपरिच्छिन्नदर्शनभक्तिसमुद्दीपितं यन्मत्स्वरूपज्ञानं तद्वान्भूत्वा मां प्रपद्यत इति। ज्ञानी त्वात्मैव मे मतमिति पूर्वश्लोकेऽपि भक्तियुक्त एव ज्ञानी। न तु केवलः। तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यत इति ततः पूर्वत्रोक्तेः। अत्रोपपत्तिमतां वचसामुपन्यासश्चोत्तरत्र भूरि करिष्यते। यदालोचनवतां मतिमतां मतिरवति भगवति रतिमती सती प्रविशतितराम्। यथा हि सिद्धगीताश्रवणमात्रेण जनकस्य तत्त्वज्ञानं प्रादुरभूत्। अपि च भक्तिभूषायामभिदधुरानन्दबोधाचार्य्याः—

पश्यन्ति भगवद्भक्ता यत्तन्नान्येऽपि योगिनः।
तस्माद्भक्तिं भगवति कुर्याद्विद्वान्बुभूषया॥ इति।

योगिनोऽपीत्यन्वयः। अपरोक्षदर्शिनो भागवता एव। अन्ये तु परोक्षमात्रज्ञाना इत्यर्थः। व्याहृतं चैतदेवैकादशे—

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम॥

कामैरस्पृष्टबुद्धयो निष्किञ्चनत्वादिगुणविशिष्टा मम भक्ताः यत् अद्वितीयं किमपि सुखं जुषन्ति सेवन्ते यतः सुखान्तरापेक्षाऽपि निर्गतैव तत् त एव विदुः न त्वन्ये अभक्ता इत्यर्थः।

भक्ति और ज्ञान से सम्यक् प्रकाशित मेरे स्वरूप का ज्ञान रखनेवाला ही मुझको प्राप्त होता है। ज्ञानी पुरुष तो मेरा स्वरूप ही है। इस प्रकार पूर्व श्लोक में भी भक्तियुक्त ज्ञानी का ही ग्रहण करना चाहिए, निरे ज्ञानी का नहीं। 'उन सब में भी अनन्य भक्त, परमात्मा में नित्य संलग्न, ज्ञानी ही विशेष आदरणीय है'। यह उससे पूर्व के श्लोक में कहा गया है। इस विषय में अधिक उक्तियाँ आगे चलकर देंगे। जब विचारशील मतिमान् पुरुषों की बुद्धि प्रेममयी होकर प्राणिमात्र के रक्षक भगवान् में पूर्ण रूप से निमग्न हो जाती है तब उसी प्रकार से तत्त्वज्ञान प्रकट होता है, जिस प्रकार सिद्धगीता के सुनते ही जनक को तत्त्वज्ञान हो गया था। आनन्दबोधाचार्य ने भी अपने 'भक्ति-भूषा' नामक ग्रन्थ में कहा है कि भगवान् के भक्त ही अपरोक्षदर्शी (साक्षात्कार-ज्ञानवाले) होते हैं; बड़े-बड़े योगी-यतियों को भी भगवान् का साक्षात्कार नहीं होता। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में भी यही कहा है—निष्किञ्चन, मुझमें अनुरक्त-चित्त, शान्त, सर्वप्रिय, कामना से रहित पुरुष मेरे जिस निरपेक्ष अद्वितीय सुख का अनुभव करते हैं, उसको दूसरे नहीं जानते।

एषा वृत्तिरिन्द्रवंशा नाम। स्यादिन्द्रवंशा ततजै रसंयुतैरिति लक्षणात्। अत्र हीन्द्रवंशां वृत्तिं प्रयुञ्जानो निरुपाधिकृपानिधिरद्भुताशयः श्रीमानास्माकः खलु भगवान्किमपि व्यङ्ग्यार्थद्योतकवाचोयुक्त्या व्यक्तमेवं भावमाविष्करोति। विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्ध इन्द्रशब्दवाच्यः परमेश्वरो योऽहं तस्य मे वंशः सन्तानस्तद्भूताः पुत्रा इति यावत्। ये भक्तास्त एव मत्संबन्धिसर्वोत्तमोत्तमं सुखमनुभवितुमर्हन्ति। न त्वन्ये भक्तिशून्यशुष्कयोगज्ञानमात्रकृतश्रमा इति। लोकेऽपि पित्रार्जितसमीचीनवस्तुसुखं पुत्रा एवोपभुञ्जत इति प्रसिद्धम्।

इस पद्य में इन्द्रवंशा छन्द का प्रयोग करते हुए निरुपाधि कृपानिधि अद्भुत आशयवाले भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र व्यङ्ग्यार्थ की प्रकाशिका वाणी के द्वारा इसी प्रकार के भाव को प्रकट करते हैं—सब देवताओं से इन्द्र प्रधान है, 'वह इन्द्र अपनी माया से अनेक रूपों को धारण करता है।' इत्यादि श्रुतियों में इन्द्र शब्द का अर्थ परमेश्वर है। वह परमेश्वर मैं हूँ। मेरे पुत्रतुल्य भक्त ही सर्वोत्तम सुख का अनुभव करने में समर्थ होते हैं, भक्ति से शून्य कोरे योगी और ज्ञानी नहीं। संसार में देखा जाता है कि पिता द्वारा अर्जित उत्तम-उत्तम पदार्थों का सुख पुत्र ही भोगते हैं।

वैकुण्ठपदसम्प्राप्तिर्भक्त्या केवलया हरौ।
न ज्ञानेन न योगेन भवेज्जन्मशतैरपि ॥

इति योगीश्वरगीर्जागर्ति।

ज्ञानं योगो वा येषां सिद्ध्यति ते तु पुण्यतारतम्येन महर्जनस्तपःसत्यानामन्यतमं लोकं प्राप्ताः कल्पान्ते ब्रह्मणा सहैव मुच्यन्ते, नार्वाक्।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥ इति श्रुतेः।

अत एव हन्त मुक्तेरपि भक्तेराधिक्यमद्धाभिधत्ते श्रुतिः। किमुत वक्तव्यं ज्ञानाद्वेति।

यं सर्व्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्चेति।

तत्स्वारस्यसंवेदनमुदिता भाष्यकृतश्चैनां व्याचख्युः। मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्तीति। एतदेव देवहूतिम्प्रति चोक्तम्—

योगीश्वर का कथन है कि एकमात्र भगवद्भक्ति से ही वैकुण्ठपद की प्राप्ति हो सकती है; सैकड़ों जन्म लग जाने पर भी ज्ञान और योग के द्वारा नहीं। ज्ञानी तथा योगी लोग तो पुण्य के तारतम्यानुसार मह, जन, तप और सत्य आदि लोकों में से किसी एक को प्राप्त कर पाते हैं तथा कल्प के अन्त में उसी कल्प के ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो जाते हैं, पहले नहीं। यही बात श्रुति कहती है—प्रलय होने पर हिरण्यगर्भ के अन्त में, ब्रह्म के साथ ही, जिन्होंने आत्मा की उपासना की है वे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् परमपद में प्रवेश करते हैं। इसलिये मुक्ति की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता साक्षात् श्रुति से भी सिद्ध होती है। फिर ज्ञान से भी भक्ति उत्तम है, इसका क्या कहना; क्योंकि भक्त को सब

देवता तथा मुक्ति के अभिलाषी ब्रह्मवादी भी नमस्कार करते हैं। भाष्यकार शङ्कर ने भी उक्त श्रुति के सुन्दर भाव पर मुग्ध होकर श्रुति की व्याख्या में कहा है कि मुक्त जीव भी स्वेच्छा से शरीर धारण कर भगवद्भक्त की सेवा करते हैं। कपिल मुनिजी ने अपनी माता देवहूति से कहा है—

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥

अनिमित्ता निष्कामा। सिद्धेः मुक्तेः। कोशं लिङ्गदेहम्। निगीर्णं भुक्तमन्नमनलो जाठर इति पञ्चपदार्थाः। अत एव समृद्धभक्तिरसमहोद्धवसमिद्धमुद्धवप्रभृति प्रबुद्धबुद्धी यदुकुरुकुलजनिमत्कुञ्जरावुद्धवधनञ्जयौ निमित्तीकृत्य प्रकटीकृतभाविनिजपदाम्भोजभजनधनजनवर्गसमग्रानग्रहमहाविभूतिभिरचिन्त्यमहिमैकनिकेतनैश्चतुराननपञ्चाननसहस्राननसहस्रलोचनसौनीतेयकायाधवशान्तनवपावमानिजाम्बवदम्बरीषपुण्डरीकशुकशौनकजनकसनकसनन्दनसनातनादिभक्तसमुदायहृदयारविन्दमन्दिरैर्महोदारकरुणावरुणालयैः सकललोकलोकपालनियामकतया स्वयमनमद्भिः श्रीमद्भिरानमद्भियमपनयद्भिरनुजनार्पितहितसम्पद्भिरानन्दयद्भिरभिसम्फुल्लविलोहितमहोत्पललुलितलक्ष्मीलभ्रूकृतिकृतित्वविशिष्टैरनुशिष्टमेकादशे कुशावतीशानचरणैः।

श्रीभगवानुवाच—

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्व्वतः ।
मयात्मना सुखं यत्तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम् ॥

निष्काम भगवद्भक्ति मुक्ति से भी श्रेष्ठ है। इस प्रकार की भक्ति लिङ्गशरीर (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि) को वैसे ही नष्ट कर देती है जैसे जठराग्नि भुक्त अन्न को पचा डालती है। इसी लिये श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में करुणासागर, भक्तभयहारी, आनन्ददाता, लोकपालों के नियन्ता, जगद्वन्दनीय, तेजोमय, महिमा के भाण्डार, पुण्यात्माओं के लिये विपुल विभूतियाँ धारण करनेवाले, परम उदार, ब्रह्मा शिव शेषनाग इन्द्र ध्रुव प्रह्लाद भीष्म पावमानि जाम्बवान् पुण्डरीक शुकदेव शौनक जनक अम्बरीष और सनक सनन्दन सनातन आदि, भक्तों के हृदयमन्दिर-निवासी, द्वारकाधीश,

कमललोचन भगवान् कृष्णचन्द्र—भक्तश्रेष्ठ उद्धवजी और अर्जुन को निमित्त बनाकर—कहते हैं कि जिसने अपने मन को मुझमें लगा लिया है, जो पूर्ण रूप से निरपेक्ष हो चुका है तथा जिसने मुझमें तन्मयता प्राप्त कर ली है उसको जिस अलौकिक आनन्द की उपलब्धि होती है वह भला विषयों के मायाजाल में पड़े प्राणियों को कभी मिल सकता है ?

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
मया सन्तुष्टमनसः सर्व्वाः सुखमया दिशः ॥ १ ॥

सुखमय्य इत्यभिधातव्ये सुखमया इति च्छन्दोऽनुसारिकौतुकादाज्ञातं गरिष्ठैः।

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्ज्जिता ॥ २ ॥
भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥ ३ ॥
धर्म्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥ ४ ॥
जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्व्वकर्म्मसु।
वेद दुःखात्मकान्कामान्परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥ ५ ॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान्कामान्दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥ ६ ॥
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥ ७ ॥

मद्भक्तिकिङ्करयोर्ज्ञानवैराग्ययोः प्रयोजनं मन्दमित्याशयः।

निःस्पृह, दान्त, शान्त, समदर्शी तथा मेरी उपासना से प्रसन्नपुरुषों के लिये सब दिशाएँ सुखमयी हो जाती हैं। उद्धवजी ! लोग मुझको न तो योग से पा सकते हैं और न धर्म से ही। लोग दृढ़ भक्ति के द्वारा ही मुझे प्राप्त कर सकते हैं। सांख्य, योग, धर्म, स्वाध्याय, त्याग और तप मेरी प्राप्ति में तनिक भी सहायता नहीं पहुँचा सकते। भक्तों की अटूट श्रद्धा देखकर मैं उनका आत्मतुल्य और प्रिय बन जाता हूँ। मेरी भक्ति चाण्डाल तक को पवित्र कर देती है। धर्म, सत्य, दया, विद्या तथा तप के द्वारा अन्तःकरण

तब तक शुद्ध नहीं होता जब तक उसमें मेरी भक्ति का उदय न हो। मेरी कथा में श्रद्धा रखनेवाला, सब कर्मों की ओर से विरक्त प्राणी कामनाओं के त्याग करने में असमर्थ होने पर भी उन्हें दुःखमय समझे। तदनन्तर श्रद्धालु, दृढ़-निश्चयी और प्रसन्न होकर मुझको प्रसन्न करे। स्वयं कामनाओं के अधीन रहने पर भी उनको क्लेशों का मूल जानकर निन्दनीय ही समझे। अतः सिद्ध हुआ कि मेरे भक्तों तथा मत्परायण योगियों के लिये ज्ञान और वैराग्य प्रायः अनावश्यक हैं।

सर्व्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः॥ १॥
ज्ञाने कर्म्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः॥ २॥
न निर्व्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।
धर्म्मान्सन्त्यज्ज्य यः सर्व्वान्मां भजेत्स च सत्तमः॥ ३॥
तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्ज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥ ४॥

चोदनां श्रुतिम्। प्रतिचोदनां स्मृतिम्।

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्व्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥

गीतासु—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ २॥
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३॥
माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ४॥

ब्रह्मणो भवनं ब्रह्मभूयः। भुवो भावे क्यप। ब्रह्मत्वायेत्यर्थः।

सर्व्वधर्म्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्व्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

मेरा भक्त, भक्ति के प्रताप से, सम्पूर्ण फलों को प्राप्त कर लेता है। जो लोग अनन्य भाव से मेरी भक्ति में निमग्न रहते हैं उनके हृदय पर तीनों गुणों—सत्त्व, रज और तम—का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। फलतः वे राग-द्वेष आदि से बच जाते हैं। तात! सर्व-साधारण व्यक्ति ज्ञान, कर्म, योग और वार्ता (व्यापार) आदि विभिन्न साधनों का अवलम्बन करने पर जिस चतुर्विध प्रयोजन को सिद्ध कर पाते हैं वह तुम्हारे लिये मैं ही हूँ। निर्विण्ण (किसी कारण-वश वैराग्य को प्राप्त) और अत्यन्त आसक्त व्यक्ति भक्ति-योग द्वारा भी सिद्धि नहीं पा सकते। किन्तु श्रेष्ठ वही है जो सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग कर मेरी भक्ति करता है। इसलिये उद्धवजी! श्रुति, स्मृति, प्रवृत्त-कर्म, निवृत्त-कर्म, श्रोतव्य और श्रुत, इन सबको त्यागकर तथा मुझे ही प्राणिमात्र का शरणदाता एवं आत्मस्वरूप समझकर मेरी शरण लो। ऐसा करोगे तो निर्भय हो जाओगे। गीता में भगवान् ने कहा है कि हे पार्थ! दूसरे में चित्त न लगाकर जो व्यक्ति सदा मुझको स्मरण करता है, मेरे चिन्तन में सर्वदा संलग्न उस योगी को मैं सुलभ हूँ। मेरे भक्त मुझको पाकर दुःख के स्थान अनित्य पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते; क्योंकि वे मेरे पास आते ही परमा मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। जो मुझको भक्ति से भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ। अतः विनाशी, सुखरहित, इस लोक को प्राप्त करके मेरा भजन करो। जो पुरुष नित्यप्रति भक्तियोग के द्वारा मेरा भजन करता है वह सत्त्व, रज, तम गुणों को जीतकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। सम्पूर्ण धर्मों को त्याग करके एकमात्र मेरी ही शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापों से छुड़ा दूँगा। किसी बात की चिन्ता मत करो।

महाभारते श्रीयुधिष्ठिरम्प्रति—

भक्त्यैकया महाराज भक्तानां सुलभोऽस्म्यहम् ।

तं प्रत्येव बृहदश्वो महर्षिः—

तेषां मन्ये धराधीश शाश्वतं श्वोवसीयसम् ।
कायेन वाचा मनसा संश्रिता ये श्रियः पतिम् ॥ इति ।

श्वोवसीयसं निश्श्रेयसम् ।

महाभारत में युधिष्ठिर के प्रति कहा है कि महाराज ! मैं केवल भक्ति से ही सुलभ हूँ। युधिष्ठिर के प्रति ही महर्षि बृहदश्व ने भी कहा है कि राजन् ! मन, वाणी और शरीर से भगवान् का आश्रय लेनेवालों को ही परम पद की प्राप्ति होती है।

नारदम्प्रति पद्मपुराणे—

स्मरणालोकनस्पर्शैः कूर्ममीनविहङ्गमाः।
यथा पुष्णन्त्यपत्यानि तथा पुष्णाम्यहं शिशून्॥

भक्तानित्यर्थः। विष्णुपुराणे—

वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्च्चनादिषु।
तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम्॥

और्व्वः सगरमाह—

भौमान्मनोरथान्स्वार्गान्स्वर्गिवन्द्यं च यत्पदम्।
प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्व्वाणमपि चोत्तमम्॥

प्रथमस्कन्धे—

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥

पद्मपुराण में भगवान् नारदजी से कहते हैं कि कछुवे, मछली आदि जलजन्तु और आकाशचारी पक्षी स्मरण, अवलोकन तथा स्पर्श से जिस तरह अपने बच्चों को पालते-पोसते हैं उसी तरह मैं भी अपने भक्तों का पालन करता हूँ। विष्णुपुराण में भी कहा है कि मैत्रेयजी ! पूजा, जप तथा होम आदि के समय जिसका मन भगवान् में तल्लीन रहता है उसके लिये इन्द्रादिपद-रूप फल की प्राप्ति भी विघ्न-स्वरूप है। और्व ने सगर के प्रति कहा है कि सभी सांसारिक मनोरथ, स्वर्ग के अभिलषित पदार्थ और स्वर्ग के रहनेवाले प्राणियों से वन्दनीय समस्त पद विष्णु भगवान् की भक्ति से प्राप्त हो जाते हैं। इतना ही नहीं, अति दुर्लभ मुक्ति तक सहज ही में मिल जाती है। श्रीमद्भागवत के भिन्न-भिन्न स्कन्धों में कहा है—भगवन् ! जो भक्तजन आपकी लीलाओं को सुनते और गाते हैं तथा उन्हीं का बारम्बार स्मरण कर आनन्दित होते हैं वे, जन्म-मरण के प्रवाह के विनाशक, आपके चरण-कमलों का ध्यान कर शीघ्र से शीघ्र आपका साक्षात्कार कर लेते हैं।

द्वितीयस्कन्धे—

तस्मात्सर्वात्मना राजन्हरिः सर्वत्र सर्व्वदा ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम् ॥

अष्टमस्कन्धे—

त्वं सर्व्ववरदः पुंसां वरेण्य वरदर्षभ ।
अतस्ते श्रेयसे धीराः पादरेणुमुपासते ॥

दशमस्कन्धे—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥

"अतएव राजन् ! भगवान् का श्रवण, कीर्तन और स्मरण अनन्यचित्त होकर सर्वदा करना चाहिए।" "भगवन् ! आप सबसे श्रेष्ठ, वरदानियों में मुख्य और सबके मनोरथों को पूर्ण करनेवाले हैं; इसी से धीर पुरुष अपने कल्याण के लिये आपके चरण-कमलों की उपासना करते हैं।" "प्रभो ! जो लोग ज्ञान-प्राप्ति के कठिन प्रयास को छोड़कर सत्पुरुषों द्वारा वर्णित आपकी गुणगाथा सुनते और आपको नमस्कार करते हैं वे आपको दुर्ज्ञेय जानकर भी अपनी भक्ति के द्वारा प्रायः वश में कर लेते हैं; क्योंकि उनकी वाणी, मन और इन्द्रियाँ बाह्य विषयों की ओर न जाकर आपके स्वरूप में केन्द्रीभूत हो जाती हैं।"

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
इति वेधाः ।

तं त्वां जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवम् ।
अनन्यमेकं जगदात्मकेतं भवापवर्गाय भजाम देवम् ॥ इति कृत्तिवासाः ।

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥ इति वेदाः ।

सत्त्वं रजस्तम इतीश तवात्मबन्धो
मायामयाः स्थितिलयोदयहेतवोऽस्य।
लीला धृता यदपि सत्त्वमयी प्रशान्त्यै
नान्ये नृणां व्यसनमोहभियश्च याभ्याम्॥ इति द्वादशस्कन्धे।

"विभो! जो लोग कल्याण की धारा को बहानेवाली आपकी भक्ति को त्यागकर केवल ज्ञान-प्राप्ति के लिये तरह-तरह के क्लेश सहते हैं उनके हाथ वैसे ही कुछ नहीं लगता जैसे चावलों की प्राप्ति के लिये भूसी कूटनेवालों को केवल परिश्रम ही उठाना पड़ता है।" इस वेधा-(व्यास ?)वाक्य से प्रतीत होता है कि ज्ञान की अपेक्षा भक्ति मुख्य है। शिवजी कहते हैं कि भगवन्! आप संसार की उत्पत्ति स्थिति और संहार के कारण, शान्त-स्वरूप, समदर्शी, सबके हित-चिन्तक, अद्वितीय तथा सर्वश्रेष्ठ हैं। यह जगत् आपकी सत्ता का बोधक है। आत्मदेव! प्रभो! हम लोग संसार-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिये आपका भजन करते हैं। सदेह वेद स्तुति करते हैं—भगवन्! आप जीवों को दुर्ज्ञेय आत्मतत्त्व का बोध कराने के लिये संसार में अवतार लिया करते हैं। जो लोग आपके चरितमय सुधासागर का रसास्वाद कर लेते हैं उनकी दृष्टि में परमपद (मोक्ष) का भी कोई महत्त्व नहीं रह जाता—वे उस ओर ध्यान तक नहीं देते। ऐसे पुण्यात्मा व्यक्ति—भगवद्भक्त महात्माओं का सत्सङ्ग-लाभ करने के लिये—घर-द्वार, धन-दौलत और स्त्री-पुत्र आदि का माया मोह छोड़कर जङ्गल में जा बसते हैं। आत्मबन्धो! तीनों गुण ही (सत्त्व, रज तथा तम) इस जगत् के मूल-कारण हैं; किन्तु ये सभी यथार्थ न होकर केवल मायामय हैं। आपने संसार के कल्याण एवं शान्ति के लिये जो अनेक सत्त्वगुणमयी लीलाएँ की हैं उनके श्रवण, मनन तथा ध्यान के द्वारा व्यसन, मोह और भय से सहज ही छुटकारा मिल जाता है।

यत्तु वेदान्तिनो वदन्ति। यः सगुणं ब्रह्मोपास्ते न तस्य कैवल्यमस्ति। लिङ्गदेहस्यानपायादिति। तत्तु वेदान्तशास्त्रपरिपाटीमात्रम्। वस्तुतस्तु भगवद्भक्तस्यैव कोशनाश इति कपिलोक्तेरुदाहृतत्वात्। तृतीये नवमाध्याये श्रीब्रह्मणा 'रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन। नातः परं परम यद्भवतः स्वरूप'मिति श्लोकाभ्यां भगवतः सगुणस्यैव रूपस्य निर्गुणत्वप्रतिपादनात्।
यदस्तौषीर्गुणमयं निर्गुणं माऽनुवर्णयन्॥ इति।

तत्रैव भगवताप्यनुमोदनात्। अत्रेदं वक्तव्यम्—यर्हि जीवानामिव प्रकृतिमहदहमादिगुणानुविद्धं रूपं भगवतोऽपि भवेत्तर्हि कर्हिचिन्निर्गुणरूपाद्व्यतिरिच्येतापि। न तु तदस्ति। भक्तानुग्रहेच्छामात्रेण दर्शितत्वात्।

वेदान्ती लोग कहा करते हैं कि सगुण ब्रह्म की उपासना करनेवालों को मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती; क्योंकि उक्त उपासकों का सम्बन्ध लिङ्ग-शरीर से बराबर बना रहता है। लिङ्ग-शरीर के रहते मोक्ष-प्राप्ति कैसी? किन्तु यह कथन वेदान्तशास्त्र की परिपाटी का पालन-मात्र है। वास्तव में इसमें कोई सार नहीं; क्योंकि यह बात 'भगवद्भक्ति के द्वारा ही पञ्चकोशों (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय) का नाश हो सकता है अन्यथा नहीं' इस आशय का कपिल मुनि का वचन देकर भली भाँति सिद्ध की जा चुकी है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के नवें अध्याय में "रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन", "नात: परं परम यद्भवत: स्वरूपम्' इन दो श्लोकों द्वारा ब्रह्माजी ने भी भगवान् के सगुण रूप को ही निर्गुण स्वीकार किया है। इसी प्रकार स्वयं भगवान् ने भी "ब्रह्माजी! आपने मेरे सगुण रूप की भी निर्गुण रूप के समान स्तुति की है" ऐसा कहकर यही दर्शाया है। वास्तव में यहाँ पर कहना यह है कि भगवान् का रूप भी यदि जीवों के रूप के समान ही—प्रकृति के महत्तत्त्व एवं अहङ्कार आदि गुणों का विकार—मान लिया जाय तो सम्भव है कि भगवान् के सगुण और निर्गुण रूपों मे भेद किया जा सके। किन्तु यह बात तो है नहीं क्योंकि भगवान् भक्तों के कल्याणार्थ ही सगुण रूप धारण किया करते हैं, यथार्थ में वह रूप महत्तत्त्व आदि गुणों का विकार नहीं होता। वह तो जल में रहकर भी उसके विकारों से पृथक् रहनेवाले कमल के समान सर्वथा निर्लेप रहता है।

तदाह भगवान्सनत्कुमार:—

> ध्यातुमिच्छन्ति यद्रूपं भक्ता भगवतो मुने।
> तदेव करुणस्तेषां प्रभुर्दर्शयतीच्छया॥ इति।

रामतापनीयोपनिषदि—

> चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण:।
> उपासकानां कार्य्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥ इति।

गर्गगालवीयसंहितायाम्—

ब्रह्मैकं सच्चिदानन्दं निरञ्जनमनाकृति ।
यत्सोऽयं भगवान्कृष्णो लीलया देहवानिव ॥ इति ।

लीला च भक्तजनलिलालयिषैव । पद्मपुराणे भगवानेव—

भगवान् सनत्कुमार ने भी इसी भाव को इस प्रकार दिखाया है कि मुने ! भक्त जन भगवान् के जिस रूप का ध्यान करना चाहते हैं, कृपालु प्रभु भक्तों की इच्छा के अनुसार उसी रूप को दिखा देते हैं। रामतापनीय उपनिषत् में भी कहा है कि ज्ञान-रूप अद्वितीय अशरीरी ब्रह्म में रूप-कल्पना उपासकों के ध्यान के लिये की जाती है। गर्गगालवीय संहिता में भी ऐसा ही कहा है कि जो सत्-चित्-आनन्दरूप निरञ्जन (दोषों से रहित) शरीर-रहित अद्वितीय ब्रह्म है, वही कृष्ण भगवान् हैं; किन्तु लीला द्वारा देहधारी के समान प्रतीत होते हैं। भगवान् की लीला भी भक्तजनों के पालन की इच्छामात्र है, अन्य कुछ नहीं।

स्वतः स्वच्छे बोधे विगलितमहामोहतिमिरे
मयीशे जन्मादेर्न भवति कदा काऽपि कलना ।
स्वभक्तोद्धारार्थं स्वयमहमजोऽप्यात्मकलया
चिदानन्दाकारं वपुरिव सृजामीड्यममलम् ॥ १ ॥

आद्योऽपि शब्दः कदेत्यनेनापि सम्बध्यते—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।
यत्तु मे परमं रूपं तन्न त्वं द्रष्टुमर्हसि ॥ २ ॥ इति ।

एवञ्च सगुणत्वेन दर्शितस्यापि भगवद्रूपस्य निर्गुणब्रह्मस्वरूपाद्भिन्नत्वे प्रमाणं नास्ति । तस्माद् ब्रह्मरुद्राद्युपासकविषयं तेषां वचनमिति स्थाने । अधुनैवोदाहृतसत्त्वं रजस्तम इतीशेति मार्कण्डेयवाक्यात् ।

पद्मपुराण में भगवान् ने कहा है कि मैं विमलज्ञानमय हूँ अत: मेरा जन्म आदि कदापि सम्भव नहीं, तथापि स्वेच्छा से अपने भक्तों के उद्धार के लिये समय-समय पर चिदानन्दमय, विमल शरीर धारण कर लेता हूँ। 'नारदजी ! मेरे जिस रूप के आप दर्शन कर रहे हैं वह माया-विरचित है, वास्तविक नहीं; क्योंकि मेरे परमस्वरूप को आप नहीं देख सकते।' इस प्रकार भगवान् का सगुण रूप निर्गुण रूप से भिन्न है, इसमें कोई प्रमाण नहीं। अत: ब्रह्मा रुद्र

आदि देवताओं के उपासकों के लिये ब्रह्मा रुद्रादि देवताओं के सगुण रूप का जो वर्णन किया गया है, वह उचित ही है। "सत्त्वं रजस्तम इतीश !" मार्कण्डेयजी के इस वाक्य का भी भाव यही प्रतीत होता है।

अन्यदपि तैत्तिरीयके हि—

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्व्वमिति मन्त्रव्याख्यानावसरे विस्फुटतरमुक्तं भाष्ये। परापरब्रह्मदृष्ट्या ह्युपास्यमान ओङ्कारः शब्दमात्रोऽपि परापरब्रह्मप्राप्तिसाधनं भवति। स ह्यालम्बनं ब्रह्मणः परस्यापरस्य च। प्रतिमेव विष्णोः। तेनैवायतनेनैकतरमन्वेतीति श्रुतेरिति। भक्त्योपास्यमाना विष्णोः प्रतिमा मूर्तिरपरं सगुणं परं निर्गुणं च ब्रह्म यथा प्रापयति तद्वदोङ्कारोऽपीति। प्रतिमा हि सगुणस्यैव सम्भवति, न निर्गुणस्य। निराकारत्वात्। सा च विष्णोरेव। न देवान्तरस्य। अत्रामुत्र वा कामितैश्वर्य्यादिफलदानमात्रेण तस्योपक्षीणत्वात्। श्रीविष्णुध्यायिनां तु तत्फलमानुषङ्गिकमिति तत्र यत्नाभावः। एवं देवा मुचुकुन्दमूचुः—

तैत्तिरीयक में भी कहा—'ओ३म् ही ब्रह्म है; यही सब जगत् का स्वरूप है। इस मन्त्र की व्याख्या में भाष्यकार ने यह बात अच्छी तरह स्पष्ट कर दी है कि परापर ब्रह्म की दृष्टि से उपासना करने पर ओङ्कार स्वयं शब्दमात्र होने पर भी पर और अपर ब्रह्म की प्राप्ति का साधन हो जाता है। क्योंकि ओङ्कार ही पर और अपर ब्रह्म की प्राप्ति का मुख्य आलम्बन है। जिस प्रकार विष्णु की उपासना का अवलम्बन प्रतिमा है, उसी प्रकार ओङ्कार भी आलम्बन है। परब्रह्म निर्गुण, निर्विकार, शुद्ध, चित्स्वरूप तथा आनन्दमय है। अपरब्रह्म हिरण्यगर्भ, शिव, विष्णु आदि देवता-रूप है। श्रुति भी कहती है कि ओङ्कार का आश्रय लेकर सगुण और निर्गुण ब्रह्म में से किसी एक की प्राप्ति हो सकती है। भक्ति से उपासित विष्णु-प्रतिमा पर और अपर ब्रह्म को जिस प्रकार प्राप्त कराती है उसी प्रकार उपासित ओङ्कार भी सगुण-निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कराता है। प्रतिमा सगुण की ही सम्भव है, निर्गुण की नहीं; क्योंकि निर्गुण का कोई आकार नहीं होता। विष्णु भगवान् की प्रतिमा ही पर-अपर ब्रह्म को प्राप्त करा सकती है, अन्य देवताओं की नहीं। अन्य देवताओं की मूर्ति की आराधना द्वारा केवल लौकिक और पारलौकिक ऐश्वर्य आदि फलों की

प्राप्ति हो सकती है, अतएव उससे अन्य किसी फल की आशा नहीं की जा सकती। श्री विष्णु का ध्यान करनेवालों को अन्य देवताओं की आराधना का फल स्वतः ही मिल जाता है, उसके लिये कुछ भी यत्न नहीं करना पड़ता, जैसा कि देवताओं ने मुचुकुन्द से कहा है—

वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः॥ इति।

तस्य कैवल्यस्येत्यर्थः। बन्धको भवपाशेनेत्यादि प्राग्दर्शितं स्कन्दपुराणं पुनरत्रापि पठनीयम्। अतो भगवदुपासकानां तु कैवल्यं सर्व्वोपरि वरिवर्त्तीत्यध्यात्मतत्त्वावगामिनां मुनीन्द्राणां सिद्धान्तः। अपि चाभियुक्तैरुक्तं भगवद्धर्म्मविवेके। गुणातीतो भगवद्भक्तो जीवन्मुक्तो भवतीति।

मुचुकन्द! तुम आज हम लोगों से मुक्ति के अतिरिक्त जो माँगना हो माँग लो; क्योंकि मुक्ति के देने में केवल विष्णु भगवान् ही समर्थ हैं, अन्य देवता नहीं। "बन्धको भवपाशेन" इत्यादि पूर्वोक्त स्कन्दपुराण का वचन भी यहाँ ध्यान देने योग्य है। मतलब यह है कि भगवान् के उपासकों की दृष्टि में कैवल्य ही सर्वश्रेष्ठ है, यही आत्मतत्त्वज्ञानी ऋषि-मुनियों का सिद्धान्त है। भगवद्धर्म के विचार के प्रसङ्ग में विचारशील पुरुषों ने कहा है कि गुण से अतीत—अर्थात् रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण के प्रभाव से परे रहनेवाला—भगवद्भक्त जीवन्मुक्त हो जाता है।

वासुदेवं परात्मानमुपासकभवच्छिदम्।
सर्वात्मना प्रपन्नो यः स जीवन्मुक्त उच्यते॥

इति श्रीपराशरा एव व्याजह्रुः।

स्पष्टं चैतत्प्रथमस्कन्धे—

विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या सञ्छिन्नद्वैतसंशयः।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः॥ इति।

अत्रेमाः कारिकाः—

निदानं सर्व्वजन्तूनामविद्या प्रकृतिः स्मृता।
तस्याः कार्य्यमिति प्रोक्ता गुणाः सत्त्वादयस्त्रयः॥ १॥
तेषां कार्यं लिङ्गदेहः स्थूलदेहोऽथ तस्य च।
द्वैतं तस्य भ्रमस्तस्य शोकस्तस्येति हि स्थितिः॥ २॥

भक्त्युद्रेकेण गोविन्दं ध्यायतः सव्यसाचिनः ।
ब्रह्मैवास्मीति सम्पत्तिर्भावनान्तद्दृढादभूत् ॥ ३ ॥

उपासना करनेवाले भक्तों के जन्म-मरण के विनाशक, परमात्मस्वरूप, वासुदेव भगवान् की शरण में सर्वभाव से प्राप्त पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है—यह पराशरजी ने ही कहा है। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में यही भाव स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है कि ब्रह्म की प्राप्ति होने पर साधक शोक-रहित, द्वैत-बुद्धिमुक्त तथा प्रकृति के लीन हो जाने के कारण निर्गुणरूप में जा पहुँचता है अत: लिङ्ग-शरीर से उसका सम्बन्ध नहीं रह जाता; फलत: वह जन्मादि से रहित हो जाता है। स्थूल, लिङ्ग तथा कारण के भेद से शरीर तीन प्रकार के हैं। इन्हीं के नष्ट होने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है। उक्त कारिकाओं का भाव भी इसी की पुष्टि करता है—जीवों के जन्म का मूल कारण एकमात्र अविद्या (प्रकृति) है। सत्त्व, रज तथा तम ये तीनों गुण भी पूर्वोक्त प्रकृति के ही कार्य हैं; इन्हीं के द्वारा लिङ्ग-शरीर की उत्पत्ति होती है। इस लिङ्ग-शरीर का ही कार्य स्थूल शरीर है। इसी के द्वारा द्वैतबुद्धि का जन्म होता है; इसके उत्पन्न होते ही इसका कार्य—भ्रम—अङ्कुरित हो जाता है। अन्त में यह भ्रम ही जीवों के शोक-मोह आदि का कारण बन बैठता है। भक्ति की अधिकता के द्वारा श्रीकृष्ण भगवान् का ध्यान करते-करते अर्जुन के हृदय में 'मैं ब्रह्म ही हूँ', इस प्रकार की दृढ़ भावना उत्पन्न हो गई थी।

तयैवोन्मथिताशेषकषाये हृदि भास्वरे ।
हतौजाः प्रकृतिः सद्यो विलिल्ये प्लुष्टवल्लिवत् ॥ १ ॥
तत्कार्यकार्यभूताः षट् शुशुषुश्च गुणादयः ।
छिन्नमूलस्य वृक्षस्य सपर्णा विटपा इव ॥ २ ॥
स्थूलस्य दृश्यमानत्वे सत्यप्यनभिमानतः ।
सानुबन्धस्य तस्येन्द्रजालस्येव मृषाऽस्तिता ॥ ३ ॥
सम्भवः स्थूलदेहः स्यात्संशयो भ्रम उच्यते ।
एवं भक्ताग्रणीर्जीवन्मुक्तोऽजनि तदाऽर्जुनः ॥ ४ ॥

पूर्वोक्त दृढ़ भावना द्वारा राग-द्वेष आदि के नष्ट होने पर हृदय परम पवित्र हो जाता है, उस हृदय में बल-रहित प्रकृति शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार जली हुई लता अङ्कुर उत्पन्न नहीं कर सकती, उसी प्रकार विलीन

माया में भी संसार को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रह जाती। इस दशा में प्रकृति के कार्य और उनके कार्यों के कार्य—गुण, लिङ्ग, देह आदि—भी उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार जड़ के कट जाने पर वृक्ष की शाखाएँ पत्तों के साथ अपने आप सूख जाती हैं। स्थूल देह के बने रहने पर भी उसमें अभिमान न होने के कारण पुत्र-पौत्रादिरूप सम्बन्ध के साथ-साथ शरीर का अस्तित्व इन्द्रजाल (जादू) के सदृश मिथ्या है। जीव जब स्थूलदेहधारी होता है तब उत्पन्न कहा जाता है। 'मैं स्थूल, दुर्बल, सुखी एवं दुखी हूँ' ऐसा आत्मा में जो स्थूलादि के होने का भ्रम है वह संशय कहा जाता है; क्योंकि 'शरीर ही आत्मा है, अथवा आत्मा शरीर से भिन्न है', यह सन्देह है—निर्णय नहीं। इसी दृष्टि से ज्ञानी पुरुष का कथन है कि संशय ही भ्रम है। इस प्रकार इन्द्रजाल के समान देहादि को देखता हुआ भक्तश्रेष्ठ अर्जुन जीवन्मुक्त हो गया।

अपि चार्ज्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्य्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ १॥
ये त्वक्षरमनिर्द्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्व्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ २॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्व्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ३॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ४॥

श्रीकृष्ण भगवान् से अर्जुन ने प्रश्न किया है—भगवन्! कुछ लोग आपमें तन्मय होकर आपके व्यक्त स्वरूप की उपासना करते हैं; किन्तु अन्य लोग व्यक्त स्वरूप की ओर ध्यान न देकर आपके अव्यक्त स्वरूप की आराधना को ही उत्तम मानते हैं। अतः कृपा करके बतलाइए कि उक्त दोनों प्रकार के उपासकों में से किनको तो योग का कुशल ज्ञाता माना जाय और किनको साधारण?

भगवान् उत्तर देते हैं—अर्जुन! जो उपासक मुझमें तल्लीन होकर मेरे व्यक्त स्वरूप की अत्यन्त श्रद्धा के साथ उपासना करते हैं वे ही, मेरी दृष्टि में, योग के निपुण जानकार हैं; परन्तु जो लोग मेरे अविनाशी, सर्वव्यापक, इन्द्रियातीत, मन की पहुँच से परे, जन्म आदि विकारों से शून्य, माया-प्रपञ्च के अधिष्ठान, एकरस तथा अनिर्वचनीय अव्यक्त रूप का ध्यान करते हैं तथा जितेन्द्रिय हो समदर्शिता का भाव धारण करके प्राणिमात्र की कल्याण-कामना में दत्तचित्त रहते हैं वे मुझे प्राप्त तो अवश्य कर लेते हैं पर उनको अव्यक्त-आराधन के मार्ग की असंख्य कठिनताओं का सामना करना पड़ता है, अत: देहधारी जीवों (उपासकों) के लिये अव्यक्त-उपासना अत्यन्त कष्टसाध्य है।

अत्र क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्ता गतिर्हि दुःखं यथा तथा देहवद्भिरवाप्यत इति वदता भक्तवनेन दयानिधिना भक्तक्लेशासहिष्णुना भगवतैव तावदव्यक्तोपासनमिदानीमननुमतम्। तेषां के योगवित्तमास्ते मे युक्ततमा मता इति प्रश्नोत्तरयोरतिशायनतमपो निर्देशात्। एतादृशदयानिधिः स्वामी को नामान्योस्ति। यत्र जनो विमुह्यति। अहो बलवत्तरो मोहमहिमा। अमरतरुमनादृत्य किलोरुबूकाश्रयणम्। मानवैरित्यादि वक्तव्ये देहवद्भिरिति देहसंबन्धं दर्शयतो भगवतः पुनरयमभिप्राय उल्बणतरोऽवगम्यते।

अव्यक्त-उपासना करनेवाले भक्तों के क्लेशों की असह्यता का अनुभव कर भक्तसर्वस्व भगवान् ने ही अव्यक्त की उपासना को अनुपयुक्त माना है। अव्यक्त-उपासना की कष्टसाध्यता का उल्लेख करके अति सुलभ व्यक्त-आराधना की ओर सङ्केत करनेवाले भगवान् से बढ़कर भला दूसरा कौन दयानिधि स्वामी है, जिसके मोह में मनुष्य फँसे? किन्तु इतने पर भी अज्ञानी मनुष्य अपने वास्तविक उपकारक स्वामी कृष्ण भगवान् को भुलाकर, मोह के वश हो, अनेकों कष्ट भोगते हैं। यह सब मोह की प्रबल महिमा ही तो है! मनुष्य का यह काम कल्पतरु की उपेक्षा कर एरण्ड के पेड़ का आश्रय लेने के समान है। नारायण का आश्रय त्यागकर नर का आश्रय लेना मोह की चरम सीमा नहीं तो और क्या है? पिछले श्लोक में "मानवैः" न कहकर "देहवद्भिः" कहा है; अत: देह-सम्बन्ध को दिखलाने से भगवान् का अभिप्राय और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है।

अस्थिप्राणैः पूर्वपूरुषैरुपासितं तन्नाधुनातनानामन्नाधीनासूनामूनावगमानां मनीषाविषयीभवति। दुर्घटत्वात्। किंतर्हि। सर्व्वज्ञसर्व्वशक्तिसर्व्वनियन्त्रद्वितीयत्वाद्यसाधारणगुणगणमणिमहार्णवे परमानन्दघने मय्यधीश्वर एकान्तभक्तिरेव मदनुकम्पया देहान्ते देवः परं ब्रह्मतारकं व्याचष्ट इति श्रुतेः पात्रतां गमयति। न हि किञ्चिदितोऽन्यदस्तीति। एतदर्थमेवाक्षरादीन्यष्टौ विशेषणानि। तत्र अश्नुते व्याप्नोतीति अशूङ् व्याप्तौ सङ्घाते चेति धातोः अशेः सर इति सरप्रत्ययसाधितं रूपमक्षरमिति। अस्यैव विवरणं सर्वत्रगं व्यापकमिति। तदेवाह। कूटे मायाप्रपञ्चेऽधिष्ठानतया स्थितमिति। अत एवाव्यक्तं चक्षुराद्यविषयम्। अचिन्त्यं च मनसोऽप्यगोचरम्। अचलं जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीति षड्भावविकारशून्यम्। अत एव ध्रुवं नित्यमेकरूपम्। यस्मादेवं तस्मात्। अनिर्देश्यम्। इदं तदिति शृङ्गग्राहिकया निर्देष्टुमशक्यमित्यर्थः।

अस्थिगतप्राण सत्ययुगी लोगों में जो उपासना-विधि प्रचलित थी वही आजकल के, केवल अन्न पर निर्भर रहनेवाले, अल्पबुद्धि लोगों के लिये उपयोगी नहीं हो सकती; क्योंकि वह इस समय के लिये असाध्य है। इस दशा में प्रश्न उठता है कि ऐसी सरल रीति कौन सी है जिसका आश्रय लेकर उपासना की जाय। इस विषय में भगवान् कहते हैं कि मैं सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वनियामक और अद्वितीयत्व आदि असाधारण गुण-रूपी मणियों का महार्णव, परमानन्द-स्वरूप, चराचर का अधिष्ठाता और ईश्वर हूँ; अतः जो लोग मेरी भक्ति का आश्रय लेते हैं उनको मेरी दया से अनन्य भक्ति ही ब्रह्म-प्राप्ति का अधिकारी भी बना देती है। इस विषय में, "शरीर के छूटने पर परब्रह्मदेव इस संसार से पार कर देता है", ऐसी श्रुति भी है। उस ब्रह्म से भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है, सब ब्रह्म ही है।

एवञ्च यस्मिन् विषये स्वस्यानधिकार एव तत्र सद्भिर्नाभिनिवेष्टव्यमिति शिष्टानां विशिष्टो वाटोऽयमिति। टीकतामन्यत्। अन्ततो गत्वापरमिदमुदीर्यते। उपायान्तरसहस्राक्रान्तकोटिजन्मभिरपि लब्धुमशक्या मुक्तिर्लब्धोपलब्धीनां भगवद्भक्त्यैव सुखलभ्या। अस्मिन्नर्थे वोपदेवमधुसूदनादिभिरकुण्ठितमतिगणकण्ठीरवैर्मुक्ताफलभक्तिरसायनादावुन्नादितदिगन्तरालढक्काढाङ्कारझरझरझाङ्कारभेरीभाङ्कारपुरस्सरं भूरिचमत्कारं परा-

क्रान्तम्। अस्माभिरपि निबन्धोपक्रमे इतः पुरस्तात्परस्ताच्च प्रमाणवचांसि भूयांसि भासितानि। तस्मात् भगवद्भक्तिबीजैव राजति मुक्तिरिति सिद्धम्।

तात्पर्य यह है कि जिस विषय में अपना अधिकार ही नहीं उसमें सत्पुरुषों को आग्रह न करना चाहिए। यही शिष्ट पुरुषों का मार्ग है, अस्तु। अन्त में कहना यही है कि चाहे हजारों उपाय करो और करोड़ों जन्म लो किन्तु मुक्ति का मिलना असम्भव है। वह तो ज्ञानी पुरुषों को भगवद्भक्ति से ही सुलभ हो सकती है। इसी बात को भक्तिशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् श्री वोपदेव और मधुसूदन आदि ने, 'मुक्ताफल' एवं 'भक्तिरसायन' प्रभृति ग्रंथों में डङ्के की चोट के साथ, कहा है। हमने भी उक्त विषय को लेकर इस ग्रन्थ के आरम्भ में तथा आगे-पीछे भिन्न-भिन्न स्थलों पर बहुत से प्रमाणभूत वचन उद्धृत किये हैं, इसलिये सिद्ध हुआ कि मुक्ति का मुख्य साधन एकमात्र भगवद्भक्ति ही है।

सा च सालोक्यसामीप्यसारूप्यसार्ष्टिसायुज्यभेदात्पञ्चधा। तत्राद्यास्तिस्रः स्पष्टा एव। चतुर्थी तु श्रीश्रीवत्सकौस्तुभैः स्वातन्त्र्येण च विना भगवत्समानैश्वर्यम्। ऋषी गतौ धातोर्भावे क्तिन्। ऋष्टिः समृद्धौ खड्गे चेत्यभिधानम्। आ समन्तात् ऋष्टिः समृद्धिः आर्ष्टिः। उपसर्गादृति धातौ वृद्धिः। समानस्य च्छन्दसीत्यादिसूत्रे समानस्येति योगविभागात्सभावः। समाना आर्ष्टिः सार्ष्टिरिति व्युत्पत्तेः। पञ्चमी च भगवदैकीभावः। सह युज्यत इति सयुक्। सयुजो भावः सायुज्यमिति शाब्दबोधात्। तासु पुनरप्रमेयप्रणयानुसमयप्रणमदिन्दिरासीमन्तसन्ततिसन्दलितसिन्दूरसुन्दरदीप्तिलेखोपसंक्रान्तसहजसमृजीषलालिमातिरेकसमलंकृतलसदभिनवण्याकोशकञ्जकिञ्जल्कशिखाऽतिकोमलभगवत्पदकमलयुगलभजनानुवेलसञ्जायमानानन्दसान्द्रसुधामधुरिमास्वादविलुब्धमनसो मनस्विनो हि प्रथमामेव प्रथीयसीमभिप्रयन्तीति।

वह मुक्ति सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि तथा सायुज्य के भेद से पाँच प्रकार की है। उनमें से तीन तो स्पष्ट ही हैं; अर्थात् जिसमें जीव मुक्त होकर ब्रह्म के समीप पहुँच जाता है उसको 'सामीप्य', जिसमें अपने आपको ब्रह्म के समान देखता है उसे 'सालोक्य' और जिसमें जीव को ब्रह्म के स्वरूप की समता प्राप्त हो जाती है उसे सारूप्य कहते हैं। चौथी मुक्ति (सार्ष्टि) वह है जिसमें मुक्त जीव—लक्ष्मी भृगुलता कौस्तुभ मणि और

स्वतन्त्रता (सर्वशक्तिमत्ता) के अतिरिक्त—भगवान् के समान ही ऐश्वर्य की प्राप्ति कर लेता है। पाँचवीं मुक्ति सायुज्य है जिसमें पहुँचकर मुक्तिप्राप्त जीव भगवान् में मिल जाता है। वैसे तो सभी मुक्तियाँ श्रेष्ठ हैं परन्तु भगवद्भक्त विद्वान् 'सालोक्य' मुक्ति को ही सबसे अधिक महत्त्व देते हैं; क्योंकि उनको वैकुण्ठलोक में इसी के प्रताप से भगवान् के लक्ष्मी-लालित, कोमल-कान्त चरण-कमलों की सेवा से उत्पन्न आनन्द-सुधा की मनोहर माधुरी का आस्वादन करने का अलभ्य अवसर मिलता है। ऐसी दशा में वे इसके प्राप्त करने में ही अपने को कृतकृत्य समझते हों तो आश्चर्य ही क्या!

अतः श्रीशपदाम्भोजसमर्प्पितमनोधियः।
वयमेते निरातङ्कं नृत्यामो मधुपा इव॥

एकादशे हीयमाज्ञा—

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः।
महर्जनस्तपस्सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः॥ इति।

अहं गतिर्गम्यः प्राप्यो यस्मिन्स मद्गतिः। वैकुण्ठलोक इत्यर्थः। न चाण्डकटाहमनपहाय मोक्षो नामाऽस्ति। महरादिलोकगतानां व्यवस्था तु प्रागेव दर्शितेति किं बहुना। अहो अपूर्वोऽयं भगवद्भक्तिमहिमा त्रिजगति जेजीयते। एनं पुनरीषदपि कस्तु सङ्ख्यावानिह सङ्ख्यातुमर्हति। यतस्तारकाकुलाकुलाऽपि कलावतैवोद्योतवती दुर्बलशताचितापि शक्तिमतैव सिद्धिमती नानाविधानेकलोकसङ्कुलाऽपि दानशालिनैव पुरुषवती जूरिव धूरिव पूरिव भूरियं भूरिसूरिपूरिताऽपि सूरिमती भक्तिमतैव सती कृतार्थमात्मानं मनुते। तदाह श्रीवाराहम्प्रति पृथिवी स्वयमेव—

अतएव भगवद्भक्त कहते हैं कि हम लोग अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों को विष्णु भगवान् के चरण-कमलों में समर्पित करके उसी प्रकार निर्भय हो आनन्दित रहते हैं जिस प्रकार भौंरे फूलों का रस पीकर उनके चारों ओर मँडराते और गुञ्जारते हैं। श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में भगवान् की आज्ञा है कि योग, तप तथा न्यास का उत्तम फल महः, जनः, तपः और सत्य इन लोकों की प्राप्ति है; किन्तु भक्तियोग का फल मेरे लोक—वैकुण्ठलोक—की प्राप्ति है। इस ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त अन्य किसी लोक में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। रही महः आदि लोकों में जानेवाले जीवों की बात, सो

उसके सम्बन्ध में पहले ही कह चुके हैं इसलिये यहाँ उसका अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। अहा! संसार में भगवद्भक्ति की महिमा बड़ी विलक्षण है। किस विद्वान् में ऐसी शक्ति है जो भगवद्भक्ति की महिमा का पार पा सके। जिस प्रकार अनन्त तारा-मण्डल के रहने पर भी आकाश की शोभा चन्द्रमा से और असंख्य मनुष्यों से परिपूर्ण होने पर भी किसी नगरी की महिमा दानी पुरुष से ही बढ़ती है तथा जिस प्रकार भारी बोझ, सैकड़ों दुर्बल व्यक्तियों के रहते भी, बोझ ढोनेवाले बलिष्ठ पुरुष की याद दिलाता है उसी प्रकार यह पृथिवी—बड़े-बड़े पण्डितों से परिपूर्ण होने पर भी—अपने को भगवद्भक्त के द्वारा ही कृतकृत्य मानती है। इसी लिये वह श्री वाराह भगवान् से कहती है—

जनैस्त्वदीयैर्भगवन् यथाऽहं शोभे तथान्यैर्न तु भारभूतैः।
स एव विद्वान्स च वै तपस्वी स धार्म्मिको यस्य हृदि त्वमास्से॥ इति।

तस्मादिहातिदुःसहानेकविधबाधासम्बाधदुर्जनघूकघोरघूकारप्रतिभयाकारभवाटवीवलयपरिजाज्वल्यमानकलिप्रचण्डारण्यधूमध्वजधूमधूपायितमस्ति येषां मनस्तैरपास्तेतरविषयादरैः परमानन्दपदलाभाय निश्चितमतिभिर्भविकैर्भगवद्भक्तिरेव संसाधनीया। न तु स्थूलमतिविनोदेन जन्म निपातनीयम्। पुनरिह दुर्लभं खलु मानुष्यम्। विषयभोगस्तु प्राणिमात्रसाधारणः। पशुपक्षिकीटादयोऽपि स्वस्वजातिषु मिथुनीभूय रममाणा निजनिजोचितस्याहारस्य तृप्ता हृष्यन्तो दृश्यन्ते। भगवदाराधनाधिकारी तु मनुष्य एव। तथा च श्रुतिः—

भगवन्! आपके भक्तों के द्वारा मेरा महत्त्व जैसा बढ़ जाता है वैसा भारभूत (भक्तिहीन) पुरुषों से नहीं बढ़ता। जिसके हृदय में आप विद्यमान हैं वही पुरुष विद्वान्, तेजस्वी, तपस्वी और धार्मिक है। अतएव जिन लोगों का मन सांसारिक क्लेशों से पीड़ित और पापियों से परिपूर्ण भयङ्कर कलिकालरूपी दावानल की ज्वालाओं से सन्तप्त रहता है उनको वीतराग, भगवद्भक्तों के सत्सङ्ग द्वारा दृढ़ निश्चय और श्रद्धा के साथ भगवद्भक्ति की प्राप्ति के लिये पूर्ण रूप से प्रयत्न करना चाहिए। अज्ञानियों की कुसङ्गति में पड़कर इस मानव-जन्म को व्यर्थ गवाँ देना उचित नहीं; क्योंकि यह जन्म बड़ी कठिनता से मिलता है। विषय-भोग तो सभी प्राणी—पशु, पक्षी और कीट

आदि भी—करते और पेट भर लेते हैं किन्तु भगवद्भजन की योग्यता इनमें नहीं। भगवान् की भक्ति और उपासना का अधिकारी तो केवल मनुष्य है। जैसा कि श्रुति कहती है—

पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञातं वदति। विज्ञातं पश्यति। वेद श्वस्तनम्। वेद लोकालोकौ। मर्त्येनामृतमीप्सत्येवं सम्पन्नोऽथेतरेषां पशूनामशनापिपासे एवाभिविज्ञानम्। न विज्ञातं वदन्ति। न विज्ञातं पश्यन्ति। न विदुः श्वस्तनम्। न लोकालोकाविति। अत एव व्याहारि श्रीभगवच्चरणैः—

आत्मा की ज्योति का प्रकाश पूर्णतया मनुष्य के अन्तःकरण में ही होता है; क्योंकि समस्त प्राणियों में मनुष्य ही विवेकशील है। वह खूब सोच-समझकर बोलता तथा दूरदर्शी है, अतएव आगे घटित होनेवाली घटनाओं को पहले से जान लेने की इसमें शक्ति है। लोक-परलोक की समस्याओं के सुलझाने का अधिकारी तथा नश्वर देह के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का इच्छुक भी यही है। परन्तु पशु-पक्षी आदि में पूर्वोक्त विशेषताएँ देखने मे नहीं आतीं। वे तो खाना-पीना भर जानते हैं। उनके बोलने और देखने में कोई विशेषता नहीं जान पड़ती। कल क्या होनवाला है, इसकी भी उन्हें चिन्ता नहीं। लोक-परलोक का ज्ञान भी वे नहीं रखते। इसी लिये भगवान् कहते हैं—

पुरुषत्वे च मां धीराः साङ्ख्ययोगविशारदाः।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्व्वशक्त्युपबृंहितम्॥ इति।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥ इति च।

जीव मनुष्य-योनि में जन्म लेकर ही धीर होते और सांख्ययोग के गूढ़ रहस्यों को समझने की शक्ति पाते हैं; अतः मुझ सर्वशक्तिसम्पन्न का ज्ञान भी उन्हें इसी योनि में होता है। अन्य योनियों के प्राणियों में, ज्ञान-साधनों का अभाव होने के कारण, मेरा ज्ञान सम्भव नहीं। यदि मनुष्य इस अति दुर्लभ नरदेह-नौका, गुरु-रूपी कुशल कर्णधार और मेरी कृपा-रूप अनुकूल पवन को पाकर भी संसार-सागर के पार न जा सके तो उसे आत्मघाती ही समझना चाहिए; क्योंकि पहले तो मानवशरीर ही दुर्लभ है, उस पर सब साधनों का एकत्र मिल जाना तो और भी कठिन है।

नृदेहरूपं प्लवमुडुपं प्राप्येत्यध्याहर्तव्यम्। आत्महेत्यस्यैवं बोध्यम्। यद्यपि आत्मानं हन्तीत्यात्महेति व्युत्पत्त्या नित्यस्यात्मनो हननं न सङ्गच्छते। वदतो व्याघात इति न्यायात्। तथाप्यज्ञानस्थगितमतिभिरप्राप्यमाण आत्मा तेषां हत इव भवति। यथा कण्ठस्थितोऽपि मणिर्विस्मृतश्चेन्नष्ट इव भवति। तद्वत्।

'आत्महा' पद की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए—'आत्मा का जो घात करे वह आत्महा है।' इस प्रकार का अर्थ, नित्य आत्मा का हनन असंभव होने के कारण, नहीं बनता; क्योंकि इस कथन में "वदतो व्याघात" दोष आता है। जैसे किसी ने कहा कि मेरे मुख में जिह्वा नहीं है, तो यहाँ पर दोष दे सकते हैं कि यदि जिह्वा नहीं है तो बोलते कैसे हो ? बिना जिह्वा के बोलना सम्भव नहीं। वैसे ही जब आत्मा नित्य है, तो उसका घात किस प्रकार हो सकता है ? फलतः आत्महा कहना "वदतो व्याघात" दोष से ग्रस्त है। अतः 'आत्महा' का ठीक अर्थ है 'अज्ञानी' पुरुषों से अप्राप्य। अज्ञानी पुरुषों के लिये आत्मा उसी प्रकार मृत के सदृश है जिस प्रकार कण्ठस्थित मणि को स्मृति-दोष से नष्ट मान लिया जाता है; वस्तुतः बात ऐसी नहीं होती। वैसे ही आत्मा नित्य है, लेकिन अज्ञान से हत-तुल्य है।

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति गीयते ॥ इति स्मरणात्।

अत सातत्यगमने। सातिभ्यामनिन्मनिणाविति मनिण्। अततीत्यात्मा। अत्र वाजसनेयिनां मन्त्रोऽपि—

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ इति स्मृतिरपि—
ब्रह्म नास्तीति यो ब्रूते द्वेष्टि ब्रह्मविदं च यः।
अभूतब्रह्मवादी च त्रयस्ते ब्रह्मघातकाः ॥ इति।

अत्राह श्रीदत्तात्रेयः—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्व्वतः स्यात् ॥ इति।

"प्राणी जिस सर्वव्यापक, अविनाशी, चेतन शक्ति की सहायता से विषयों को भोगता तथा ग्रहण आदि क्रियाएँ करता है उसी को आत्मा कहते हैं।"

इस स्मृति-वचन के अनुसार अप्ल व्याप्तौ, आङ्पूर्वक डुदाञ् दाने, अद् भक्षणे, अत सातत्यगमने धातुओं से व्याप्ति, ग्रहण, भोगना, सदा रहना, इन अर्थों में "सातिभ्यामनिन्मनिणौ" इस सूत्र द्वारा, मनिण् प्रत्यय करने पर, आत्मा शब्द बना है। वाजसनेयि शाखावालों का मन्त्र भी इसी अर्थ को पुष्ट करता है—"जो लोग अपने ही पालन-पोषण में लगे रहते हैं वे असुर कहे जाते हैं। उनके लोकों का नाम असुर्यलोक है। वे लोक गहरे अँधेरे से ढके हुए हैं। आत्मघाती व्यक्ति मरने के पश्चात् पूर्वोक्त लोकों में जाते हैं।" स्मृति भी यही कहती है—ब्रह्म को न माननेवाला, ब्रह्मज्ञानी से द्वेष रखनेवाला और असत् ब्रह्म का प्रतिपादक ये तीनों ब्रह्मघाती हैं।

दत्तात्रेयजी ने भी कहा है कि बहुत जन्मों के अन्त में सुदुर्लभ, अनित्य, इस मनुष्य-जन्म को पाकर धीर पुरुष मोक्ष-प्राप्ति के लिये शीघ्र यत्न करें, जिससे मरणानन्तर अधःपतन न हो। ऐसा उपाय करना चाहिए जिसमें सब विषय निःश्रेयस के साधक बन जायँ।

तस्मात्कस्मादकस्मादसावसाधुरसावि रसायां कया किमिति मतया। यः किलास्यां कर्म्मभूमौ पौरुषं वपुरुपलभ्यापि भगवति भक्तिं न कुरुते तादृशं नरं शपन्त्य इव चतुर्थस्कन्धे देव्य ऊचुः—

तेषां दुरापं किं त्वन्यन्मर्त्यानां भगवत्पदम्।
भुवि लोलायुषो ये वै नैष्कर्म्यं साधयन्त्युत॥ १॥
स वञ्चितो बतात्मध्रुक् कृच्छ्रेण महता भुवि।
लब्ध्वाऽपवर्ग्यं मानुष्यं विषयेषु विषज्जते॥ २॥

भगवान्पद्यते गम्यतेऽनेनेति भगवत्पदम्। पद गतौ। करणे घञ्। संज्ञापूर्वकत्वान्न वृद्धिः। नैष्कर्म्यं निर्गतं कर्म यस्मात्तन्निष्कर्म। तदेव नैष्कर्म्यम्। चातुर्वर्ण्यादेराकृतिगणत्वात्स्वार्थे ष्यञ्। नस्तद्धित इति टिलोपः। भगवत्स्वरूपज्ञानमित्यर्थः। गीतासु—

जो व्यक्ति इस कर्मभूमि में मनुष्य-जन्म लेकर भी भगवद्भक्ति नहीं करता और सदा सांसारिक झमेलों में ही पड़ा रहता है उस भगवद्भक्तिविमुख सन्तान को माताएँ, पागलपन में आकर, न जाने क्यों पैदा कर देती हैं। इसी प्रकार के व्यक्तियों की निन्दा करने के लिये देवियाँ श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में

कहती हैं—जो लोग संसार में जन्म लेकर इस नश्वर शरीर के द्वारा नैष्कर्म्य (भगवान् के स्वरूप के ज्ञान) को न प्राप्त करके विषयों को भोगते-भोगते इस अति दुर्लभ, मुक्ति के साधन, मानव-जन्म को खो देते हैं वे बड़े भारी आत्म-घातक हैं; किन्तु जो पुण्यात्मा ऐसा न करके, जीवन की नश्वरता को ध्यान में रखकर, भगवत्स्वरूप के ज्ञान की प्राप्ति कर लेते हैं वे सब कुछ पा जाते हैं; उनके लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ १ ॥
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ २ ॥ इति।

तस्मात्सर्वथैव भगवति तत्परैर्भवितव्यम्। तत्रापि सपदि संसृति-विध्वंसिनी श्रीवासुदेवभक्तिरेकैव। नारायणीयादौ रूपान्तरोपासकानां हि संकर्षणानिरुद्धप्रद्युम्नक्रमेण वासुदेवे प्रवेशात् क्रममुक्तिः। श्रीवासुदेवोपासकानां तु साक्षादेव प्रवेशात्सद्यो मुक्तिरिति सिद्धान्तितमधिगत-निगमार्थतत्त्वबोधैः। तस्माद्वासुदेव एव सेवनीयो मनीषिभिः। यतो निरञ्जनः पुमानद्भुतं प्रतिजानीते। पार्थं प्रति गीतासु—

गीता में भी कहा है—मनुष्य अपनी आत्मा का उद्धार अपने आप ही करे, उसे अधःपतित कदापि न होने दे; क्योंकि मनुष्य की आत्मा ही उसका सच्चा बन्धु है और वही उसका प्रबल शत्रु भी है। मनुष्य जिस समय आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेता है उस समय विजित आत्मा उसका परम बन्धु हो जाती है किन्तु जो व्यक्ति उस पर विजय न प्राप्त करके स्वयं उसके वश में हो जाता है वह अपनी आत्मा को ही अपना भयङ्कर शत्रु बना लेता है। इसका निष्कर्ष यह है—लोगों को चाहिए कि जैसे भी हो वैसे भक्ति-परायण हों। उसमें भी अन्य देवताओं की भक्ति की अपेक्षा श्री वासुदेव भगवान् की भक्ति ही सर्व-श्रेष्ठ है। इसके द्वारा भक्तों को शीघ्र से शीघ्र जन्म-मरण के प्रवाह से मुक्त होकर मोक्ष-प्राप्ति (श्रीवासुदेव-स्वरूप में प्रवेश) का सुअवसर मिलता है। अन्य देवताओं के उपासकों को यह सुविधा प्राप्त नहीं हो सकती; क्योंकि उनको क्रमशः संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न के स्वरूपों में प्रवेश कर चुकने के पश्चात् तब कहीं श्री वासुदेव भगवान् के स्वरूप-प्रवेश का अवसर प्राप्त होता है, पहले

अथवा एकदम से नहीं। किन्तु श्री वासुदेव भगवान् के उपासक एकदम उनके स्वरूप में प्रविष्ट हो जाते हैं। नारायणीय आदि उपनिषदों और वेद-शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वानों का यही सुदृढ़ सिद्धान्त है। इसलिये श्रीवासुदेव भगवान् ही उपासनीय हैं, क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्र गीता में कहते हैं—

समोऽहं सर्व्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

श्रीरुक्मिणीम्प्रति हरिवंशे—

प्रिया त्वमसि मे सुभ्रूः सदा मम गृहेश्वरि।
प्रियास्त्वतीव भक्ता मे मदर्थोज्झितलौकिकाः॥

धर्म्मराजम्प्रति भविष्ये—

इहामुत्र च भोगेच्छां त्यक्त्वा ये मामुपाश्रिताः।
तेभ्यो ददामि राजेन्द्र भोगान्भक्तिं च मद्गतिम्॥

इत्यादि शतशः। अत एवास्मदीयश्रीकृष्णमहिमनि—

योगसिद्धिः कलौ नास्ति ज्ञानं भूरिश्रमैर्नृणाम्।
मुक्तिदैकैव यद्भक्तिः स मुकुन्दोऽस्मदाश्रयः॥ इति।

अत्र कुतर्को रजस्वलदृशां गलसंदंश एव। तथा च श्रुतिः—नैषा तर्केण मतिरापनेयेत्यादिः। एषा भगवद्विषया मतिः तर्केण अमुकदेवता सेविता आशु तुष्यति। एवमेवमर्थन्ददातीत्यादि तुच्छतरनश्वरकामलिप्सया आ ईषदपि न अपनेया। भगवतोऽन्यतो न चालनीयेत्यर्थः।

"हे अर्जुन! मैं प्राणिमात्र में समभाव से स्थित हूँ, इस कारण न तो कोई मेरा मित्र है और न शत्रु। जो लोग भक्तिभाव से मुझे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं उनमें वर्तमान हूँ।" उन्होंने 'हरिवंश' में रुक्मिणीजी से कहा है कि सुन्दरी! तुम यद्यपि मेरे घर की मालकिन और प्रिया हो फिर भी भक्त लोग मुझे तुमसे भी अधिक प्रिय हैं; क्योंकि वे मुझे प्राप्त करने के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं। भगवान् भविष्य-पुराण में धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं—"राजन्! जो लोग लौकिक और पारलौकिक भोगों की इच्छाओं की ओर से उदासीन होकर मेरी शरण में आते हैं उनको मैं समस्त भोग देता हूँ। इतना ही नहीं, प्रत्युत मेरी प्राप्ति के फल-स्वरूप भक्ति भी मेरी कृपा से उन्हें मिल जाती है।" मैंने भी अपने 'श्रीकृष्णमहिमा' नामक ग्रन्थ में दर्शाया है कि इस

कलिकाल में अधिक से अधिक परिश्रम करने पर भी योग-सिद्धि तथा ज्ञान-प्राप्ति प्राय: असम्भव है; अत: मैं तो उन मुकुन्द भगवान् की शरण लेता हूँ जिनकी भक्ति के प्रताप से मनुष्य को मुक्ति की प्राप्ति सहज ही हो जाती तथा अन्य सभी साधन व्यर्थ हो जाते हैं। भक्ति-मार्ग में कुतर्कों से सर्वथा दूर रहना चाहिए। जैसा कि श्रुति कहती है "आराधना करने पर अमुक देवता शीघ्र प्रसन्न हो जाता है, उसकी शरण में जाने से सब कामनाएँ पूरी हो जायँगी" ऐसे-ऐसे मिथ्या तर्कों का आश्रय लेकर भगवद्विषयक बुद्धि को भगवान् की ओर से हटाकर सांसारिक विषयों के चिन्तन में लगाना ठीक नहीं। मुक्तिदाता भगवान् के रहते अति तुच्छ, नश्वर, सांसारिक विषयों को कौन चाहेगा?

इत्येतादृशविशदादर्शसुदर्शनविमर्शसुखस्पर्शविरहितहृदयस्तु साक्षरोऽपि नासौ किल वेदमौलिसञ्जल्पतत्त्वलेशविद् उपाध्यायादधीती भवतीति सुधीभिराकलनीयम्। अत्र चित्रकेतुरुवाच—

विषयतृषो नरपशवो य उपासते विभूतीर्न परं त्वाम्।
तेषामाशिष ईश तदनु विनश्यन्ति यथा राजकुलम्॥ इति।

इसलिये जिसने निर्मल दर्पण के समान तत्त्वज्ञान-प्रसारक शास्त्रों को भली भाँति पढ़-पढ़ाकर भी उनके मनन द्वारा मिलनेवाले अलौकिक आनन्द का अनुभव नहीं किया और जिसके अन्त:करण में भगवद्भक्ति अङ्कुरित न हो तो वह विद्वान् होने पर भी महामूढ़ है और कहना चाहिए कि उसने किसी अनुभवी आचार्य के चरणों में बैठकर शिक्षा ही प्राप्त नहीं की। श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध (अ० १६, श्लोक ३८) में चित्रकेतु ने कहा है—भगवन्! जो लोग अज्ञानवश भोगों को भोगने के लिये—आपके अंश—इन्द्र प्रभृति देवताओं की आराधना में ही लगे रहते हैं, जिनका ध्यान आपकी ओर नहीं जाता उनके सभी भोग, इन्द्र आदि देवताओं के नष्ट होते ही उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार राजाओं से प्राप्त भोग्य पदार्थ, राजाओं के नष्ट होने पर, सेवकों से छिन जाते हैं।

औपगविमेधातिथी ऊचतु:—

वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते।
तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मति:॥ इति।

उपासते उपास्ते। वचनव्यत्यय आर्ष:। यद्वा उपवेशनाद्यनेकार्थक आस धातुर्भौवादिकोऽप्यस्ति। तस्येदमेकवचनं सम्यगेव। अत एव श्रुति:—

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। योऽन्यदेवतामुपासते स देवानां पशुः। अन्योऽसावन्योऽहं इत्युपासते। न स वेद। यथा पशुरिति। महर्षिगर्गाचार्य्या ऊचुः—

कृष्णमेकं परं ध्येयं जप्यमोङ्कारमेव हि।
पाराशर्य्यः स्वयं प्राह परां सिद्धिमभीप्सताम्॥ इति।

वाराहीभारभूतश्रुतिपथमथनक्षत्रियच्छद्मदैत्य-
व्रातव्याघातभातप्रसदुरुदुरितध्वान्तविध्वंसिधाम्ना।
येनात्रायि त्रिलोकी सुखमधिगमिता कीर्तकाली च कीर्त्या
सोऽयं पायादपायात्तरुणकरुणया द्वारकाधीश्वरो नः॥१॥
यः साङ्गोपाङ्गवेदाध्यवसितमहिमा तद्विदां ध्येय एको
दुर्व्र्यामोहव्यपोहज्वलदमलचिति स्वान्त उद्भासमानः।
भक्तिर्यस्मिन्प्रसक्ता भवदवजनुरुज्जासिनी सत्त्वभाजां
श्रीमान्प्रत्यक्षतां स स्वयमयमतां वासुदेवः सदा नः॥२॥

इति मङ्गलम्।

उद्धवजी और श्री मेधातिथि ने भी कहा है—जो व्यक्ति श्रीवासुदेव भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी देवता की उपासना करता है वह मन्दमति गङ्गा के तट पर रहकर भी प्यास बुझाने के लिये कुआँ खोदता है। श्रुति कहती है—भेद-बुद्धि रखकर ईश्वर की आराधना करनेवाला मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है। जो आदमी भेद-बुद्धि रखकर देवता की उपासना करता है वह देवताओं का पशु है। 'मैं भिन्न हूँ', 'मेरा उपास्य देव मुझसे भिन्न है' इस प्रकार भेद-भावना द्वारा देवताओं की आराधना करनेवाला व्यक्ति बिलकुल अज्ञानी तथा पशु के समान है। महर्षि गर्गाचार्य ने कहा है कि केवल ओङ्कार ही जप के और एकमात्र कृष्ण भगवान् ही ध्यान के योग्य हैं। उत्तम सिद्धि चाहनेवाले पुरुषों के कल्याण के लिये भगवान् वेदव्यास ने स्वयं भी ऐसा ही कहा है।

भूभारभूत वेद-विरोधी क्षत्रिय-नामधारी दुष्ट राजाओं का संहार करनेवाले और लोकनाशक पापों के विध्वंसक जिन श्री वासुदेव भगवान् ने अपने तेज द्वारा त्रिलोकी की रक्षा कर भक्त जनों को कल्याण का भागी बनाया वे कीर्त्तिशाली द्वारकाधीश्वर अपनी असीम कृपा के द्वारा विघ्न-बाधाओं से हमारी भी रक्षा करें। अङ्गों-उपाङ्गों समेत समस्त वेद जिनकी महिमा का वर्णन करते हैं,

जो वेदज्ञ लोगों के परम ध्येय हैं और जिनके स्वरूप का प्रकाश माया-मोह-रहित अन्तःकरण में होता है तथा सात्त्विक भक्तजन संसार-दावानल से अपनी रक्षा करने के लिये श्रद्धा एवं भक्ति के साथ जिनकी आराधना करते हैं वे श्री-वासुदेव भगवान्—यम-नियम आदि साधनों से हीन—हम लोगों को कृपा करके सर्वदा अपने पवित्र दर्शन देते रहें।

एवं स्थिते। यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूपो वैष्णवोऽष्टाङ्गयोग इदानीं प्रतिपाद्यते।

यं जातमात्रं कृतकृत्यरूपं समीक्ष्य पुत्रं भगवाननर्तीत्।
अचिन्त्यचिन्ताभिनिविष्टभावं तमानमामः शुकदेवसिद्धम्॥

कृतकृत्यरूपतां विवृणोति—अचिन्त्य इति। प्रयत्नं विना न चिन्तयितुं शक्यत इत्यचिन्त्यो भगवान् श्रीवासुदेवः। तस्य चिन्ता तदेकाग्रधारणा। तस्यामेवाभिनिविष्टो भाव आशयो यस्य तमिति। अथ योगस्वरूपमाह केशिध्वजः—

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥ इति।

आत्मनः प्रयत्नो यमनियमादिविषयः। तत्सापेक्षा तदधीना विशिष्टा सत्त्वमयी या मनसो गतिः वृत्तिः तस्याः ब्रह्मणि भगवत्येव संयोगः सम्यक् प्रवाहरूपासक्तिरित्यर्थः। तस्य हि परमानन्दास्पदत्वेन सर्वपुरुषार्थोत्तमोत्तमत्वात्परिश्रमाभावादथ बुद्धिमनसोः पुरुषप्रयत्नाधीनत्वाच्च पुरुषोत्तमतत्परपुरुषास्तमेनमिह यथारुचि सुतरां निषेवन्ते।

जिनके भीतर सिद्ध पुरुषों के स्वभावसिद्ध शुभ लक्षणों को देख भगवान् व्यासदेव मारे प्रसन्नता के नाचने लग गये थे उन भगवच्चिन्तन में तल्लीन, स्वतःसिद्धि-प्राप्त, श्रीशुकदेव को हमारा प्रणाम है। इतना कह चुकने के पश्चात् अब हम यहाँ पर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन भक्ति-योग के परम सहायक साधनों का निरूपण करना चाहते हैं। श्रीकेशिध्वज ने योग का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—जिस समय चित्त की वृत्ति, यम-नियम आदि की सहायता से, विशुद्ध सत्त्वगुण-मयी हो अन्य विषयों की ओर से हटकर एकमात्र भगवत्-स्वरूप में पूर्ण रूप से

आ लगती है उस समय वही (भगवान् के स्वरूप में धारावाहिक आसक्ति) योग कहलाने लगती है। वह आसक्ति परम आनन्दमय तथा समस्त पुरुषार्थों में उत्तम है अतः साधक को उसकी साधना में श्रम का किञ्चिन्मात्र अनुभव नहीं होता, बुद्धि और मन को भी कोई विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। मनुष्य प्रयत्न करे तो उसे प्राप्त कर सकता है। इन्हीं सब सुविधाओं को ध्यान में रखकर भगवद्भक्त पूर्वोक्त भक्ति-योग को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उपयोग में लाते हैं।

अतो भगवज्जनसर्व्वस्वरूपः सुगोपनीय एष योगः। अस्मिन्नर्थे सनत्सुजातानुशासनं प्रागवोचाम।

अतएव भगवद्भक्त-स्वरूप होने के कारण यह योग अत्यन्त गोपनीय है। इस विषय में महर्षि सनत्सुजातजी का वचन पहले दे चुके हैं।

तत्र यमनियमानाह केशिध्वजः—

ब्रह्मचर्य्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वमनो नयन्॥

स्मृतिः—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥ १॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥ २॥

परितो ग्रहणं परिग्रहः शरीरसुखसाधनसञ्चयस्तद्विपरीतोऽपरिग्रहः। इति पञ्च यमाः।

श्री केशिध्वज ही यम-नियम बतलाते हैं कि योगी अपने मन को साधना के अनुकूल बनाने के लिये ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह का सेवन निष्काम होकर करे। आगे स्मृति का वचन है कि स्मरण, कीर्तन, केलि, दर्शन, गुह्य भाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय और क्रिया की सिद्धि ये आठ प्रकार के मैथुन हैं। येही आठ प्रकार के लक्षण विपरीत होकर ब्रह्मचर्य के लक्षण हो जाते हैं। स्त्री आदि का स्मरण न करना, उनसे बातचीत न करना, खेल को त्याग देना, न देखना, गुप्त भाषण न करना, उनके विषय में सङ्कल्प को छोड़ देना, कोई निश्चय न करना, सम्भोगादि क्रिया की सिद्धि न होना, यह ब्रह्मचर्य का परिचय है।

सब तरफ से ग्रहण का नाम परिग्रह और शरीर के सुख के साधनों को इकट्ठा न करना अपरिग्रह है।—इन ब्रह्मचर्य आदि पाँचों को योगशास्त्र में यम कहते हैं।

स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान्।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन्प्रवणं मनः॥ इति।

साधक पुरुष स्वाध्याय (प्रतिदिन वेद-पाठ), पवित्रता, संतोष तथा तपश्चर्या आदि नियमों के द्वारा पवित्र तथा वशीभूत मन को सब ओर से हटाकर परब्रह्म में संलग्न कर दे।

'मृज्जलाभ्यां बहिः शौचं भावशुद्धिस्तथान्तर'मिति द्विविधं शौचम्। तपः स्वधर्म्मः पुनरेकादश्यादिभगवत्पर्व्वदिवसकार्तिकमार्ग्गमाघवैशाखाद्युपवासोऽपि। तप इति तपो ऽनानशनादिति श्रुतेः। परस्मिन्ब्रह्मणि मनः प्रवणं कुर्वीतेत्यनेनेश्वरप्रणिधानरूपं पञ्चमं नियमं दर्शयति। प्रणिधानं च लक्षितं प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गेति गौतमसूत्रे भाष्ये। तत्र प्रणिधानं सुस्मूर्षया मनसो धारणं सुस्मूर्षितलिङ्गचिन्तनं चेति। स्मर्तुमिच्छा सुस्मूर्षा। स्मृ चिन्तायामिति धातोः सनि कृते उदोष्ठ्यपूर्व्वस्येत्युत्वे रपरत्वे द्वित्वे शेषे षत्वे हलि चेति दीर्घे ततः स्त्रियामटापौ। सुस्मूर्षितं च तत एव निष्ठायामिटि भवति। तारकादित्वादितजपि सुवचः। इति पञ्च नियमाः।

पवित्रता दो प्रकार की है, एक बाह्य, दूसरी आन्तरिक। मिट्टी तथा जल के द्वारा शारीरिक पवित्रता और भावों की शुद्धि द्वारा आन्तरिक पवित्रता होती है। अपने-अपने वर्णाश्रम के उचित धर्म को तप कहते हैं। भगवान् के एकादशी आदि पर्वदिवसों में तथा कार्तिक, अगहन, माघ, वैशाख आदि महीनों में उपवास करना भी तप है। 'अनशन ही उत्तम तप है।' इस श्रुति के अनुसार उपवास को तप कहते हैं। 'अपने मन को परब्रह्म में लगाया करे', इस वचन से ईश्वर में प्रणिधान-रूप पाँचवाँ नियम दिखलाते हैं। प्रणिधान का लक्षण (प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गेत्यादि) गौतमधर्मसूत्र के भाष्य में कहा है। वहाँ ऐसा बताया गया है कि परमेश्वर के स्मरण की इच्छा से मन को धारण करना तथा स्मरण किये स्वरूप का चिन्तन करना प्रणिधान है।

आसनमाहुर्नारदशुकभगवन्तः—

शुचौ देशे समासीनो विजने जन्तुवर्ज्जिते।
शुचिः संयतचित्तश्च प्राङ्मुखो वाऽप्युदङ्मुखः॥ १॥

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ २ ॥

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम् ।
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥ ३ ॥

यद्यपि यथासुखमिति वदद्भिर्महाकारुणिकैर्मद्भक्तानां नास्ति स्वस्तिकादिनियम इति ध्वनितम् । इतरयोगिनां त्वासननियमं विना न सिद्धिरिति भावः । तथापि लिख्यते । तन्त्रशास्त्रे—

ऊरुजङ्घाऽन्तराधाय प्रपदे जानुमध्यगे ।
योगिनो यदवस्थानं स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥
दक्षिणोरुतले वामं पादं विन्यस्य निश्चलम् ।
वामोरौ दक्षिणं पादं पद्मासनमिति स्मृतम् ॥

इत्युभयोर्यथारुचि ।

हस्तावुत्सङ्ग आधायेति वासुदेवमुद्रां धृत्वेत्यर्थः । साऽपि तत्रैवोक्ता—

अञ्जल्यञ्जलिमुद्राया वासुदेवाह्व या हि सा ।
वासुदेवप्रिया ध्याने कैवल्यफलदा नृणाम् ॥ इति ।

स्वनासाग्रकृतेक्षण इति लयविक्षेपपरिहारायेत्याहुः । 'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः स्थिरचित्तः सुसँय्यत' इति योगशास्त्रात् । इत्यासनम् ।

यहाँ तक पाँचों नियमों का वर्णन करने के अनन्तर अब नारद और शुकदेवजी के मतानुसार आसन का स्वरूप दिखाते हैं—पवित्र, एकान्त और व्याघ्रादि हिंसक प्राणियों से रहित देश में बैठा हुआ स्वयं पवित्र, संयम-नियमवाला पूर्वमुख या उत्तरमुख हो आसन को जीते, एकान्तसेवी होकर प्राणायाम को सिद्ध करे; इन्द्रियों को जीते; आसन न बहुत ऊँचा हो न बहुत नीचा; नीचे कुश, ऊपर मृगचर्म, उस पर वस्त्र, इस प्रकार का आसन हो। बराबर आसन पर शरीर को सीधा रक्खे, अर्थात् किसी तरफ झुके नहीं। सुखपूर्वक बैठा हुआ गोद में हाथ रखकर अपनी नाक के अग्रभाग में दृष्टि लगावे। "यथासुखम्" इस कथन के द्वारा महाकारुणिक महर्षियों ने यह सूचित किया है कि भक्तों के लिये स्वस्तिक आदि आसनों का नियम नहीं है। किन्तु अन्य योगियों को आसन के नियम बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती, तो भी आसनों के सम्बन्ध में यहाँ पर

थोड़ा सा लिखा जाता है। दोनों जानुओं के बीच में पैर के दोनों अग्रभागों को ऊरु और जङ्घा के बीच में रखकर, योगियों के बैठने को तन्त्र-शास्त्र में 'स्वस्तिक' आसन कहते हैं। दक्षिण ऊरु के नीचे वाम पाद को और वाम ऊरु के तले दक्षिण पाद को निश्चल स्थापित करके जो आसन होता है, वह पद्मासन है। दोनों आसनों में विकल्प है। अपनी रुचि के अनुसार किसी को करे। 'गोद में हाथ रखकर' इस वाक्य का अर्थ वासुदेव-मुद्रा को धारण करना है, अर्थात् उत्सङ्ग में हाथों को रखना वासुदेव-मुद्रा है। वासुदेव-मुद्रा की चर्चा तन्त्र-शास्त्र में की गई है। अञ्जलि-मुद्रा ही वासुदेव-मुद्रा है। यह मुद्रा वासुदेव भगवान् को अत्यन्त प्रिय है; ध्यान के अवसर पर इसे धारण करने से कैवल्य-फल प्राप्त होता है। "स्वनासाग्रकृतेक्षण:" यह विशेषण लय और विक्षेप के परिहारार्थ है। अन्त:करण में तो लक्ष्य और बाहर दृष्टि हो, स्थिर-चित्त हो, अतिशय संयमवाला हो, यह योगशास्त्र से मालूम पड़ता है। ये आसन हुए।

भगवान् —

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्नियतेन्द्रियः॥ इति।

प्राणायामप्रकारं च श्रुतिराह—

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते॥ १॥
प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचकपूरककुम्भकाः।
उत्क्षिप्य वायुमाकाशं शून्यं कृत्वा निरात्मकम्।
शून्यभावेन युञ्जीत रेचकस्येति लक्षणम्॥ २॥
वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः।
एवं वायुर्गृहीतव्यः[1] पूरकस्येति लक्षणम्॥ ३॥
नोच्छ्वसेन्नैव निःश्वासेन्नैव गात्राणि चालयेत्।
एवन्तावन्नियुञ्जीत कुम्भकस्येति लक्षणम्॥ ४॥ इति।

साधक पुरुष जितेन्द्रिय होकर यथाक्रम—अथवा विपरीत क्रम से—पूरक, कुम्भक और रेचक इन तीनों प्राणायामों के द्वारा शनै:-शनै: प्राण-मार्ग का शोधन करे। प्राणायाम के अभ्यास में शीघ्रता करना ठीक नहीं। श्रुति कहती है कि व्याहृति,

(१) शिवशर्म्मणा स्वहस्तेनैवमेव रूपं लिखितम्।

प्रणव और शिर के साथ गायत्री को तीन बार—प्राण-वायु को रोककर—पढ़े। इसे प्राणायाम कहते हैं। ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। ॐ आपो ज्योतीरसोऽमृतम्। इस निष्कर्ष से प्राणायाम में सप्रणव सव्याहृति और शिरसहित गायत्री का स्वरूप सिद्ध हुआ। प्राण-वायु को बाहर निकालकर आकाश को निरात्मक-शून्य करके शून्य भाव से योग करे, यह रेचक का लक्षण है। मुख के द्वारा वायु को ऐसे ग्रहण करे जैसे कमलनाल से जल को खींचते हैं। यह पूरक का लक्षण है। न तो श्वास और निःश्वास को ले और न शरीर को हिलावे, इस तरह वायु को रोकना कुम्भक प्राणायाम कहलाता है।

अत्र इडामिडां निरुद्ध्य पिङ्गलया शनैर्वायोरापूरणं पूरकः। तामपि निरुद्ध्य पूरितस्य वायोर्यथाशक्ति सुषुम्णया धारणं कुम्भकः। शनकैर्वायोरिडया रेचनं रेचकः। पुनर्विपरीतक्रमेणापि भवति। विपर्ययेणापि शनैरित्युक्तेः। उभयथापि पर्यायेणाभ्यसनीयम्। अपि च कुम्भको द्विविधः। बाह्यवायुमापूर्य्य अन्तर्धारणमान्तरः। अन्तर्वायुं सर्व्वं निस्सार्य्य बहिरेव धारणं बाह्यः। सोऽयमान्तराद्गरीयानित्याहुः। प्रकृते तु प्रणवजपगर्भ एव प्राणायामः।

इड़ा नाड़ी को भली भाँति रोककर पिंगला के द्वारा धीरे-धीरे वायु को पूर्ण करना पूरक है और पिङ्गला को रोककर भरी हुई वायु को, शक्ति के अनुसार, सुषुम्णा से धारण करना कुम्भक है। रुद्ध वायु को धीरे धीरे इड़ा के द्वारा बाहर निकालना रेचक है। फिर इससे विपरीत क्रम से भी प्राणायाम होता है। प्राणायाम का अभ्यास अनुलोम और प्रतिलोम परिपाटी से करना चाहिए। कुम्भक दो प्रकार का है। बाह्य वायु को पूर्ण करके अन्तर्धारण करना आन्तर कुम्भक है। सम्पूर्ण अन्तर्वायु को बाहर निकालकर बाहर ही रोक देना बाह्य कुम्भक है। आन्तर कुम्भक की अपेक्षा बाह्य कुम्भक श्रेष्ठ है किन्तु इस स्थल पर ओङ्कार-गर्भित प्राणायाम ही लेना चाहिए, अन्य नहीं।

ओमित्येकाक्षरेण परं पुरुषं ध्यायीतेति श्रुतेः।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्॥ इति।

एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत्।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग्जितानिलः॥

इति च भगवान्। भवतीति शेषः।

जपन्प्रणवमन्तस्थं कृष्णं ध्यायेदनन्यधीः ॥ इति नारदः ।

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद् ब्रह्माक्षरं परम् ।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन् ॥

इति द्वैपायनिः ।

पूरककुम्भकरेचकेषु प्रत्येकमभ्यासदशायां दश दश प्रणवाः। पक्षे मासे वा जाते विंशतिस्त्रिंशदित्येवं दश दश यथाशक्ति वर्द्धनीयाः। शक्तिकार्श्ये तत्राग्रहो न कर्तव्यः। वायुकोपापत्तेः। ते च पूर्वं दीर्घास्ततः प्लुतास्ततः षड् दीर्घा इति पूर्वाचार्यसमाचारः। इति प्राणायामः।

'ॐ' इस एक अक्षर से परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करे। ॐ इस एक अक्षर-स्वरूप ब्रह्म का उच्चारण और स्मरण किया करे। इस प्रकार प्रणव-संयुक्त प्राणायाम ही करे। यदि साधक प्रातः, मध्याह्न और सायं दस दस बार प्राणायाम करे तो वह एक महीने से पूर्व ही वायु को वश में कर सकता है—ऐश्वर्यवान् हो सकता है। प्रणव का जप करते समय अनन्य-बुद्धि होकर हृदय में कृष्ण भगवान् का ध्यान करे। यह नारदजी का वचन है। शुद्ध, सबसे परे और अविनाशी ब्रह्म का हृदय में त्रिगुण अभ्यास करे। पूरक, कुम्भक तथा रेचक, इन तीनों में से प्रत्येक प्राणायाम करते समय ओङ्कार का दस-दस बार अभ्यास करने से त्रिगुण हो जाता है। त्रिवृत् ओङ्कार-रूपी ब्रह्म का अभ्यास मन से करे। प्राण-वायु को जीतकर ब्रह्मबीज प्रणव का स्मरण करता हुआ मन का नियमन करे। यह शुकदेवजी कहते हैं। पूरक, कुम्भक, रेचक, इन तीनों में से प्रत्येक की अभ्यास-दशा में दस-दस प्रणव हों। पक्ष और मास के बीतने पर बीस-बीस, तीस-तीस, इस प्रकार दस-दस प्राणायाम यथाशक्ति बढ़ाते रहना चाहिए। शक्ति न हो तो, प्राणायाम बढ़ाने के विषय में, आग्रह न करे; क्योंकि दुर्बल दशा में वायु के प्रकुपित होने का डर रहता है। प्राणायाम क्रमशः दीर्घ और प्लुत, तदनन्तर छः दीर्घ होते हैं। यह पूर्वाचार्यों का व्यवहार है। प्राणायाम की विधि यही है।

प्रत्याहारादिचतुष्टयमपि द्वैपायनिराह—

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धिसारथिः ॥ इति ।

अक्षान् इन्द्रियाणि। निश्चयात्मिका बुद्धिः सारथिर्यस्य। प्रत्याहारशैथिल्ये बाधकमाह सनत्कुमारः—

इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः ।
चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात् ॥ इति ।

बुद्धेः सकाशात् चेतनां विचारसामर्थ्यमित्यर्थः । इति प्रत्याहारः ।

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को शुकदेवजी इस प्रकार बतलाते हैं—साधक व्यक्ति निश्चयात्मक बुद्धि की सहायता से अपनी इन्द्रियों तथा मन को विषयों की ओर से पूर्णतया हटा ले ।

महर्षि सनत्कुमार ने प्रत्याहार-शिथिलता के दोषों का वर्णन करते हुए कहा है कि जो लोग इन्द्रियों द्वारा आनीत विषय का चिन्तन करते रहते हैं उनका मन विचार-शक्ति को बुद्धि के भीतर से उसी प्रकार निकाल फेंकता है जिस प्रकार कूड़ा-करकट पानी के बहाव को रोक देता है । अतः साधक को प्रत्याहार की साधना में तनिक भी शिथिलता न आने देनी चाहिए ।

मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया । इति ।

कर्मभिस्तद्वासनाभिराक्षिप्तं पुनराकृष्टम् । शुभार्थे भगवद्रूपे ।
इति धारणा ।

प्रत्याहार-साधना में इस प्रकार सतर्क रहने पर भी साधक का मन यदि विषयों की ओर पुनः आकृष्ट हो जाय तो सावधानी के साथ उसे उनकी तरफ से हटाकर भगवान् में लगा देना चाहिए । इसी को धारणा कहते हैं ।

'तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा' इति । एकमेकं पादाद्यवयवम् । अव्युच्छिन्नेन तत्तत्स्मृतिमता । यदा रजसा तमसा वा विचालितं चित्तं ध्यानं नेच्छति तदा सहायभूतया बुद्ध्या बालकमिव तदुपलालयन्धारणायामेव योजयेत् । एवं शनैरसौ दोषोऽपसर्पति । इति ध्यानम् ।

पूर्वोक्त रीति से धारणा के परिपक्व हो जाने पर भगवान् के कर चरण आदि एक-एक अङ्ग का क्रमशः चिन्तन करना चाहिए किन्तु ऐसा करते समय भगवान् के अन्य अङ्गों के स्मरण को मन से न हटने दे । जिस समय चित्त रजोगुण अथवा तमोगुण के प्रभाव से चञ्चल होकर ध्यान की ओर अग्रसर न हो उस समय उसे ध्यान की ओर न ले जाकर धारणा में ही लगा दे । ऐसा करने से चित्त का दोष (चञ्चलता) शनैः-शनैः दूर हो जाता है । इसी का नाम ध्यान है ।

मनो निर्विषयं युङ्क्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत्। इति।

निर्विषयं मनः युङ्क्त्वा समाधाय स्थिरीभूते मनसि स्फुरत्परमानन्दमात्रं कृत्वेत्यर्थः। इति समाधिः।

इस प्रकार विषय-चिन्तन की ओर से चित्त जब बिलकुल विमुख होकर स्थिर हो जाय तब उसे भगवान् के आनन्दमय स्वरूप में संलग्न कर दे और अन्य पदार्थों की स्मृति हृदय में तनिक भी न आने दे। यही समाधि है।

ततश्च पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदतीति। प्राप्योपशाम्यतीत्यर्थः। अत्र पादतलमारभ्य शिखापर्यन्तायां भगवन्मूर्तौ सामान्यतश्चित्तस्थिरीकरणं धारणा। शनैरन्यान्यङ्गानि विहाय स्मितविलसितवदनारविन्द एव चित्तनैश्चल्यं ध्यानम्। तत्र तेनैवानुभूयमानातिशयितसुखविशेषेण तदितरानुसन्धानशून्यत्वं समाधिरिति। अत्र पुनः स्वामिसमाजसम्राज एवमाहुः—

देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः।
अनुरक्तिः परे तत्त्वे नियमः परिकीर्तितः॥ १॥
सर्ववस्तुन्युदासीनभाव आसनमात्मनः।
जगत्सर्वमिदं मिथ्या प्रतीतिः प्राणसंयमः॥ २॥
चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारः स उच्यते।
चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा सा निगद्यते॥ ३॥
सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते।
ध्यानेन विस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिधीयते॥ ४॥ इति।

जिस अवस्था में पहुँचने पर चित्त में शाश्वत शान्ति की शीतल धारा प्रवाहित होने लगती है वही अवस्था भगवान् का परम पद है। धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों का फल (चित्त की स्थिरता) एक होने पर भी ये सब स्वरूपतः भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं। क्योंकि धारणा में भगवान् के—नख से लेकर शिख तक—सभी अङ्गों के चिन्तन द्वारा चित्त को स्थिर किया जाता है और ध्यान में भगवान् के मुसकानमय मनोहर मुख-कमल को ही अपना लक्ष्य-बिन्दु बनाकर चित्त में निश्चलता लाने का प्रयत्न करना पड़ता है। अब रही समाधि, सो वह उस चरमावस्था का नाम है जिसमें पदार्पण करने पर साधक ध्यानावस्था के

असीम एवं अलौकिक आनन्दातिरेक में निमग्न होकर उस आनन्द के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की सुध-बुध भुलाकर अपने आपे को भी मिटा देता है। अतः इन सब अवस्थाओं में स्थूल भेद न होने पर भी सूक्ष्म भेद अवश्य है। इस विषय में स्वामि-समाज के चक्रवर्ती लोग कहते हैं कि देह-इन्द्रियों के प्रति वैराग्य को यम, पर-तत्त्वों में अनुराग को नियम और सब वस्तुओं की ओर से उदासीनता का भाव रखने को आसन कहते हैं। इसी प्रकार, सम्पूर्ण जगत् मिथ्या हैं ऐसी प्रतीति प्राणायाम, बाहरी विषयों की ओर से चित्त को अन्तर्मुख करना प्रत्याहार और चित्त की निश्चलता धारणा है। वह मैं ज्ञान-रूप ही हूँ, इस प्रकार का चिन्तन ध्यान और ध्यान के द्वारा अन्य वस्तुओं को भुला देना समाधि है।

श्रीपराशरः—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमेव च।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ इति।

स्वाध्यायः प्रणवजपः। तपो हि स्वाध्याय इति श्रुतिप्रसिद्धः। योगो भगवच्चिन्तनम्। सम्पत्त्या समृद्ध्या। योगशास्त्रे चोक्तम्—

जपाच्छ्रान्तः पुनर्ध्यायेद्ध्यानाच्छ्रान्तः पुनर्जपेत्।
जपध्यानाभियोगेन पश्येदात्मानमात्मनि ॥ इति।

पराशरजी कहते हैं—साधक को ओङ्कार के जप की सहायता से भगवच्चिन्तन और उसकी सहायता से ओङ्कार-जप को प्राप्त करना चाहिए; क्योंकि इन दोनों की पूर्ण प्राप्ति होने पर ही परमात्मा के स्वरूप की ज्योति प्रकट होती है। 'तपो हि स्वाध्यायः' इस श्रुति के अनुसार ओङ्कार-जप का नाम स्वाध्याय है। योग-शास्त्र में भी कहा है कि साधक जप करते-करते थक जाय तो ध्यान करने लगे और ध्यान से ऊबने पर पुनः जप करने लगे। इस प्रकार जप और ध्यान के करते-करते अन्तःकरण में आत्म-दर्शन होने लगता है।

अप्याह योगभाष्यकारः—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते।
अप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम् ॥ इति।

अत्र योगेन योग इति योगाङ्गेषु पूर्वोत्तरभूमिकाग्रहणम्। पूर्वसिद्धौ नोत्तरसिद्धिरिति पूर्वभूमिकाजयेनोत्तरभूमिकाजये प्रयत्नः कर्तव्य इत्यर्थः। यथा यमानभ्यस्य नियमानभ्यस्येत्। तत आसनमित्येवम्। अत्रायं विमर्शः—

हिंसकस्य शौचं नाम किम्। मिथ्याभाषिणः सन्तोषः कीदृशः। स्तेयिनस्तपः कुतस्त्यम्। कामचारिणः स्वाध्यायोऽवकेशिकुजायते। परिग्रहलम्पटस्येश्वरस्मरणावकाश एव आकाशकुसुमायत इत्येवमग्रेऽप्युन्नेयम्। अत्र समत्तापि कपिलैरपि—

प्राणायामैर्देहदोषान्धारणाभिश्च किल्बिषान्।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्॥ इति।

वातश्लेष्मादीन् पातकहेतून् विषयसङ्गान् रागद्वेषादीनिति क्रमेण दोषादिचतुःपदपर्य्यायाः। अथ च—

योग-भाष्यकार कहते हैं कि योग को योग से जानना चाहिए। योग से ही योग-प्रवृत्ति होती है। जो व्यक्ति योग-साधन में सावधान है वह योग के प्रभाव से उत्तम लोक के आनन्द को चिरकाल तक भोगता है। इस श्लोक में "योगेन योगः" पद से योग की अङ्गभूत पूर्व और उत्तर भूमिकाएँ लेनी चाहिएँ; क्योंकि पूर्व भूमिका की असिद्धि होने पर उत्तर भूमिका की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये पूर्व भूमिका को जीतने के पश्चात् उत्तर भूमिका के विषय में प्रयत्न करे, अर्थात् यमों का अभ्यास कर लेने के बाद नियमों का अभ्यास करे, तदनन्तर आसन का; क्योंकि हिंसक प्रकृति के व्यक्तियों से पवित्रता की आशा रखना बिना नींव के मकान बनाना है। मिथ्यावादी को सन्तोष कहाँ? चोरों और डाकुओं का एकदम चोरी तथा डकैती छोड़कर बिलकुल सीधे-सादे सन्त-महात्मा बन जाना सर्वथा असम्भव है। भला वे तप की तेज तलवार से अपना सिर अपने ही हाथों क्यों काटने लगे? जिनका स्वेच्छाचार चरम सीमा को पहुँच चुका है उन लोगों को स्वाध्याय का पाठ पढ़ाना उस वृक्ष के समान है जिसमें समय आने पर भी फल-फूल नहीं लगते। लम्पटता की सजीव मूर्त्तियाँ हाथों में सुमरनी लेकर भगवद्भजन करने को दौड़ पड़ेंगी, ऐसा विश्वास करना आकाश में फूल लगाना है। यही बात अन्यान्य यम-नियमों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। अतएव यमों के पश्चात् ही नियमों का अभ्यास करे। इस विषय में कपिलदेवजी ने कहा है कि साधक पुरुष प्राणायामों से शारीरिक (वात-पित्त आदि), धारणाओं द्वारा किल्विष (पातकों के कारण), प्रत्याहारों की सहायता से संसर्ग (विषयासक्ति) तथा ध्यान का आश्रय लेकर अनीश्वर गुणों (राग-द्वेष आदि) का नाश करे।

प्राणायामेन पवनैः प्रत्याहारेण चेन्द्रियैः ।
वशीकृतैस्ततः कुर्यात्स्थिरं चेतः शुभाश्रये ॥

धारणामभ्यस्येदित्युक्ते सति खाण्डिक्य उवाच—

कथ्यतां मे महाभाग चेतसो यः शुभाश्रयः ।
यदाधारमशेषं तद्धन्ति दोषसमुद्भवम् ॥

यदाधारं तत् चेतो दोषफलानामन्तरायाणामुद्भवं हन्ति स आश्रयः कथ्यतामिति पृष्टस्तमेवाश्रयं दिदर्शयिषुः केशिध्वज उवाच—

आश्रयश्चेतसो ब्रह्म तच्च द्वेधा स्वभावतः ।
भूप मूर्तममूर्तं च परं चापरमेव च ॥ इति ।

भूप भोः खाण्डिक्य चेतस आश्रयो ब्रह्मैव । तच्च मन्दमध्योत्तमाधिकारिणां यथायोगं मूर्तामूर्तपरापरभेदेन चतुर्द्धाऽवस्थितं क्रमेण धारणाविषय इति दर्शयितुं ब्रह्मणश्चातुर्विध्यमाह—तच्च ब्रह्म मूर्तममूर्तं चेति द्विधा । स्वभावतः स्वेच्छात एव । मूर्तं मूर्तिमत् । अमूर्तं तद्रहितम् । तत्पुनः प्रत्येकं परं चापरं चेति द्विधा । तत्र परममूर्तं निर्गुणम्ब्रह्म । अपरममूर्तं श्रीकृष्णाख्यं षड्गुणैश्वर्यरूपम् । परं मूर्तं पद्मनाभादिलीलाविग्रहरूपम् । अपरं मूर्तं हिरण्यगर्भादिविश्वरूपम् । अत्रार्थे श्रुतिराथर्वणिकी—द्वे विद्ये वेदितव्ये । परा चैवापरा चेति । तथा चात्र उत्तरोत्तरभूमिकासिद्धौ पूर्वपूर्वभूमिकासुखं सिद्ध्यति । अतः सूक्ष्मतरपरमस्वरूपप्राप्त्युपायत्वात्प्रथमं भगवतः स्थूलरूपे मनः सन्ध्यार्यमिति तत्रोत्तरत्र विस्तरः । एतदेव ऋभुरपि निदाघमाह—

एकमेवमिदं विद्धि न भेदि सकलं जगत् ।
वासुदेवाभिधेयस्य स्वरूपं परमात्मनः ॥

न भेदि भेदवन्न भवतीत्यर्थः । भगवदभेदेन विश्वरूपे मनो निवेश्य ततः सुखेन स्वरूपध्यानानन्दस्वाराज्यदीक्षितो भवितासि हे निदाघेति ।

प्राणायाम और प्रत्याहार का अभ्यास करते-करते पूर्वोक्त सभी दोष दूर होने पर इन्द्रियाँ विषयों की तरफ से हटकर जब वश में हो जायँ तब निश्चल चित्त को शुभ कर्मों में स्थिर करके धारणा का अभ्यास करे। ऐसा कहने पर खाण्डिक्य कहते हैं कि महाभाग! धारणा और चित्त की स्थिरता के

परिपक्व हो जाने पर चित्त का वह शुभ आश्रय बतलाइए जिसके द्वारा दोषों के फल—समस्त अन्तरायों—का नाश हो जाता है। इस प्रकार पूछे जाने पर चित्त के आश्रय का स्वरूप बतलाने के अभिप्राय से श्री केशिध्वजजी उत्तर देते हैं—खाण्डिक्यजी! उक्त अवस्था में चित्त का आश्रय ब्रह्म होता है, अतः उसको ब्रह्म में लगाना चाहिए। चित्त का आश्रय-रूप ब्रह्म भी मन्द, मध्यम तथा उत्तम आदि अधिकारियों की धारणा का विषय होने से मूर्त, अमूर्त, पर-मूर्त एवं पर-अमूर्त इन भेदों द्वारा चार प्रकार का है। ये सब भेद ब्रह्म की इच्छा से हो जाते हैं, किसी अन्य के करने पर नहीं। मूर्त और अमूर्त का मतलब शरीरधारी एवं शरीररहित है। 'पर-अमूर्त' निर्गुण ब्रह्म और 'अपर-अमूर्त' षड्गुणों के अधीश्वर श्रीकृष्ण भगवान् हैं। इसी प्रकार 'पर-मूर्त' पद्म-नाभ आदि लीला से स्वरूपधारी हैं। 'अपर-मूर्त' सर्वजगत्‌रूप हिरण्यगर्भादि कहा जाता है। इसका प्रमाण अथर्ववेद की श्रुति है—परा तथा अपरा इन दोनों विद्याओं को जानना चाहिए। उत्तरोत्तर भूमिका की सिद्धि होने पर ही पूर्व-पूर्व भूमिका के सुख का अनुभव होता है, अतः अतिसूक्ष्म ब्रह्म के स्वरूप की प्राप्ति का साधन होने से पहले-पहल भगवान् के स्थूल रूप में मन को लगाना चाहिए। इसका विशेष विस्तार अथर्ववेद के उत्तर ग्रन्थ में किया गया है। इसी प्रकार निदाघ के प्रति ऋभु ने कहा है—निदाघ! यह सम्पूर्ण जगत् श्री वासुदेव भगवान् का ही स्वरूप है, भिन्न नहीं। अतएव तुम जगत् के साथ भगवान् की अभिन्नता का भली भाँति अनुभव कर लोगे तो सहज ही में भगवत्स्वरूप के ध्यान का आनन्दरूप स्वाराज्य प्राप्त कर लोगे।

चतुर्थस्कन्धे—

सर्वं विश्वं भगवत्येकीकृत्य प्राणं निरुद्ध्य मधुवने भगवन्तमन्तर्ध्यायति ध्रुवे सति सकललोकश्वासनिरोधविधुरा विबुधाः श्रीधरं शरणं ययुरित्युपवर्णितम्।

वेदान्तभाष्यकृता चोक्तम्। किं बहुना कण्वोऽपि विश्वकर्मेत्युपास्त इति। कण्वोऽपीत्यपिशब्दस्तस्य ज्ञानातिशयेन महत्तमत्वद्योतनाय। विश्वं कर्म यस्येति व्युत्पत्त्या परमेश्वरेण विष्णुना कृतमिदं विश्वं विष्णोर्व्यतिरिक्तं न भवतीति कार्यकारणात्मकमेकीकृत्यैवोपास्त इति भाष्यार्थः।

दयापीयूषपारावारगिरोऽपि—

यो मां पश्यति सर्व्वत्र सर्व्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ १ ॥
सर्व्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्व्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ २ ॥

इतीयमेव वैराजधारणा नाम । सा च—'स्थूले भगवतो रूपे मनस्सन्धारयेद्धिये'ति प्रक्रम्य 'पातालमेतस्य हि पादमूलमि'त्यादिभिर्मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चिदि'त्यन्तैस्त्रयोदशभिः श्लोकैर्द्वितीयस्कन्धे प्रथमाध्याये दर्शिता । तस्याश्चावधिस्तत्रैव द्वितीयाध्याये स्वरूपध्यानानन्तरमुक्तः ।

सम्पूर्ण जगत् को भगवान् के साथ एक करके, प्राण को रोककर, मधुवन में जब ध्रुवजी ने हृदय में भगवान् का ध्यान किया तब सकल लोक का श्वास रुक जाने से दुखी देवता लक्ष्मीपति भगवान् की शरण में गये, यह भागवत के चौथे स्कन्ध में वर्णित है । वेदान्त के भाष्यकार ने भी कहा है—अधिक क्या, कण्व ऋषि भी 'यह समस्त विश्व भगवान् के द्वारा रचित होने से उनसे पृथक् नहीं किन्तु कार्य-कारण-रूप से अभिन्न ही है' इस प्रकार जगत् और भगवान् में अभेद-बुद्धि रखकर भगवान् की उपासना करते हैं । इसलिये उपासक जगत् तथा जगदीश्वर को अभिन्न मानकर ही उपासना करे ।

स्वयं भगवान् भी ऐसा ही कहते हैं—अर्जुन ! जो उपासक मुझे सब जगह और समस्त जड़-चेतन पदार्थों को मुझमें देखता है उसके लिये मैं और मेरे लिये वह कदापि नष्ट नहीं होता । जो योगी मुझे अन्तर्यामी समझता तथा जगत् के सभी पदार्थों एवं मुझमें एकता का अनुभव करता है वह संसार में रहकर भी वस्तुतः मुझमें ही स्थित है । इसी धारणा का नाम विराट्-सम्बन्धी धारणा है । इसका प्रकार 'मुमुक्षु पुरुष अपने मन को बुद्धि की सहायता से भगवान् के स्थूल रूप में लगावे', 'पाताल इस ब्रह्म का चरण-मूल है', 'संसार के सम्पूर्ण पदार्थ तथा ब्रह्म एकरूप है' इस आशय के बोधक वचनों में (श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के प्रथमाध्यायस्थ तेरह श्लोकों में) दिखाया गया है । वहीं, श्रीमद्भागवत के द्वितीय अध्याय में, स्वरूप-ध्यान के अनन्तर ही इस विराट् धारणा की अवधि इस प्रकार बतलाई है—

यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः ।
तावत्स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ॥ इति ।

अनेन कर्म्माणि भक्तियोगपर्यन्तमेवेत्युक्तमिति श्रीधरः। भगवति भक्तिदार्ढ्यं विना कर्मत्यागी तु प्रत्यवायपात्रम्। भक्तिसिद्धये तन्निवेदितनिष्कामस्वधर्म्माचरणेनैव भगवतः सेवनीयत्वात्। यद्वै मनुरवदत्तद्भेषजमिति वेदविश्रुतानुभावो मनुरत्राह—

'सम्पूर्ण जगत् के अधिपति, पर-अवर-स्वरूप, सर्वद्रष्टा भगवान् के सूक्ष्म स्वरूप के चिन्तन की योग्यता जब तक प्राप्त न हो तब तक उपासक जप-तप आदि क्रियाओं के अनन्तर मन-वाणी से शुद्ध होकर भगवान् के स्थूल रूप का स्मरण करे' इस कथन से श्रीधर स्वामी के मतानुसार भी यही सिद्ध होता है कि जब तक भक्ति-योग की सिद्धि न हो तब तक कर्मानुष्ठान अवश्य करना चाहिए। अतः भक्ति-योग में दृढ़ता प्राप्त किये बिना ही जो व्यक्ति कर्मों को छोड़ बैठता है उसे बड़ा भारी पाप लगता है। भक्ति की सिद्धि के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि साधक निष्काम रहकर भगवदर्पण-बुद्धि से स्वधर्माचरण करता रहे। उस समय उसकी यही भगवत्सेवा है। वेद-विश्रुत-कीर्त्ति महर्षि मनु ने भी कहा है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥ इति।

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समा इति वेद एवाह। यस्तु कश्चिद्विपरीतबुद्धित्वात् स्वजातिकुलधर्मं परित्यज्य नानाजातीयशिष्यगणमुण्डनाडम्बरेण तदीयमपि धर्मं विप्लाव्य जगति मिथ्यासिद्धतां प्रग[1]टयन्नज्ञानोपहतकृपणजनान् वञ्चयति वेदशास्त्रविरुद्धाचारः स तु वेदमतसमाश्रितैः साम्प्रदायिकैरुपेक्षणीयः। 'स्वधर्म्मत्यागिनं प्राहुर्मुनयो ब्रह्मघातिनमि'त्यादि तत्र तत्र स्मृतिकारवचनशतानां जागरूकत्वात्।

स्वधर्म्मचर्य्यया विष्णौ रतं शुद्धं मनो विदुः।
रागद्वेषादिनिष्ठं चेदशुद्धं मन उच्यते॥ १॥
शुद्धं हि श्रेयसां हेतुरन्यदश्रेयसामिति।
वेदवेदान्ततत्त्वज्ञा जगदुः पूर्व्वकोविदाः॥ २॥
मनः शुद्धं यदा पुंसां तदा व्यर्थस्तपःश्रमः।
मनोऽशुद्धं यदा पुंसां तदा व्यर्थस्तपःश्रमः॥ इति।

---

(१) शि० श० स्व० ह० एवमेव रू० लि०।

मनुष्य वर्णाश्रमोचित तथा आचार-प्राप्त व्यावहारिक धर्मों के आचरण द्वारा ही परमपुरुष भगवान् विष्णु को प्रसन्न कर सकता है; अन्य कोई ऐसा मार्ग नहीं जिसका आश्रय लेकर भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त की जा सके। 'जो मनुष्य संसार में अपनी आयु के सौ वर्ष सुखपूर्वक बिताना चाहे उसे चाहिए कि लगातार कर्म करता रहे' यह वेदवचन भी कर्मों को आवश्यक बतला रहा है। इसलिये कर्मों का त्यागना ठीक नहीं। इतने पर भी जो व्यक्ति अज्ञानवश जाति और कुल के धर्मों का परित्याग करके बिना समझे-बूझे सभी जाति के लोगों को मूँड़ने का आडम्बर रचते हैं वे उनको भी धर्मभ्रष्ट करते और झूठमूठ सिद्ध बन जाते हैं। वे लोग तरह-तरह से पाखण्ड रचकर भोले-भाले प्राणियों को ठगा करते हैं, अतएव वेदों तथा शास्त्रों पर श्रद्धा रखनेवाले पुरुषों को चाहिए कि इस प्रकार के वेद-शास्त्र-विरोधी आचारभ्रष्ट व्यक्तियों से दूर रहें। *क्योंकि ऋषि-मुनियों के कथनानुसार स्वधर्मत्यागी ही ब्रह्म-विरोधी* हैं; इनसे दूर रहने में ही कल्याण है। ऐसे लोगों के साथ सम्बन्ध रखने से चित्त पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि वेद-वेदान्त के तत्त्वज्ञाता पूर्व-विद्वानों ने कहा है कि यदि पुरुष का मन शुद्ध है, तो तप में परिश्रम करना व्यर्थ है। *किन्तु जब मन ही अशुद्ध है, तो तप में परिश्रम करने से क्या लाभ?*

अथ प्रस्तुतमुच्यते। सिद्धायां स्वरूपधारणायां वैराजधारणया कृत्यं नास्ति। आह च केशिध्वजः—

व्रजतस्तिष्ठतोऽन्यद्वा स्वेच्छया कर्म्म कुर्व्वतः।
नापयाति यदा चित्तात् सिद्धां मन्येत तां तदा॥

सदभ्यासप्रकर्षादन्तः स्फुरन्ती भगवन्मूर्तिः व्रजनादि यत्किञ्चित्कुर्व्वतोऽपि यदा चित्तात् नापयाति नान्तर्धत्ते किन्तु प्रयत्नमनपेक्ष्य स्फुरत्येव तदा तां स्वरूपधारणां सिद्धां मन्येत जानीयात्, न च पुनर्विच्छेदशङ्का। असकृन्निपीतसुस्फीततादृगभीप्सिततमसुखरसतया बाह्यस्पर्शविरक्तमनसः कृतकृत्यस्य तस्य तत्र प्रमादासम्भवादिति भावः। तस्य तत्सुखं स एव वेत्ति। नेतरः कश्चिदनिर्वचनीयत्त्वादित्येतदर्थिके श्रुतिस्मृती निर्विकल्प-समाधावुदाहार्य्ये।

इतना कहने के अनन्तर हम फिर अपने विषय पर आते हैं। यदि स्वरूप-धारणा में सफलता मिल जाय तो वैराज-धारणा की कोई आवश्यकता नहीं रह

जाती। श्री केशिध्वज ने इस विषय में कहा है कि जिस समय चलते-फिरते, उठते-बैठते एवं काम-काज करते रहने पर भी मन अपने इष्टदेव के ध्यान से न डिगे उस समय साधक को स्वरूप-धारणा परिपक्व मान लेनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जब एक बार धारणा में परिपक्वता आ जाती है तब उपासक चाहे कुछ भी कार्य क्यों न करता रहे, परन्तु उसके सामने से भगवान् की ज्योतिर्मयी मूर्त्ति कभी ओझल नहीं होती—बिना किसी प्रकार का प्रयत्न किये ही वह सर्वदा दृष्टि के सामने बनी रहती है। इस दशा में स्वरूप-धारणा के भङ्ग होने का भी भय नहीं रह जाता; क्योंकि अभीष्ट भगवत्स्वरूप के अलौकिक आनन्द की माधुरी का स्वाद लेते-लेते साधक अपने को कृतकृत्य समझकर बाह्य विषयों को बिलकुल भूल जाता है। फलतः उससे स्वरूप-धारणा में प्रमाद नहीं हो सकता। स्वरूप-धारणा के अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव उपासक ही कर सकता है। वह किसी दूसरे के अनुभव की वस्तु नहीं। इस विषय की श्रुति और स्मृति के वचन निर्विकल्पक समाधि का निरूपण करते समय दिये जा चुके हैं।

स्वरूपध्यानं च ऋभुवशिष्ठकुमारनारदसारस्वतपराशरशाण्डिल्यादिभिर्भगवत्तत्त्वानुभवदीक्षागुरुभिर्द्विविधमुक्तम्। सविशेषणं निर्विशेषणं चेति। अम्बराभरणायुधवाहनादिभिः सहितं सविशेषणं रहितं निर्व्विशेषणमिति। तत्र सविशेषणध्यानं समनन्तरमेव वक्ष्यते। निर्विशेषणध्यानं तु तदुत्तरं वक्तव्यमपि प्रसङ्गादिहैवोच्यते। विज्ञातव्यं तु तदुत्तरमेव। सविशेषणायां भगवन्मूर्तौ सम्यक् स्थिरतां गतं चित्तं तत आकृष्य शनैः स्वयैव दीप्त्या भासमानायां व्योमशब्दवाच्यायां सर्व्वकारणस्वरूपायां भगवन्मूर्तौ चिरं सन्धार्यम्। तत्र च सुस्थिरं जातं चेतः शनैस्तत आकृष्य चैतन्यघनविशुद्धात्मनि श्रीमति वासुदेवशब्दवाच्ये भगवति सुचिरं समारूढः सन्महति ह्रदे निमग्न इव नात्मानमन्यत्किञ्चिद्वा स्मरति विद्वान्। प्रस्फुरदपरिमितपरमानन्दरूपमात्राकारत्वात्। तदेतदेवोपदिष्टमेकादशे—

भगवत्तत्त्वपारदर्शी ऋभु, वशिष्ठ, कुमार, नारद, सारस्वत, पराशर, शाण्डिल्य आदि महर्षियों ने स्वरूप-ध्यान दो प्रकार का माना है। एक सविशेषण, दूसरा निर्विशेषण। वस्त्र, आभूषण, आयुध और वाहन प्रभृति के साथ भगवत्स्वरूप के ध्यान को सविशेषण और इन सबसे रहित को निर्विशेषण

कहते हैं। सविशेषण ध्यान का स्वरूप आगे चलकर दिखलाया जायगा। यद्यपि क्रमानुसार सविशेषण ध्यान का स्वरूप बतलाकर निर्विशेषण ध्यान का वर्णन करना चाहिए तथापि प्रसङ्ग-सङ्गति को ध्यान में रखकर निर्विशेषण ध्यान का निरूपण ही यहाँ पहले किया जाता है। भगवान की वस्त्राभूषणादि-विभूषित मूर्ति का ध्यान करते-करते चित्त जब स्थिर हो जाय तब साधक उसे उस ओर से धीरे-धीरे हटाकर कुछ समय के लिये भगवान् की स्वयंप्रकाशमयी सर्वकारणस्वरूप व्योम नामक मूर्ति में लगा दे। ऐसा करते-करते चित्त अत्यन्त स्थिर हो जाता है। जब चित्त की स्थिरता उक्त दशा में जा पहुँचे तब साधक उसको भगवान् की पूर्वोक्त व्योममूर्ति की ओर से भी धीरे-धीरे अलग करके चेतनस्वरूप, तेजोमय, विशुद्ध-आत्मरूप भगवान् श्रीवासुदेव का ध्यान करने लगे। इस अवस्था में पहुँचने पर उपासक सोचने-समझने की पूर्ण शक्ति रहते हुए भी, तालाब में डुबकी मारकर बैठे हुए व्यक्ति के समान, बाह्य जगत् को बिलकुल भूल जाता है। इतना ही क्यों, उस समय भगवत्स्वरूप के असीम आनन्द के अनुभव में निमग्न हो जाने से उसे अपनी सुध-बुध भी नहीं रह जाती। इसी का स्पष्टीकरण श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में इस प्रकार किया गया है—

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्व्वतः॥ १॥
तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्॥ २॥
तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ ३॥
एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि।
विचष्टे मयि सर्व्वात्मञ्ज्योतिर्ज्ज्योतिषि सँय्युतम्॥ ४॥

ज्योतिरिव इति लुप्तोपमालङ्कारः।

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः।
सँय्यास्यत्याशु निर्व्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः॥

द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः अधिभूताधिदैवाध्यात्मरूपः दृश्यद्रष्टृदर्शनरूपो वा भ्रमः। निर्वाणं शान्तिमित्यर्थः। इतीममेव धर्म्ममेघसमाधिमाहुः। एतस्मि-

अभ्यस्यमाने क्षणमात्रोऽपि कालः शताश्वमेधफलभूतं धर्म्मं मेघ इवाभिवर्षति। क्षणमेकं क्रतुशतस्यापीति श्रुतेः। इतीदमष्टाङ्गभागवतयोगनिरूपणम्।

भगवान् कहते हैं—मन और बुद्धि की सहायता से इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर उपासक को अपना मन मेरे स्वरूप के ध्यान में लगा देना चाहिए। इधर-उधर फैले हुए चित्त का आकर्षण करके एक स्थान में धारण करे, और कुछ चिन्तन न करे। इसके पश्चात् मेरे सुन्दर विहँसते हुए मुख की बार-बार भावना करे। उस स्थान में जब चित्त स्थिरता प्राप्त कर ले तब वहाँ से खींचकर व्योमरूप ब्रह्म में धारण करे। कुछ काल के बाद उस व्योम (आकाश) रूप ब्रह्म को भी छोड़कर एकमात्र मुझमें चित्त लगा ले; और कुछ भी चिन्तन न करे। इस प्रकार सावधानमति पुरुष मुझ आत्मा को ही अपने में देखता है। "ज्योतिर्ज्योतिषि सँय्युतम्" इस स्थान में ज्योति के समान अर्थ में ज्योतिः शब्द लुप्तोपमा है, अर्थात् ज्योति में मिली हुई ज्योति को जिस प्रकार देखता है, उसी प्रकार सर्वस्वरूप मेरी आत्मा में अपनी आत्मा को मेरा स्वरूप ही देखता है। इस प्रकार बहुत तीव्र ध्यान में लगे योगियों के मन से द्रव्य, ज्ञान तथा क्रिया का भ्रम शीघ्र ही शान्त हो जाता है। यहाँ पर द्रव्य, ज्ञान और क्रिया के भ्रम से मतलब अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्म से है। अर्थात् पूर्वोक्त भ्रम अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म के भेद से तीन प्रकार का है। अथवा दृश्य-भ्रम, दृष्टि-भ्रम, दर्शन-भ्रम का ग्रहण करना चाहिए। इसको ही धर्म-मेघ-समाधि कहते हैं। थोड़े समय तक भी यदि इसका अभ्यास किया जाय तो वही थोड़ा समय सौ अश्वमेधों के फलरूप धर्म को मेघ के सदृश बरसाता है। इसी बात को श्रुति भी कहती है कि समाधि का एक क्षण ही सौ यज्ञों के फल देता है। यह भागवतोक्त अष्टाङ्गयोग का निरूपण है।

दुरन्तदुःखाकरे संसारे समूलसकलक्लेशनाशो भगवद्भक्त्यैव भवति। यतः—

यथाऽग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥

इति स्वयमभिहितम्।

एनः पापे विपत्तौ चेति विश्वप्रकाशः। अनन्ताक्षय्यसुखसंपदाधिपत्यं च भगवत्प्राप्त्यैव लभ्यते, नेतरथा।

दुरन्त दुःखों के मूलस्थान संसार के समस्त क्लेशों का समूल नाश भगवान् की भक्ति से ही हो सकता है; क्योंकि स्वयं भगवान् ने कहा है—उद्धवजी! जिस प्रकार प्रज्वलित आग लकड़ियों को भस्म कर डालती है उसी प्रकार मेरी भक्ति सम्पूर्ण पापों का नाश कर देती है। अनन्त, अक्षय सुखों की प्राप्ति भगवान् की भक्ति से ही होती है, अन्यथा नहीं।

तस्यां चोपायो यथा कथमपि तत्परतैवेति धियाऽध्यवस्य गृहाश्रम एव निवसन् युक्तकारी प्राज्ञस्तदीयाचरणभाषणाद्यनुमोदनेन स्वजनेऽनुरागं दर्शयन्निश्चलामलचेतसा विरक्तः श्रवणकीर्तनस्मरणाभिवन्दनादिना भगवत्परो भवेत्। क्वचिदिष्टवियोगानिष्टयोगादौ बुद्धिविवेकमास्थाय मनस्तु समादध्यात्। तदित्थम्—अवश्यंभाविन्याः कालगतेः स्वभाव एवेदृशो मिथ्यासुखदुःखादिरूपः। गीष्पतेरिव बुद्धिमतोऽपि बुद्धिर्दैवमतिवर्तितुं न प्रभवति। तदूचतुर्विदुरसञ्जयौ—

विधिं न ग्रसते प्रज्ञा प्रज्ञां तु ग्रसते विधिः।
विधिप्रत्यापितानर्थान्प्रज्ञा न प्रतिपद्यते॥ इति।

उस भक्ति की प्राप्ति का उपाय 'जैसे बने भगवत्परायण होना ही है', ऐसा दृढ़ निश्चय करके विचारशील साधक गृहस्थाश्रम में रहने पर भी सदा सत्कर्मों में लगा रहे। बुरे कामों की ओर अपनी चित्तवृत्ति को कदापि न जाने दे। वह भगवद्भक्तों के आचरण और बातचीत का अनुकरण करे। बन्धु-बान्धवों के साथ स्नेह-सद्भाव अवश्य रक्खे, किन्तु रहे वीतराग; चित्त में चञ्चलता तथा मलिनता को भूलकर भी न आने दे; भगवद्गुणों के श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा भगवान् के अभिवादन आदि शुभ कार्यों के द्वारा निरन्तर भगवत्परायण रहा करे। यदि प्रिय वस्तुओं के वियोग और अनिष्ट वस्तुओं की प्राप्ति आदि का अवसर आ पड़े तो विवेक की सहायता से चित्त को सँभाले। उसको विचारना चाहिए कि संसार के सभी पदार्थ नश्वर एवं मिथ्या हैं, संयोग-वियोग तो होता ही रहता है फिर सुख-दुःख कैसा? अवश्यम्भावी कालगति का स्वभाव ही ऐसा है जिसके फलस्वरूप प्राणी सुख-दुःख भोगते रहते हैं। ये सुख-दुःख आदि भी कालगति के परिणाम और मिथ्या हैं। इनको सच्चा समझना बड़ी भारी भूल है। बृहस्पति के समान बड़े से बड़े विद्वान् की बुद्धि भी प्रारब्ध को नहीं टाल सकती। सञ्जय और विदुरजी ने कहा है—मनुष्य की बुद्धि

में इतनी शक्ति नहीं कि वह प्रारब्ध (दैव) को बदल दे; परन्तु प्रारब्ध चाहे तो बुद्धि का खेल बिगाड़ सकती है। अतएव प्रारब्ध की प्रेरणा से होनेवाले कार्यों को बुद्धि क्योंकर रोक सकती है ?

मयोऽपि रसपालानाह—

देवोऽसुरो नरोऽन्यो वा नेश्वरोऽस्तीह कश्चन।
आत्मनोऽन्यस्य वाऽऽदिष्टं दैवेनापोहितुं द्वयोः॥

आत्मनः अन्यस्य द्वयोरपि वेत्यन्वयः। दैवेन आदिष्टमापादितं अपोहितुं परिहर्तुमित्यर्थः। अन्यत्रापि—

अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
प्रतिकुर्युर्न किं नूनं नलरामयुधिष्ठिराः॥ इति।
भवितव्यं भवत्येव कर्म्मणो गतिरीदृशी।
विपत्तौ किं विषादेन संपत्तौ हर्षणेन किम्॥

इसी लिये मय (दानव) ने भी रसपालों से कहा है—देव, दानव, मानव इनमें कोई भी इतना शक्तिशाली नहीं कि अपने अथवा दूसरों के दैव-विधान को बदल दे। दैव के सामने सभी लाचार हैं। अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है—यदि होनहार के प्रतीकार का कोई उपाय होता तो राजा नल, महाराज रामचन्द्र और धर्मराज युधिष्ठिर अपने जीवन में अनन्त आपदाएँ क्यों झेलते ? क्या उन लोगों में प्रतीकार की शक्ति न थी ? होनहार होकर ही रहती है। ऐसी सामर्थ्य किसमें है कि उसे रोक सके ? कर्मगति ऐसी ही विलक्षण है। अतएव दुर्दिनों में विषाद और समृद्धि के दिनों में हर्ष करना व्यर्थ है।

'प्रायः प्राक्तनमेव कर्म बलवत् तन्मार्जितुं कः क्षमः।' इत्यादि च। परन्तु—'वासुदेवस्य भक्तानां नाशुभं विद्यते क्वचित्।' इति देवव्रतोक्तेः परमानन्दरूपं भगवन्तं वासुदेवं सर्वात्मना प्रपन्नस्तदभिन्न एव वस्तुतोऽहम्। नाविष्णुर्विष्णुमर्चयेदिति भारतात्। अतो मम नास्ति शोकमोहादिसम्बन्धः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति मन्त्रात्। एवमध्यवसितवन्तं मतिमन्तं जनमाकुलयितुं न कल्पते शोकः।

प्रायः प्रारब्ध बड़ी प्रबल होती है। उसके आगे किसी की नहीं चलती। किन्तु 'श्री वासुदेव भगवान् के भक्तों का अमङ्गल कदापि सम्भव नहीं'—देवव्रत (भीष्म पितामह) की इस सूक्ति के अनुसार उपासक अनन्यचित्त

होकर परमानन्द-स्वरूप भगवान् वासुदेव की शरण ले और अभेद-भावना द्वारा अपने को उनमें मिला दे।

'साधक अपने हृदय में उपास्य-उपासक का भेद-भाव रखकर भगवान् की आराधना न करे'—महाभारत के इस वचन में, भगवान् तथा अपने में भेद-बुद्धि रखनेवाले व्यक्ति की निन्दा की गई है। अतः अपने आपको भगवान् से अभिन्न समझे। वह अपने मन में इस बात का अनुभव करे कि 'मैं तो भगवान् का ही रूप हूँ', मुझ पर शोक-मोह आदि का प्रभाव कैसा! 'ब्रह्म के साथ अपनी आत्मा तथा समस्त सृष्टि का अभेद अनुभव करनेवाले पर शोक-मोह आदि का प्रभाव नहीं पड़ता'—यजुर्वेद के इस मन्त्र से भी यही बात सिद्ध होती है। इस प्रकार का निश्चय रखनेवाले विवेकशील व्यक्ति को सांसारिक शोक-मोह प्रभृति दबाने मे समर्थ नहीं हो सकते।

कालनियमेन घटिकामात्रमप्यनुदिनमेवं भगवन्तमाश्रितवतो वर्षमध्ये षष्ट्युत्तरत्रिशतघटिकात्मको भूयान् योगकालः सञ्चीयते। मुहूर्तं मुहूर्तद्वयं प्रहरं वा पुनरेवं कुर्वतस्तु किं वक्तव्यम्। नूनमसौ जीवन्मुक्त ऋषिः। एतावानेव हि भरतखण्डे जन्मभृतां पुंसां पुरुषार्थः। श्वशूकरकृकवाकुबलिभुगादयोऽपि त्रिचतुरावकरवर्त्तनीपरिवर्तनपूरितोदरा निराकुलं शेरते सपरीवारा इति पुराविदां परिभाषा।

इत्यनेन प्रकारेण वर्तमानः पुमान् यथाऽस्मिन्कलौ सुखं सिद्ध्यति तथा न कश्चिदितर इति समीरितमृषीन्प्रति भगवद्भिः शुकतातैः—

धर्म्मोत्कर्षमतीवात्र प्राप्नोति पुरुषः कलौ।
अल्पायासेन धर्म्मज्ञास्तेन तुष्टोऽस्म्यहं कलेः॥

मनुष्य प्रतिदिन नियम से, अधिक नहीं तो, घड़ी भर भी भगवान् का भजन करता रहे तो वर्ष भर में तीन सौ साठ घड़ियों का सुदीर्घ समय भगवद्भजन के लिये सहज ही मिल जाता है। परन्तु जिसे मुहूर्त दो मुहूर्त अथवा पहर भर का शुभ समय मिलता रहे उसके लिये क्या कहना है। ऐसा व्यक्ति ही वास्तव में जीवन्मुक्त ऋषि कहलाता है। अन्ततः मनुष्य के जीवन का मुख्य उद्देश्य भी तो भगवान् की भक्ति करना ही है। अपना पेट तो कुत्ता, सूअर, गिरगिट, कौवा आदि अधम योनि के जीव भी—कूड़ा-करकट से भरे हुए स्थानों में घूम-फिरकर—किसी न किसी प्रकार भर ही लेते हैं। यदि मनुष्य भी इसी प्रकार

से पेट भरने की चिन्ता में ही पड़ा-पड़ा अपना अमूल्य जीवन नष्ट कर दे तो फिर पशु-पक्षी और उसमें भेद क्या रहा ?

अतएव मनुष्य भगवद्भक्ति के द्वारा जितनी सरलता के साथ इस पापमय कलिकाल में सिद्धि प्राप्त कर सकता है उतनी सुविधा ज्ञानी पुरुष को कदापि प्राप्त नहीं। शुकदेवजी महाराज ने कहा भी है—भगवान् कहते हैं कि ऋषियो ! इस कलियुग में पुरुष थोड़े दिनों में और स्वल्प परिश्रम से ही धर्मोत्कर्ष को प्राप्त कर लेता है, इसी से मैं कलियुग पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ।

धर्म्मज्ञा हे ऋषयः। पुरुषो गृहमेधी। धर्म्मोत्कर्षं पुरुषार्थलक्षणम्। अल्पायासेन भगवद्गुणकीर्तनमात्रेणेत्यर्थः। काम्यनिषिद्धकर्म्मवर्ज्जम्। सन्ध्यास्नानजपहोमस्वाध्यायतर्प्पणदेवताऽर्च्चनादीनि वेदबोधितनित्यनैमित्तिकानि कर्म्माणि परमेश्वरानुशासनमित्येव सादरं यथाऽवकाशमनुष्ठायैव योगमेनमारभेत, न तु तानि हित्वा। तेषां परमोपकारकत्वेनाऽवश्यकत्वादकरणे योगवैयर्थ्यात्। तथा हि मन्त्रः—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।

अविद्यया कर्मरूपया चित्तशुद्धिसाधनीभूतया रागद्वेषादिरूपं संसारहेतुभूतं मृत्युं तीर्त्वा उल्लङ्घ्य विद्यया भगवदाराधनजन्यकेवलविमलविज्ञानलक्षणया अमृतमश्नुते मोक्षाख्यमनिर्वचनीयमद्वितीयमनवधिसुखमास्वादयतीति मन्त्रार्थः।

पूर्वोक्त श्लोक में "धर्मज्ञाः" शब्द से ऋषियों को सम्बोधित किया गया है; "पुरुषः" शब्द से गृहमेधी (गृहस्थ) का ग्रहण करना चाहिए तथा 'धर्मोत्कर्ष' शब्द से अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का एवं "अल्पायासेन" से भगवान् के गुणों के कीर्तन-मात्र का ग्रहण है। उपासक काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर दे। किन्तु सन्ध्या, स्नान, जप, होम, स्वाध्याय, तर्पण और देव-पूजन आदि वेद-बोधित नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करता रहे—परमेश्वर की आज्ञा ऐसी ही है। यथासमय आदर के साथ पूर्वोक्त कर्मों को करते हुए ही इस योग का आरम्भ करना चाहिए, उनको छोड़कर नहीं। क्योंकि नित्य-नैमित्तिक सन्ध्या-स्नानादि कर्म अत्यन्त उपकारक हैं, इससे इनका अनुष्ठान अवश्य करे। इनको त्याग-कर यदि योग किया जाय तो उसका कुछ भी फल नहीं होता। यजुर्वेद का मन्त्र भी है—चित्त-शुद्धि की साधनभूत कर्मरूप अविद्या को पार करके भग-

भगवान् की नाभि गोल, गहरी और देखने में बड़ी ही मनोहर है। उसको देखकर ऐसा मालूम होता है मानो भक्त लोगों के मनोरथों को पूर्ण करने के लिये चिरसञ्चित असीम अनुकम्पा-रूपी अमृत की नदी का उद्गम-स्थान कोई बड़ा भारी सरोवर है। उनकी श्याम-सलोनी करुणामयी मूर्ति शरणागतों का मङ्गल करनेवाली है। वे अलसी के फूल तथा तमालतरु के तुल्य श्यामवर्ण हैं और नवीन नवनीत के समान सुकुमार-सुषमामय शरीर में सुवर्णनिर्मित यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं। उनका सौन्दर्य्य कामदेव को लज्जित करनेवाला है। दक्ष प्रजापति, यक्ष, देवता, कर्दम आदि ऋषि-महर्षि तथा अन्यान्य सत्पुरुष उनकी आराधना करते हैं। वे नूतन कमल-केसर के सदृश सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए हैं। उनकी आठ भुजाओं में धनुष, बाण, ढाल, तलवार, गदा, कमल, शङ्ख और चक्र शोभित हैं अथवा वे अपनी प्रबल, विशाल, सुन्दर, परम उदार, हाथी की सूँड़ के समान आकारवाली, भक्तों को अभीष्ट फल देने में समर्थ, मेघ की भाँति कामनाओं की वर्षा करनेवाली, शरणागत भयभीत व्यक्तियों की रक्षा में तत्पर चारों भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा और कमल धारण किये हुए हैं।

इन्द्रनीलमहानीलपद्मरागपुष्परागहीरगारुत्मतगोमेदवैदूर्य्यप्रमुखसुजात-रत्नजातविचित्रविन्यासविशेषजटितपदकटककटिमेखलाऽष्टापदपदकाङ्गदव-लयांगुलीयकमकराकारकुण्डलाखण्डरुचिरुचिरतिरीटकिरीटविटङ्किते।

वे *इन्द्रनील, महानील, पद्मराग, पुष्पराग, गारुत्मत, गोमेद, वैदूर्य* आदि उत्तम श्रेणी की मणियों से जटित पदकटक (कड़ा), सुवर्णमय कटि-मेखला, अष्टापद पदक, अङ्गद (बाजूबन्द), वलय (कङ्कण), अँगूठी, मकराकार कुण्डल और किरीट-मुकुट प्रभृति सुन्दर आभूषणों से भूषित हैं।

राकामध्यगतसुधाकरकिरणधोरणीसुषमाऽपहारिहीरहारगारुडनायक-रोचिराचितनूतनतुलसीदलविमलमालिकाद्युतिततिसमभिव्यक्तमौक्तिकप्रवे-कदामपरिविसारिधामकौस्तुभरत्नराजश्रीवत्सलक्ष्मपीनपृथुलवत्सस्थलनि-लयविहसितविलसितवदनलक्ष्मीलक्ष्मीभिरभिभ्राजमाने।

उन्होंने पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान उज्ज्वल हीरहार, गारुड़ नामक बहु-मूल्य मणियों से युक्त मुक्तामय हार, तुलसी की माला, कौस्तुभ मणि तथा श्रीवत्स-चिह्न (भृगुलता) को धारण कर रक्खा है। उनके विशाल वक्षःस्थल पर विराजमान श्रीलक्ष्मीजी उनकी अनुपम सुषमा को देख-देखकर मुसकरा रही हैं।

पुञ्जीभूय मधुरमञ्जुगुञ्जनव्याजतोऽभिराममसामसमनुगायद्भिराम्नाय-मत्तरोलम्बरूपैरुपचुम्बितया मांसलांसकमनकम्बुकन्धराऽन्तरालयुगलादा-पदपद्ममालम्बितया हृदयङ्गमगम्भीरसौरभसुरभीकृतककुबन्तकुन्दकुमुदकद-म्बकर्णिकारकरवीरजासुवनजापराजिताचम्पकबकुलभूकमलकमलमालतीम-ल्लिकादिसत्कुसुमनिकुरम्बकरम्बितया स्वच्छन्दमुत्पतदवपतदभिपतदलि-कुलदलततिलघुवेपनजनितपवनपतत्पिशङ्गमङ्गलपरागसङ्गजपरभागया वन-मालयाऽतिवेलमुद्भासमाने ।

अपने अलौकिक सौरभ द्वारा दिग्दिगन्त को सुरभित करनेवाले कुन्द, कुमुद, कदम्ब, कर्णिकार, करवीरजा, सुवनजा, अपराजिता, चम्पक, बकुल, स्थल-कमल तथा अनेक प्रकार के अन्य कमल, मालती और मल्लिका आदि सुपुष्पों से मिश्रित आपादलम्बिनी वनमाला उनके शङ्ख-सदृश सुन्दर गले की शोभा बढ़ा रही है। उस माला की चित्ताकर्षक सुगन्ध से मतवाले हो रहे भौंरों की मधुर गुञ्जार सुनकर ऐसा जान पड़ता है मानो साम-गान-कुशल वेदपाठी साम गान कर रहे हैं। भौंरों के स्वच्छन्दतापूर्वक चारों ओर नीचे-ऊपर उड़ने से उत्पन्न होनेवाली हवा के झोंकों से उड़कर मङ्गलमयी पुष्प-धूलि चारों ओर फैल रही है, जिसके सामने अन्य सभी सुगन्धित पदार्थों की सुगन्ध तुच्छ जान पड़ती है।

स्निग्धमुग्धसश्यामलदाकुञ्चितामलमेचकालकालिशालिनि । मूल्यविभा-नवेश्युपलब्धिप्रयोगप्रयत्नसपत्नरूपरत्नजातजटितमुकुटविस्फुटचटुलच्छविजा-लचुम्बितसमालम्बितनिजभजनजनजञ्जपूकपुञ्जतुञ्जमञ्जुमुञ्जकेशकाशमान-मानतुङ्गोत्तमाङ्गोत्तमश्रीनिवासे ।

श्री वासुदेव भगवान् स्निग्ध सुन्दर काले घुँघराले केशों से सुशोभित हैं। वे बहुमूल्य दीप्तिमय रत्नों से जटित मुकुट पहिने, भगवद्भक्तों की निन्दा करनेवालों के विनाशक और अवर्णनीय शोभा-सम्पन्न हैं।

वर्णनकथापथातीतकर्णयुगलोपरिसन्निवेशितपरिसरदपरिमितसुरभिवि-सरमनोहरकुञ्जरकेशकुसुमसमगुलुञ्छवाञ्छनीयाकल्पकल्पितानल्पदीप्तौ । कु-ण्डलखचितमहामणिमरीचिपटलीपटुलीलयोल्लालितकपोलमण्डले । मृगम-दकुङ्कुमहरिचन्दनसौगन्ध्यसमिद्धतिलकोज्ज्वलदलिकपटले । भक्तजनानुरा-गातिरेकदयासुधासेकसम्भ्रमसमुदञ्चदरविन्दसुन्दरदेवदीपविपुलयुगलमदभ्र-विभ्रमभ्रमदद्भुतभ्रुवौ च वत्सलतया मुहुरपि चमत्कुर्वति ।

उनके कमनीय कोमल कपोल महामणियों से जड़े कुण्डलों की अलौकिक आभा द्वारा आलोकित होकर अपनी कान्ति को दूना कर रहे हैं। ललाट पर कस्तूरी, केसर, हरिचन्दन तथा मलयगिरि चन्दन का तिलक लगाये वे अपने परमप्रिय भक्तों पर दया-रूपी अमृत की वर्षा करने के लिये प्रफुल्ल कमल के तुल्य मनोहर, चन्द्र तथा सूर्य के समान अत्यन्त तेजस्वी, विशाल नेत्रों और चञ्चल अद्भुत भौंहों को बारम्बार सञ्चालित कर रहे हैं।

स्वाभाविकासाधारणमधुरतावधीरितविबुधावलिबहुमतसुधामधुरिम - निरुपमचातुरीविरचितविचित्रवचनचयैः स्वकीयनित्यलालित्यसम्पत्तिसा - हित्यविधूतनूतनीभूतचूतकिसलयकीर्तितनुघनपीनदेदीप्यमानाङ्गुलिपल्लव- तल्लजोल्लासितचक्रलेखाङ्कितपञ्चशाखसंविदा च विदावलिमसकृदनिर्वचनी- यदयालुतया समुत्समुल्लालयति ।

दयाभाव से प्रेरित होकर स्वभाव-सुमधुर, अमृतोपम, चातुरीमय अद्भुत निरुपम वचनों के द्वारा तथा किसलय-सुकुमार अँगुलियों से युक्त चक्ररेखाङ्कित कर-पल्लव के सङ्केत से वे ज्ञानी सत्पुरुषों को (सत्कर्मों की प्राप्ति के लिये) उत्साहित करते हैं।

तिलकुसुमप्रतिमसमुन्नतायतनासिकावंशभाऽतिशयवशीकृतसमुदालोक- यदालिविलोचनमाले । नित्यसिद्धचकचकायमानागण्यलावण्यरमणीयता- रुण्यसमुपक्रमसूचकसूक्ष्ममृदुमेचकरुचिपेशलकेशलताङ्कुरततिसमलङ्कृतोपरि- तनदशनच्छदे । ललिताधरपल्लवलोहितिमाधरीकृतसुपक्वबिम्बफले ।

तिल-कुसुम के सदृश समुन्नत एवं विशाल नासिकावंश की शोभा के द्वारा वशीभूत होकर दर्शकों की आँखें उनकी ओर अपने आप आकृष्ट हो जाती हैं। सदा देदीप्यमान लावण्ययुक्त अत्यन्त रमणीय तारुण्य के आरम्भ के बोधक सूक्ष्म कोमल श्याम दीप्तिसम्पन्न मनोहर केशलता के अंकुरों (मूँछों ?) से उनका ऊपर का ओष्ठ शोभित है। उनका नीचे का सुन्दर ओष्ठ-पल्लव बिम्बफल की लालिमा का तिरस्कार करनेवाला है।

श्रेणीभूतावदातकुन्दकुड्मलामन्दसौन्दर्य्यावलेपविलोपनसमदन्तपङ्- क्तिकान्तिविसरोत्सारितपरिचरनिकरविविधव्यसनान्धकारे । समग्रमुख- मण्डलमूलभूमीयमानमरकतगुटिकारुचिरचिबुकबिम्बरुचिभिरतिचिरं विरो- चमाने । चिन्तनचतुरचिरतरचिन्तनीयचञ्चदञ्चितासेचनकसमाचितसन्तत-

प्रसन्नस्वभावसम्पन्नतया किमपि भजदानन्दकन्दनमन्दहासविकसितसरस-वदनसरसीरुहे । सेवकजनसमर्प्पितजाम्बूनदवर्णताम्बूलपर्णवीटिकाचर्वण-सञ्जातरञ्जिमासङ्गिजतमञ्जिमाननश्रियि ।

भगवान् की मनोहर मधुर मुसकान का आस्वाद लेते ही भक्तों के समस्त क्लेश नष्ट हो जाते हैं । उनकी ठोड़ी समग्र मुखमण्डल की मूलभूमि, मरकत मणि की गोली के समान सुन्दर है । ध्यान के योग्य चित्ताकर्षक प्रसादमय स्वभाव से सम्पन्न होने के कारण उनके मुसकानयुक्त मुख-कमल का दर्शन कर भक्त जन अत्यन्त आनन्दित होते हैं । भक्तों द्वारा समर्पित, स्वर्ण के समान पीतवर्ण, ताम्बूल के खाने से उत्पन्न लालिमा की मनोहरता द्वारा उनके मुख की शोभा और भी अधिक हो गई है ।

पालनीयबालकचक्रवालसमुपलालनविधिपरिपाटीपटीयस्तया कयाऽपि तयानुकम्पया सपदि सपदि तदभिनन्दयितुमास्वादितदन्तावलवल्लिकामत-ल्लिकादलगुलिकाऽन्तर्गतमनोहरखदिरसुधागुवाकजायकदेवकुसुमैलाघनसार-नारिकेलकस्तूरिकापरिमलसन्दलितसाहजिकमन्दश्वसितश्वसनमेदुरीभवदा-मोदमाधुरीमुचा सुचारुघनाघनघनस्वनेनोच्चहासेनोच्चकासति । सिंहसंहनने ।

गोप-बालकों को आनन्दित करने के लिये जिस समय भगवान् प्रसन्न हो उनके साथ हँस-हँसकर बातचीत करते हैं उस समय उनके मुख-कमल से साँस के साथ बाहर निकलनेवाली, पान के मसाले की—सुपारी, जावित्री, लौंग, इलायची, कपूर, नारियल, कस्तूरी की—सुगन्धि आस-पास के स्थानों को सुगन्धित कर देती है । उनके कन्धे सिंह के कन्धों के समान बलिष्ठ हैं ।

विशिष्टकुलशीलसौन्दर्य्यसौकुमार्य्यसद्गुणगणभाजनैः सम्पत्तिमज्ज-नैरमलमङ्गलार्थतया सुशोभनमालानुलेपनवसनावतंसभासितैरिह भवित व्यमिति निजसृष्टपुरुषविशेषानुपशिक्षयितुमुररीकृतानि वपुरलङ्कृतिरत्न-जातानि जगति सभाजितसौजन्यधनधन्यजनभजन्यचैतन्यघनतनुजन्यवि-स्फुरददीनदीप्तिसम्पदैवाविरतं प्रतिभासयति ।

सौजन्यशाली भक्तों द्वारा आराधनीय चैतन्यघनस्वरूप, तेज से निरन्तर प्रकाशमान होने पर भी, श्री वासुदेव भगवान् 'संसार में कुलीनता, सुन्दरता, सुकुमारता आदि सद्गुणों के भाजन ऐश्वर्यवान् व्यक्तियों को इसी प्रकार

कल्याणार्थ सुन्दर मालाएँ, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य, उत्तम वस्त्र तथा बहु-मूल्य आभूषण धारण करने चाहिएँ' ऐसी शिक्षा देने के लिये ही उत्तमोत्तम अलङ्कार आदि द्वारा अपने शरीर को अलंकृत करते हैं।

स्वीयलालसालयालवालचक्रवालमध्यशालिविद्धिशाननालवल्गुवल्ग-दाततद्युतिततिसद्मपादपद्मसद्मधुस्वादीयसां नेदीयसि। दवीयसि लघीयसां तु। भावनावनामावहितहितपावनावनावधानावमतान्यदीयसमज्ञे। पुरा-णेऽपि शक्तिजन्मजाताकृतौ। निरन्तरसवे दीक्षितेऽपि परमवनितापीनकुच-मण्डलमुपमर्दयति। वृद्धश्रवसीव प्रीतिदोच्चैःश्रवसि। उद्यन्मयूखमालि-नीव कमलोल्लासिनि।

जो लोग अपने हृदय में भगवान् के चरण-कमलों का निरन्तर चिन्तन करते हैं उनके लिये श्री वासुदेव भगवान् अति निकट और क्षुद्र-हृदय व्यक्तियों से अत्यन्त दूर हैं। एकाग्र-चित्त होकर नम्रता के साथ अभय-याचना करनेवाले भक्तों की रक्षा करने में तत्पर श्री वासुदेव भगवान् पुराण-पुरुष होकर भी, अपनी माया का आश्रय लेकर, भक्त जनों की रक्षा और पापों का नाश करने के लिये सगुण-रूप धारण करते हैं। वे सर्वदा यज्ञ में दीक्षित रहने पर भी उत्तम स्त्री (लक्ष्मीजी) के पीन पयोधरों का मर्दन करनेवाले, उच्चैःश्रवा अश्व के अधिपति इन्द्र के समान उच्चैःश्रवा (भक्तों को आनन्दित करनेवाले यश से युक्त) और बड़े-बड़े कानोंवाले (बड़े कानवाला भाग्यवान् होता है, उसके द्वारा दूसरों को सुख मिलता है); वे कमलों को विकसित करनेवाले उदयोन्मुख सूर्य के तुल्य कमलोल्लासी [कमला (लक्ष्मीजी) को प्रफुल्लित करनेवाले] हैं।

निसर्गजाग्रदगणनीयगुणलक्षणपरिपूर्णतया त्रिजगति लक्ष्मीरिति पुन-रनन्याधिगम्यमहाभिधानमुद्दधानया नित्यनूत्नयौवनानुरूपरूपशीलचारु-चरितदिव्याम्बरालङ्कारपरिस्फुरदुरुघृणिजटिलचूडामणिमण्डितया मन्दर-मेदिनीधरशिखरचरकुरङ्गसुन्दरीमानविमोचनाकर्णगोचरविकचनिशीथशिथि-लानिललीलाविलोलनीलोत्पलदलविलोचनया स्मितकौमुदीसुदीपितदिग-न्तया सकललोकाभिवन्दितपदया वामाङ्कसङ्कलितया कूकुदककुदकोकन-दाम्बकभीष्मकभूमिदिवस्पतिसुतया विद्युदालिङ्गितनूतनजलधरशोभासम्पद-मधरीकुर्व्वति।

स्वाभाविक तथा प्रकाशमान अगणित गुणों और लक्षणों से परिपूर्ण होने के कारण तीनों लोकों में दुर्लभ "लक्ष्मी" नाम को धारण करनेवाली, नित्य नूतन यौवन के अनुरूप उत्तम शील चरित दिव्य वस्त्रों और अलङ्कारों की शोभा से सम्पन्न, चूड़ामणि से भूषित, मन्दराचल-शिखर-चारिणी मृगियों के अभिमान को दूर करनेवाले विशाल—अर्धरात्रि की धीमी-धीमी वायु से हिल रहे नील कमल के समान—लोचनोंवाली, मन्द-मुसकान-शोभित, सम्पूर्ण जगत् के द्वारा पूजित, बाईं गोद में आसीन, सुन्दर वस्त्र-अलंकारों से युक्त, अरुणकमल-लोचन भूपाल-श्रेष्ठ भीष्मक राजा की पुत्री (रुक्मिणी) के सहित वासुदेव भगवान् की शोभा के सामने विद्युत् से युक्त नये मेघ की शोभा भी तुच्छ जान पड़ती है।

चतुरधिकदशभुवनैकभर्त्तरि सप्ततन्तुपुरुषे। अशनापिपासे शोकमोहौ जरामृती इति क्रमेण प्राणमनोदेहधर्म्मयुगलैः षडूर्मिनामकैरसंसर्गभाजि। सर्व्वकारणादिकारणे। महामहसि। महीयसि। वैनतेयगामिनि। वैकुण्ठनायके। प्रस्फुरदणिमाद्यष्टविभूतिभिर्मूर्तिमतीभिर्विमलादिषोडशशक्तिभिश्च नक्तन्दिवमुपासिते।

चौदह भुवनों के एकमात्र स्वामी, यज्ञ-पुरुष, भूख-प्यास शोक-मोह बुढ़ापा और मरण इन क्रमशः प्राण, मन और देह की धर्म-रूप षडूर्मियों के संसर्ग से अलिप्त, सब कारणों के आदि-कारण, परम तेजस्वी, गरुड़वाहन, वैकुण्ठ के अधिपति वासुदेव भगवान् की सेवा अणिमादि आठ विभूतियाँ तथा विमलादि सोलह शक्तियाँ सदा किया करती हैं।

वपुष्मद्भिरेव सुदर्शनपाञ्चजन्यकौमोदकयानन्दनन्दकफलकसायकशार्ङ्गशरासनैश्च सितच्छत्रचामरविचित्रव्यजनपुरटघटितयष्टिदण्डाद्युपचारपाणिभिः समानरूपकलापवेशायुधशोभमानैरथविष्वक्सेनपुष्पदन्तसात्त्वतजयन्तजयविजयनन्दसुनन्दकुमुदकुमुदाक्षसुमुखश्रीमुखबलमहाबलपुण्यशीलसुशीलभद्रसुभद्रनारदादिभिः पारिषदपुरस्सरैर्जय जय भगवन्करुणानिधे शरणागतेषु करुणामाविष्कुरु कुर्विति तत्तत्प्रस्तावसंस्तवनवचनरचनाचातुरीधुरीणैः प्रणयावनतैरनारतोपसेविते।

सुदर्शन चक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, कौमोदकी गदा, नन्दक खड्ग, ढाल, बाण और धनुष, ये सब देहधारी होकर भगवान् की सेवा करते हैं। सफेद छत्र, चँवर, चित्र-विचित्र पंखा, स्वर्णमयी यष्टि और दण्ड इत्यादि सामान हाथों में लिये

हुए—एक जैसे रूप-वेष तथा आयुधोंवाले—विष्वक्सेन, पुष्पदन्त, सात्वत, जयन्त, जय, विजय, नन्द, सुनन्द, कुमुद, कुमुदाक्ष, सुमुख, श्रीमुख, बल, महाबल, पुण्यशील, सुशील, भद्र, सुभद्र एवं नारद आदि उनके पारिषद हैं। 'भगवन्! करुणानिधे! जय हो, जय हो, शरण में आये भक्त जनों के ऊपर शीघ्र करुणा करो,' (भिन्न-भिन्न अवसरों पर) इस प्रकार के स्तुति-वचनों की रचना-चातुरी में कुशल, विनीत तथा नम्र मुख्य पारिषद उनकी निरन्तर आराधना करते रहते हैं।

बालखिल्याखिलतपउद्दलितातुलबलशकुन्तकुलपालाङ्के प्रबलसुकृतधवलयदुकुलभवभालाङ्के भगवति परमानन्दमूर्तौ परमेश्वरे। विजिहीर्षया किल कदाचनैकदा समुत्साहविलसितलीलाभ्रूभङ्गलेशनिदेशप्रेरितत्रिगुणमयमायया कृतगुणाविष्कारेऽपि वस्तुतस्तदस्पृष्टविशुद्धगगनाकारतुरीयनिर्गुणपरब्रह्मरूपत्वेन वाङ्मनसागोचरे।

बालखिल्य ऋषि, अन्यान्य तपस्वी और महापराक्रमी पक्षिराज गरुड़जी भगवान् की शरण में रहते हैं। वे अति पुण्यात्मा यादवों के प्रधान नेता, परमानन्द की मूर्त्ति तथा परमेश्वर-रूप हैं। सृष्टि के मूल कारण तीन गुणों—सत्त्व, रज एवं तम—को अपनी माया द्वारा उत्पन्न करने पर भी वास्तव में उक्त गुणों से परे, आकाश के समान निर्लेप, विशुद्ध, तुरीय, निर्गुण और परब्रह्म-रूप होने के कारण उनको मन वाणी आदि इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकतीं।

आकाशशरीरं ब्रह्म। शिवमद्वैतं तुरीयं मन्यन्ते। यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। प्रज्ञानं ब्रह्म। स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। अहं ब्रह्मास्मि। तत्त्वमसि। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। आत्मैवेदं सर्व्वम्। ब्रह्मैवेदं सर्व्वम्। सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। असङ्गो ह्ययं पुरुषः।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। इत्यादिमहावचनसमूहैकवचनीयनित्यमुक्तशुद्धबुद्धसच्चिदानन्दघनानन्ताद्वितीयतताखण्डैकरसपरिपूर्णज्योतीरूपपरमात्मनि श्रीमति वासुदेवे ध्यायमाने सति।

इति कुलकं द्विचत्वारिंशता गद्यैरुत्तरेण च वाक्यपरिसमाप्तिः।

ब्रह्म आकाश के समान निराकार और निर्लेप है इसी लिये वह आकाश-शरीर कहलाता है। उस कल्याणमय, अद्वितीय तथा तुरीय (समाधि-प्राप्य) ब्रह्म का अनुभव विद्वान् ही कर सकते हैं, सब लोग नहीं। मन वाणी आदि इन्द्रियाँ उसको पाने में असमर्थ होकर लौट आती हैं। 'वह ब्रह्म प्रज्ञान-रूप है', 'यह वही है जो इस जीव में है', 'जो वह ब्रह्म सूर्य में है' 'वह एक ही है', 'मैं ब्रह्मरूप हूँ', 'वह ब्रह्म तू है', 'ब्रह्म विज्ञानरूप तथा आनन्दरूप है', 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त-रूप है', 'वह ब्रह्म एक ही है, उसको छोड़कर दूसरा कोई नहीं है', 'यह सब आत्मा ही है','यह सब ब्रह्म ही है', 'यह समस्त जगत् ब्रह्मरूप ही है', 'यह आत्मा ब्रह्म ही है', 'अहं पुरुष (मैं पुरुष) संग से रहित, अर्थात् माया के सम्बन्ध से रहित है', 'महत् से परे अव्यक्त अर्थात् माया है; माया से परे पुरुष है, उस पुरुष से परे कुछ नहीं; वही अन्तिम अवधि और सबसे परे पहुँचने का स्थान है', 'ब्रह्म ही पुच्छ और प्रतिष्ठा है'—इत्यादि महा-वाक्यों से श्री वासुदेव भगवान नित्य, मुक्त, शुद्ध, बुद्ध, सत्, चित्, आनन्दघन, अनन्त, अद्वितीय, व्यापक, पूर्ण, एकरस, परिपूर्ण तथा ज्योतिरूप सिद्ध होते हैं।

तत्प्रसादप्रादुर्भवदवसरा काऽप्यद्भुता खल्वपारपरमानन्ददशा सपदि ध्यातृध्येयध्यानव्यवधानहीनकेवलबोधरूपतया समुत्थितविपुलपुलकविगल-दलघुलोचनसलिलाकुलैरथ च जातु प्रसरदतिवेलहासरसरभसव्याकुलैरनु-भूयते भक्तिरसिकैः तदानीमपहेयतयाऽवहेलिता वासना भेकपुच्छतामुप-गच्छति चिरपरिश्रान्तिमन्थरतया विषयानुपादातुमनीशं मनश्च शनैः शशविषाणसायुज्यम्। किं बहुना। अविद्यारूपेण सर्वानर्थनिदानभूता मायैव तावदयं मामकं त्रिभुवनजनविमोहनमहह महिमानमपहापयदिति मन्दाक्षमन्दाक्षी ततः सुदूरमपसर्प्पति। तत्समुदैरयन्क्केऽपि कृपामृतसङ्क्लिन्नवाचः प्रभुचक्रचूडामणिचरणाः—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ इति।

उन्हीं वासुदेव भगवान् का ध्यान करते-करते भगवद्भक्त ऐसी अलौकिक, अद्भुत और अनन्त-आनन्दमयी अवस्था में पहुँच जाता है जिसमें उसकी त्रिपुटी (ध्याता, ध्येय और ध्यान का भाव) नष्ट हो जाती और वह अपने

भीतर केवल ज्ञानरूपता की अनुभूति करने लगता है जिसके फलस्वरूप कभी ध्यान के समय भगवान् की असीम महिमा का स्मरण करते-करते उसके शरीर में रोमाञ्च हो आता तथा आँखों से आनन्द के आँसुओं की धारा बह निकलती है। वह किसी समय अपार आनन्द में मग्न हो खिलखिलाकर हँस पड़ता है। इस दशा में पहुँचने पर उपासक की सभी सांसारिक वासनाएँ सर्वथा नष्ट हो जाती हैं और उसका मन भी निरन्तर भगवत्स्वरूप का अनुभव करके धीरे-धीरे इतना शिथिल एवं श्रान्त हो जाता है कि उसमें विषयों के ग्रहण करने की शक्ति ही नहीं रह जाती। अधिक क्या, अज्ञान-रूप होने के कारण, सम्पूर्ण अनर्थों की मूल माया भी 'हाय! यह श्री वासुदेव भगवान् का भक्त तो मेरी विश्वमोहिनी महिमा का अवश्यमेव नाश कर डालेगा' ऐसा समझकर भक्त के सामने से मारे लाज के आँखें बन्द किये भाग खड़ी होती है। यही बात श्रीकृष्ण भगवान् करुणासुधासिक्त शब्दों द्वारा गीता में कहते हैं—मेरी त्रिगुणात्मिका दिव्य शक्ति-धारिणी माया अत्यन्त प्रबल है। केवल मेरे भक्त ही इससे अपना पिण्ड छुड़ा सकते हैं। इससे पार पाना सबका काम नहीं।

ततो विधिनिषेधावपि नावश्यकौ। अत्रेदं तत्त्वम्। अहरहः सन्ध्यामुपासीत। सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहुयादित्यादीनि विधिशास्त्राणि। न सुरां पिबेन्न कलञ्जं भक्षयेदित्यादीनि निषेधशास्त्राणि। उभयानीमानीह निषिद्धविषयेभ्यो निवृत्त्य विहितविषयेषु प्रवर्तमानः पुरुषः शनैरन्तःपदशुद्धिसम्पादनेन भगवति मनो निवेश्य कृतार्थो भवेदित्येव तात्पर्यवन्ति प्रवृत्तानि भगवदभिनिविष्टमानसं पुमांसं विज्ञाय तु प्रयोजनाभावात्ततः स्वत एव निवर्तन्त इति।

साधक पुरुष जब उपर्युक्त दशा में जा पहुँचता है तब विधिशास्त्र और निषेधशास्त्र के कठोर बन्धनों से भी मुक्त हो जाता है; क्योंकि 'प्रतिदिन सन्ध्योपासन करे', 'सायङ्काल और प्रातःकाल अग्निहोत्र करे', 'सुरा न पिये', 'मृग का कच्चा मांस न खावे' इत्यादि विधिशास्त्रों तथा निषेधशास्त्रों का एकमात्र प्रयोजन यही है कि मनुष्य 'निषिद्ध कर्मों को छोड़कर शुभ कर्मों को करते-करते शनैः-शनैः हृदय शुद्ध हो जाने पर उसे भगवान् में संलग्न करके कृतार्थ हो'। अतएव जिस समय मनुष्य अपने मन को सब ओर से हटाकर भगवान् में लगा देता है उस समय पूर्वोक्त सभी विधिशास्त्र एवं निषेधशास्त्र, अपना-अपना

कार्य समाप्त हो जाने के कारण, स्वयमेव उससे अलग हो जाते हैं—इनकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

भगवन्तम्प्रति विष्णुपुराणे—

शास्त्रं नियामकं तावद्यावदस्ति कृपा न ते।
कृपया ते सुपूर्णस्य नैव किञ्चिन्नियामकम् ॥ इति।

तद्भक्तिरेव तत्कृपा। स्वयमेवैकादशे—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वाऽनपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥ इति।

श्रीशुकदेवोऽप्याह—

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः। इति।

सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे—

यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात्।
स वर्णानाश्रमान्सर्वानतीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥ इति।

श्रुतिराह—

वर्णाश्रमाभिमानेन श्रुतेर्दासो भवेन्नरः।
वर्णाश्रमविहीनश्च वर्तते श्रुतिमूर्द्धनि ॥

विष्णुपुराण में भगवान् के प्रति कहा है—शास्त्र-नियम की आवश्यकता तभी तक है जब तक आपकी कृपा (भक्ति) नहीं होती। आपकी कृपा होने पर कोई भी शास्त्र भक्तों को नियमन करने में समर्थ नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह कि भगवान् के जो भक्त अपने हृदय में दृढ़ भक्ति रखते हैं वे पूर्ण रूप से निर्भय हो जाने पर विधि-निषेध के नियम के वश में न होकर जगत्पिता की गोद में बैठ उसकी भक्ति में ही सदा निमग्न रहते हैं। यदि वे विधि-निषेध के नियमों का पालन भी करें तो उसका प्रयोजन केवल लोक-संग्रह ही समझना चाहिए; क्योंकि उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। इतना ही क्यों, वे तो अपनी भक्ति भी ईश्वर के अर्पण कर देते हैं—उसका फल तक नहीं चाहते।

भागवत के एकादश स्कन्ध में भगवान् ने कहा है कि मेरे जिन भक्तों को ज्ञाननिष्ठा तथा वैराग्य की प्राप्ति हो जाती है अथवा जो अपने हृदय में निरपेक्ष भाव को धारण कर चुके हैं उनके लिये सभी आश्रम और उनके परिचायक चिह्न व्यर्थ हैं। उन्हें विधि-निषेध के प्रपञ्च में न पड़ना चाहिए।

श्री शुकदेवजी ने भी कहा है कि सत्त्व रज और तम के प्रभाव से रहित, ज्ञान-मार्ग में विचरनेवाले पुरुषों के लिये विधि तथा निषेध कोई चीज नहीं।

सूत-संहिता के मुक्तिखण्ड में कहा गया है कि आत्मा का साक्षात् होने से जिसके वर्ण और आश्रम के आचार गलित हो गये हैं वह सम्पूर्ण वर्णों और आश्रमों का उल्लंघन करने पर भी अपनी आत्मा में स्थित है। श्रुति भी कहती है कि मनुष्य वर्ण एवं आश्रम के अभिमान में पड़कर वेद-शास्त्रों का दास स्वयमेव बन जाता है; किन्तु यह उसकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि भगवद्भक्ति मुख्य है, वर्ण-आश्रमभक्ति नहीं। अतः जो व्यक्ति वर्ण तथा आश्रम त्याग देने पर भी भगवद्भक्त है उसी को श्रेष्ठ समझना चाहिए।

शास्त्रमाह—

यावद्देहात्मविज्ञानं बाध्यते न प्रमाणतः।
प्रामाण्यं कर्मशास्त्राणां तावदेवोपपद्यते॥

अगस्त्य आह—

निमग्ना मानसी वृत्तिः शाश्वते यस्य केशवे।
यदृच्छया वर्तमानन्तं निषेद्धुं क्षमेत कः॥ इति।

अत्रैवं पठन्ति भगवत्ताताः—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसँव्वित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

हे मैत्रेय अस्मिन् श्रीवासुदेव इत्यर्थः। एतादृशं पुरुषप्रवरमवलक्ष्य वासाच्चवासोदानादिसेवनानुकूलतया वर्तमानाः कृतिनो जना ऊर्ध्वमारोहन्ति। द्विषन्तोऽधः पतन्तीति ब्रवीति श्रुतिः।

शास्त्र का कथन है कि जब तक 'देह ही आत्मा है' यह भ्रम प्रमाण द्वारा दूर नहीं होता तभी तक कर्म-शास्त्रों की प्रामाणिकता बन सकती है, आत्मज्ञान होने पर नहीं। अगस्त्यजी ने भी कहा है कि जिसकी मनोवृत्ति सनातन केशव भगवान् में लगी हुई है और जो स्वभावतः भगवान् की शरण में वर्तमान है उसको अपनी इच्छा के अनुसार चलने से कौन रोक सकता है? भगवान् के प्रिय भक्त इस प्रकार कहते हैं कि मैत्रेयजी! इस अपार, ज्ञानमय, सुख-समुद्ररूपी पर ब्रह्म (श्री वासुदेवजी) में जिसका चित्त लगा है उसका कुल पवित्र है, माता कृतार्थ है और उसके रहने से पृथिवी पुण्यवती है। ऐसे

श्रेष्ठ पुरुष को पाकर जो लोग निवास, अन्न, वस्त्र आदि के द्वारा उसकी सेवा करते हैं वे बड़े ही भाग्यवान् तथा स्वर्गलोक के भागी होते हैं। किन्तु ऐसा न कर जो लोग भगवद्भक्तों के साथ शत्रुता रखते हैं उनको नारकीय यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति। सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामिति।

यस्यानुभवपर्यन्ता तत्त्वे बुद्धिः प्रवर्तते।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः॥

इत्यादयः स्मृतयश्च तस्य महत्तमतामावेदयन्ति। एवंविध उग्रदेकान्तभक्तिपीयूषव्रततिसुभगस्तबकायमानविमलावबोधेन भगवत्स्वरूपानन्दानुभवरसमाधुरीधयनधीरो वसुन्धरासुधान्धा इह सद्भिः स बहुमानमभिवादनमर्हति। जीवन्मुक्तत्वात्। स्यादेतत्। यदि स्वस्मादसौ प्राचीनस्तर्हि सम्यगेव तस्याभिवादनम्। 'त्रिवर्षपूर्वः श्रोत्रियोऽभिवादनमर्हती'ति शास्त्रात्। स्वतोऽर्वाचीनस्य त्वभिवादनमधीतवेदवेदाङ्गानां वयोज्यायसां च न युक्तम्। नानमेद्वरवयसमिति वचनादिति चेत्।

श्रुति कहती है--जो व्यक्ति संसार के सम्पूर्ण प्रपञ्चों से पृथक् होकर भगवद्भजन में लीन रहता है उसके लड़के धन-धान्य पाते और मित्र सदाचार की शिक्षा लेते हैं; किन्तु उसके शत्रु सदाचार की शिक्षा न लेकर उसके बुरे कामों पर ही दृष्टि रखते हैं। 'जो पुरुष बुद्धि की सहायता से तत्त्व (ब्रह्म) का साक्षात्कार कर चुका है उसकी दृष्टि के सामने आनेवाले सभी व्यक्ति सब प्रकार के पापों से मुक्त हो जाते हैं।' इत्यादि स्मृतियाँ और श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञानी की महत्ता का वर्णन करती हैं। इस प्रकार का ज्ञानी भक्त भगवान् की एकान्त भक्ति द्वारा प्राप्त ज्ञान की सहायता से भगवत्स्वरूप के आनन्द का अनुभव कर लेने पर, जीवन्मुक्त की अवस्था में पहुँच जाने के कारण, सत्पुरुषों की दृष्टि में देवता-स्वरूप हो जाता है। वे लोग ऐसे महापुरुष को आदर के साथ अभिवादन करने लगते हैं। अस्तु, यहाँ पर शङ्का होती है कि वह ज्ञानी भक्त यदि आयु में बड़ा है तब तो उसको अभिवादन करना ठीक है क्योंकि 'अपने से तीन वर्ष बड़ा वेदपाठी अभिवादनीय है' ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है; किन्तु यदि आयु में अपने से छोटा है तो वह वेद-वेदाङ्ग के ज्ञाता वयोवृद्ध व्यक्तियों का

अभिवादनीय क्योंकर हो सकता है? इस विषय में 'अपने से छोटी अवस्था के व्यक्ति को प्रणाम न करे' यह शास्त्रीय वचन भी प्रमाण है।

अत्रोच्यते—यदि स्वधीतमपि वेदवेदाङ्गं यस्य भगवति रतिरूपं ज्ञानं नोत्पादयेत्तर्हि तस्योदरदरीपूरकशिल्पचातुरीमात्रं तन्न पुनः पुरुषार्थपर्यवसायि योग्यताचमत्कारजनकमिति वेदविदां सिद्धान्तात्। त्वदुदाहृतवचनं च न तावदेव। अपि तु गृहीतनियम इत्यन्तम्। अरे धूर्त कथमर्द्धजरतीयन्यायमभ्युपैषि। स्वयं गृहीतनियम ईश्वरनिष्ठापरायणश्चेदवरवयसं देवानाम्प्रियं कश्चिन्नानमेदित्यर्थपरं तन्न तु योग्यजनानतिनिषेधविषयमितीष्टापत्तिरेवास्माकम्। तथाहि—

उक्त शङ्का का समाधान इस प्रकार है—वेद-वेदाङ्ग का भली भाँति अध्ययन कर चुकने पर भी यदि उसके फल-स्वरूप भगवान् के प्रेममय ज्ञान की प्राप्ति न हो तो उक्त अध्ययन को अध्ययन न कहकर पेट पालने की शिल्प-चातुरी कहना ठीक होगा; क्योंकि वेदज्ञ विद्वानों के सिद्धान्तानुसार इस प्रकार के अध्ययन से मनुष्य को पुरुषार्थ-सिद्धि (मोक्ष-प्राप्ति) में कोई सहायता नहीं मिल सकती। अब रहा प्रणामनिषेध-परक पूर्वोक्त शास्त्रीय वचन, सो उसका तात्पर्य 'यज्ञ-सम्बन्धी धर्मों के पालन में तत्पर, भगवद्भक्ति-परायण, व्यक्ति के रहते छोटी उमर के किसी नितान्त मूर्ख को प्रणाम करने के निषेध में है, न कि किसी योग्य पुरुष को अभिवादन करने के निषेध में'। और 'छोटी उमर के मूर्ख व्यक्ति को प्रणाम न करना चाहिए' इस सिद्धान्त को हम मानते ही हैं। प्रणामनिषेधक वचन का जो निष्कर्ष हमने निकाला है उसका समर्थन निम्नलिखित वचनों से भी होता है—

ब्राह्मणं कुलसंपन्नं भक्तं विष्णोर्महात्मनः।
आयान्तं वीक्ष्य नोत्तिष्ठेत्स दुःखैरभिभूयते॥ इति।

अत्रैव धर्म्मशास्त्रमाह स्वायम्भुवो मनुः—

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्म्मतः॥ इति।

जमदग्निः—ज्ञानी विप्रः कनिष्ठोऽपि वन्द्योऽभ्यर्च्यश्च सर्वदा। इति।

महाभारते—

ज्ञानेन ब्राह्मणो वृद्धः क्षत्रियश्च बलाधिकः।
वैश्यो धनसमृद्धस्तु वयसा शूद्र एव च॥ इति।

कुलीन, भगवद्भक्त ब्राह्मण को सामने आते देखकर भी जो मनुष्य उसे आदर देने के लिये उठकर खड़ा नहीं होता उसको तरह-तरह के दुःख भोगने पड़ते हैं।

इसी विषय में स्वायम्भुव मनु कहते हैं कि वेदों को पढ़ानेवाला, धर्म का उपदेशक ब्राह्मण—बालक होने पर भी—वृद्ध पुरुष के लिये धर्म की दृष्टि से पिता के तुल्य है। महर्षि जमदग्नि ने भी कहा है कि ज्ञानी ब्राह्मण छोटा हो तो भी वह सदा वन्दन और पूजन के योग्य है। महाभारत में भी कहा है कि ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय बल से, वैश्य धन से और शूद्र केवल अवस्था से ही बड़ा गिना जाता है।

ब्राह्मणजातीयमात्रस्यापि पूर्वनमस्करणं मैत्रेयोपनिषदि—नमो वयं ब्रह्मबीजाय कुर्म्महे इति।

वृद्धतरमहर्षिमार्कण्डेयवृत्तान्तेनोपवर्ण्यते। किं पुनरेतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति श्रूयमाणपरमानन्दमूर्तिसाक्षात्कारवतो महानुभावस्य। तस्यैव तु परमकल्याणरूपस्य हन्त नन्तव्यो नाम नास्ति कश्चिदित्यूचुः पूज्यपादाः—

नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वाराज्ये चेत् स्थितोऽद्वयः।
प्रणमेत्कं तदा विद्वान्न कार्यं कर्मणा भवेत्॥ इति।

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतमिति भगवदुक्तेः किमतः परमतिवक्तव्यमस्तीत्यास्तां तावत्।

ब्राह्मण यदि अपने वर्ण के अनुरूप गुण-कर्मों से हीन हो तो भी अन्य वर्णों के व्यक्तियों की अपेक्षा वह सबसे पहले प्रणाम किये जाने के योग्य है, ऐसा मैत्रेयोपनिषद् के 'हम लोग ब्रह्मबीज (ब्राह्मण ?) को प्रणाम करते हैं' इस वचन से स्पष्ट है। वयोवृद्ध महर्षि मार्कण्डेयजी के उपाख्यान में ऋषि-मुनियों के 'ये महानुभाव तो परमानन्द-मूर्ति भगवान् का साक्षात्कार करके परम-कल्याण-स्वरूप हो चुके हैं अत: इनसे श्रेष्ठ कौन हो सकता है, जिसको ये प्रणाम करें। इस दशा में ये ही सब लोगों के द्वारा अभिवादन के योग्य हैं' इस कथन से भी यही बात सिद्ध होती है; तथा 'जिस समय ज्ञानी भगवद्भक्त, नाम-रूप आदि विकारों से रहित, स्वयंज्योतिर्मय सर्वव्यापक ब्रह्म के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव करने लग जाता है उस समय उसके लिये प्रणाम करने योग्य न तो कोई व्यक्ति ही रह जाता है और न कोई कर्तव्य

कर्म ही', 'ज्ञानी पुरुष तो मेरी आत्मा ही है'—महर्षियों और भगवान् के ये वचन भी पूर्वोक्त आशय की ओर सङ्केत करते हैं। अब इस विषय को, अधिक विस्तार न देकर, यहीं समाप्त कर देते हैं।

अत एवं प्रकारेण।

प्राप्तं प्राप्तं तु सेवेत ह्युपेक्षेत गतं गतम्। इति स्मृतेः।
नाभिवाञ्छाम्यसम्प्राप्तं सम्प्राप्तं न त्यजाम्यहम्॥
स्वस्थ आत्मनि तिष्ठामि यन्ममास्तु तदस्तु मे।

इति जनकोक्तन्यायाच्च प्रारब्धभोगमात्रोपयुक्तं यथोचितं यथेष्टं व्यवहरन्तोऽपि तदनासक्तया धिया भगवति परं मनो निवेश्य समयं गमयन्तो यूयमिव यूयमेव भवितास्थ भविका भोः—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

विचारशील सज्जनो! आप लोग पूर्वोक्त रीति से तथा 'मनुष्य प्राप्त वस्तु का उपभोग अवश्य करे परन्तु वही वस्तु यदि समय पाकर नष्ट हो जाय तो उसके लिये चिन्तित भी न हो', 'मैं न तो अप्राप्त वस्तु की इच्छा ही करता हूँ और न प्राप्त वस्तु को त्यागने के लिये तैयार ही हूँ, इसी लिये निश्चिन्त होकर आत्म-चिन्तन में दत्तचित्त रहता हूँ क्योंकि जो वस्तु मुझे (कर्मों के फल-स्वरूप) मिलनेवाली है—मेरी है—वह मुझको मिलेगी ही, फिर चिन्ता किस बात की?' राजा जनक की इस उक्ति एवं ऊपर के स्मृति-वचन के अनुसार लौकिक व्यवहारों को प्रारब्ध कर्मों का, भोग द्वारा, क्षय करने के लिये अनासक्त बुद्धि से उन्हें करते रहकर भी यदि अपना समय भगवान् के चिन्तन में व्यतीत करेंगे तो असाधारणता—सर्वश्रेष्ठता—की प्राप्ति में अवश्यमेव सफल होंगे; क्योंकि कृष्ण भगवान् कहते हैं—अर्जुन! जो व्यक्ति मन की सहायता से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त भाव से कर्म करता है वही श्रेष्ठ है।

अत्रैवमुपदिशन्ति महान्तः—यथावदाहायनमनुष्ठितो बाह्यधर्म्मविधिरन्तर्निष्ठैकघटिकायाः षोडशीमपि कलां न कल्पतेऽनुकर्तुम्। यस्याजस्रं चेतो भगवति रमते तस्य व्यावहारिकमपि भाषितं भगवतः कीर्तनतां समापद्यते। कर्म च परिचरणतामिति, न हि भगवदुपसत्तौ क्लेशलेश ऋत्वथर्त्तिर्वा। केवलाऽनुरागरसानुसवनसमुन्मनस्तामात्रेण तत्प्रसत्तेः।

लभ्यते नार्थदानेन भावगम्यो जनार्दनः ।—इति भीष्मवचनात् ।

प्रह्लादोऽपि—मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥ इति ।

न च देवान्तरस्येव नानोपचारार्चनाडम्बरेणैव भगवतोऽपि तोषो भवेदिति मन्तव्यम् ।

बड़े लोग भी इस विषय में यही कहते हैं—यदि देवताओं का पूजन एक वर्ष तक यथाविधि किया जाय तो भी वह आत्मनिष्ठ व्यक्ति की एक घड़ी के सोलहवें भाग की बराबरी नहीं कर सकता। इतना ही क्यों, भगवान् के चिन्तन में दत्तचित्त रहनेवाले आत्मनिष्ठ पुरुष की साधारण बातचीत भी भगवत्कीर्तन के रूप में परिणत हो जाती है और उसके सम्पूर्ण कर्म भगवान् की सेवा का रूप प्राप्त कर लेते हैं। न तो उसे भगवान् की प्राप्ति में तनिक भी क्लेश उठाना पड़ता है और न धन की क्षति ही अखरती है। क्योंकि भगवत्प्राप्ति केवल प्रातः मध्याह्न और सायं समय प्रेमपूर्वक भजन करने से ही हो सकती है। 'न तो धन के देने से भगवान् प्रसन्न होते हैं और न प्राप्त ही हो सकते हैं, वे तो प्रेम से ही जाने जा सकते हैं।' भीष्मजी के इस वचन से भी उक्त अर्थ प्रकाशित होता है। प्रह्लादजी भी कहते हैं कि धन, अभिजन, रूप, तप, श्रुत (शास्त्र), बल, तेज, प्रभाव, ओज (विशेष बल), पौरुष और बुद्धि के योग से परमपुरुष प्रसन्न नहीं हो सकते—उनको प्रसन्न करने का साधन केवल भक्ति ही है, तभी तो वे गजराज पर उसकी भक्ति से प्रसन्न हो गये थे। यह कभी न मानना चाहिए कि अन्य देवताओं के समान नाना उपचारों और अर्चन के आडम्बर से ही भगवान् को सन्तोष होता है।

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च ।
विक्रीणीतेऽयमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥ इति पञ्चमवेदोक्तेः ।
स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति । इति सुदामदाराः ।

सुदामानम्प्रति स्वयमपि—
अण्वप्युपहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्य्येव मे भवेत् ।
भूर्य्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥ १ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २ ॥

गृह्णामीति वक्तव्ये अश्नामीत्युक्तिर्भक्तवात्सल्यातिशयं प्रकाशयति । नरकान्प्रति पापिनं नयन्तः कशापाशावेदनया क्रन्दन्तन्तं 'क धनं क सुता जाया क सुहृत्क त्वमीदृश' इत्यादि परुषवचनैस्तर्जयन्तोऽन्तकभटाश्च गरुडपुराणे बभणुः—

अभावे सर्ववस्तूनां सलिलेनापि योऽर्चितः ।
प्रागेव दिशति स्थानं स त्वया किं न पूजितः ॥ इति ।

'केवल तुलसीदल से तथा जल के चुलुक (चुल्लू) मात्र से भक्तवत्सल भगवान् भक्तों के लिये अपनी आत्मा समर्पण कर देते हैं', इस पञ्चम वेद की उक्ति से भक्ति ही भगवान् को प्रिय प्रतीत होती है। भक्त सुदामा की स्त्री कहती है कि भगवान् ध्यान करनेवालों को अपनी आत्मा समर्पण करते हैं।

सुदामा के प्रति भगवान् ने स्वयं कहा है कि भक्तों द्वारा प्रेमपूर्वक अर्पित थोड़ी सी वस्तु ही मेरे लिये बहुत हो जाती है किन्तु भक्तहीन व्यक्ति श्रद्धा से रहित होकर यदि बहुत सी वस्तुएँ भी अर्पित करें तो मैं सन्तुष्ट नहीं हो सकता। 'शुद्धात्मा व्यक्ति भक्ति के साथ यदि पत्र, पुष्प, फल एवं जल आदि भी मुझे अर्पण करता है तो मैं बड़े प्रेम से उक्त वस्तुओं को स्वीकार कर लेता हूँ।' इस श्लोक में "अश्नामि" पद को त्यागकर "गृह्णामि" कहने से भगवान् भक्त पर प्रेमातिशय प्रकाशित करते हैं। यमराज के दूत पापी को नरक में ले जाते समय—जब वह कोड़ों की मार और बन्धनों की असह्य वेदना से चिल्लाता रहता है—उससे घुड़क-घुड़ककर पूछते हैं कि अरे नीच! इस समय तेरा धन, स्त्री, पुत्र और मित्र कहाँ हैं? वे सब यहाँ आकर तुझे क्यों नहीं बचाते? जो भगवान् पूजा की अन्य सब वस्तुओं के अभाव में जलमात्र से पूजित होने पर भी पूजा करनेवाले के मरने से प्रथम ही उसके लिये स्थान निर्दिष्ट कर देते हैं, उनकी पूजा तूने क्यों नहीं की?

न च भगवत्सेवने विघ्नसम्भावना काचित्। तस्य हन देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवतीति श्रुत्यैव तस्या निरस्तत्वात्। अयमर्थः— हनेत्यव्ययमप्यर्थे। भिन्नक्रमं च। तदेषां न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुरिति। विघ्नहेतवश्च देवा हन अपि तस्य परमार्थतत्परस्य पुंसः अभूत्यै परमार्थ-

प्राप्तिप्रतिबन्धाय न ईशते शक्ता न भवन्ति। हि यस्मात्स एषां देवाना-
मात्मा भवति। न ह्यात्मैवात्मनो विघ्नं क्वचिदाचरतीति भावः। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्यत' इतीयं महागवी च कालबाहुल्यशङ्कामपि निराकरोति। तदेवमनायासतः सर्वत एवानन्दकन्दनं भगवद्भजनं यस्मै न रोचते सोऽसौ जडधीचुञ्चुश्चश्चैवेति दिक्। न पुनरत्र विलम्बनीयम्।

> जन्मावलिशताभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः।
> सुचिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥

इति वशिष्ठरामायणात्। कालकर्मवशवर्तिन्यतर्कितपतने पाञ्चभौतिके पिण्डे न विस्रम्भणीयम्। यदाह भर्तृहरिः—

भगवान् की सेवा करने में किसी विघ्न की सम्भावना भी नहीं है। उनकी सेवा में तत्पर मनुष्य के कार्य में देवता लोग भी अभूति (परमार्थ-प्राप्ति का प्रतिबन्ध) करने में समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि 'वह देव—विष्णु परमात्मा—सब देवताओं की आत्मा है और आत्मा स्वयं अपने कार्य में कभी विघ्न नहीं करती।' इस श्रुति से भगवत्सेवा में विघ्नों का न होना बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। 'जीव जब तक मुक्त नहीं होता तभी तक ब्रह्म से अलग है; मुक्त होते ही वह ब्रह्म में लीन हो जाता है।' यह महावाणी कालबाहुल्य की शङ्का का भी निराकरण कर देती है। इतने पर भी जिस पुरुष को अत्यन्त सुलभ तथा सब तरह से आनन्दकन्द भगवद्भजन अच्छा नहीं लगता वह अत्यन्त मूर्ख और केवल काठ का पुतला है।

भगवद्भक्ति का यह दिग्दर्शनमात्र किया गया है, अतएव मनुष्य को विलम्ब न कर शीघ्र से शीघ्र भक्ति-मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। क्योंकि 'वशिष्ठ रामायण' में वशिष्ठजी रामचन्द्रजी से कहते हैं कि प्यारे राम! सैकड़ों जन्मों का यह सुदृढ़ जन्म-मरण का चक्कर चिरकालीन अभ्यासयोग के बिना कदापि नहीं छूट सकता; अर्थात् अनेक जन्मों के सञ्चित पुण्यों द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होने से भगवत्परायण होने पर ही इसका नाश होता है। और काल एवं कर्म के अधीन पाँच भूतों से रचित, सहसा नष्ट होनेवाली, इस देह का विश्वास ही क्या?

> वयं येभ्यो जाताश्चिरतरगता एव खलु ते
> समं यैः संवृद्धाः स्मरणपदवीं तेऽपि गमिताः।

इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ॥ इति ।

अतोऽप्रमत्तैः समाहितैर्यथाऽवकाशं ब्राह्ममुहूर्तादौ ध्यानाभियोगः कर्तव्य एव । एवं ध्यातुमजानानानां जनानामपि निरन्तरपरमानुरागतद्रुतचेतसां भगवन्नामसङ्कीर्तनेनैव कृतकृत्यता निर्विवादैवेत्यनुपदमेवोदाहरिष्यते ।

भर्तृहरिजी ने कहा है कि जिनसे हम उत्पन्न हुए उनको गये बहुत समय हो गया तथा जिनके साथ रहकर हम लोग इतने बड़े हुए वे सभी स्मृति के गर्भ में लीन हो गये, अब हम लोग भी नदी के रेतीले किनारे पर स्थित वृक्षों के समान न जाने कब चल बसें ! अतएव मनुष्यों को सावधान हो यथासमय ब्राह्म मुहूर्त आदि के समय उठकर भगवान् का ध्यान अवश्य करना चाहिए । जो लोग इस प्रकार ध्यान करना नहीं जानते किन्तु अपने मन में सदा भगवान् पर परमानुराग रखते हैं वे भगवन्नाम के कीर्तन-मात्र द्वारा निर्विवाद रूप से कृतकृत्य हो जाते हैं, इस बात को हम आगे चलकर शीघ्र ही बतलावेंगे ।

सङ्कीर्तनप्रकारं चेत्थं सन्तोऽनुशासति—श्रीवासुदेवो जयति ।३। श्रीवासुदेव एवैकः ।३। वासुदेवो मम स्वामी ।३। वासुदेवो मम गतिः ।३। वासुदेवो मां त्राता ।३। वासुदेवं चिन्तयामि ।३। वासुदेवं कीर्तयामि ।३। वासुदेवं भजे ।३। वासुदेवेन पालितोऽस्मि ।३। वासुदेवेन संवर्द्धनीयोऽहम् ।३। वासुदेवाय नमः ।३। नमो वासुदेवाय ।३। वासुदेवान्मम सुखम् ।३। वासुदेवादन्यः कोऽपि मम नास्ति ।३। वासुदेवस्य दासोऽहम् ।३। वासुदेवस्य यशो मम जीवनम् ।३। वासुदेवे मन्मतिरस्तु निश्चला ।३। वासुदेवे मन्मनो रमताम् ।३। भो वासुदेव जय जय ।३। हे वासुदेव मां पाहि ।३। वासुदेव मम पापं नाशय ।३। वासुदेव मम तापं शमय ।३। वासुदेव ममापराधं क्षमस्व ।३। वासुदेव मम शरणं भव ।३। वासुदेव मामनुगृहाण ।३। वासुदेव ममाभीष्टं देहि ।३। वासुदेव मयि प्रसीद ।३। वासुदेव भगवन् भक्तवत्सल दयानिधे दीनबन्धो ।३। नमः श्रीकृष्णाय विष्णवे ।३। श्रीकृष्णाय नमो विष्णवे ।३। श्रीकृष्णाय विष्णवे नमः ।३। हरये परमात्मने नमः ।३। हरये नमः परमात्मने ।३। परमात्मने नमो हरये ।३। इत्थं क्रमेण एकैकशो द्वन्द्वशो वा यथारुचि अच्युतअनन्तअधोक्षज-

आदिपुरुषवेदपुरुषयज्ञपुरुषपरमपुरुषमहापुरुषपुरुषोत्तमपद्मनाभनारायणचक्रपाणिचतुर्भुजगरुडध्वजपीताम्बरघनश्यामलक्ष्मीकान्तजगन्नाथहृषीकेशकेशवमाधवमधुसूदनकैटभकर्शनजनार्दनजगदीश्वरमुकुन्दगोविन्दमुरहरमुरलीधरदामोदरवासुदेवानन्दकन्दनदेवकीशावकनन्दनन्दनयशोदावत्सलमथुरानाथगोकुलविहारिवृन्दावनविलासिगोपीजनजीवनराधावल्लभगोवर्द्धनधारिवनमालिकालियदमनकंसमर्दनशिशुपालदलनपाण्डवमण्डनशैब्यसुग्रीवमेघपुष्पवलाहकवाहनविजयमालिरथचारिदारुकसारथिभवभयभञ्जनभक्तजनमनोरञ्जनरुक्मिणीरमणकौस्तुभभूषणद्वारकानायकयदुपतियादवेन्द्रकृष्णचन्द्रश्रीपतीत्यादिनाम्नां प्रांशु वा उपांशु वा मनसा वा जपन्निव पठन्निव कथयन्निव गायन्निव दिवानिशं परमेण प्रेम्णा पुनः पुनरावर्तनमिति।

सन्त-महात्मा लोग भगवान् के नाम-कीर्तन की रीति इस प्रकार बतलाते हैं— श्री वासुदेव भगवान् सबसे श्रेष्ठ, एक, मेरे स्वामी, मेरी गति तथा मेरे रक्षक हैं। मैं उन्हीं का चिन्तन, कीर्तन और भजन करता हूँ। श्री वासुदेव भगवान् से ही मेरी रक्षा और वृद्धि है। उनको मेरा बारम्बार नमस्कार है। उनकी जय हो। श्री वासुदेव से ही मुझको सुख प्राप्त है। उनसे भिन्न कोई भी मेरा नहीं है। मैं उनका दास हूँ। श्री वासुदेव का यश मेरा जीवन है। उनमें मेरी बुद्धि निश्चल हो। उन्ही में मेरा मन मग्न रहे। भगवन् वासुदेव! आपकी जय हो, आपकी जय हो। मेरे पापों का नाश और मेरी रक्षा कीजिए। प्रभो! मेरे ताप का शमन कीजिए। मेरा अपराध क्षमा कीजिए। भगवन्! मेरी रक्षा कीजिए। मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिए। मुझे अभिलषित फल दीजिए। आप मुझ पर प्रसन्न हों। भगवन्! आप भक्तवत्सल, दयानिधि, दीनबन्धु, श्रीकृष्ण-रूप और विष्णुरूप हैं। आपको नमस्कार हो। श्रीकृष्ण-रूप विष्णु को बार-बार नमस्कार हो। हरि परमात्मा को नमस्कार हो। हरि को नमस्कार हो और परमात्मा को नमस्कार हो। परमात्मा को नमस्कार हो और हरि को नमस्कार हो। इस प्रकार क्रम से एक-एक अथवा दो-दो तथा यथारुचि अच्युत से लेकर श्रीपति प्रभृति पर्यन्त नामों का ऊँचे स्वर से किंवा उपांशु (दूसरा न सुने ऐसे) रूप में अथवा मन में जप, पाठ, कीर्तन और गान करता हुआ, जैसे हो तैसे, दिन-रात बारम्बार आवृत्ति करे। आवृत्ति के नाम ये हैं—अच्युत, अनन्त, अधोक्षज, आदिपुरुष, वेदपुरुष, यज्ञपुरुष, परमपुरुष, महापुरुष, पुरुषोत्तम, पद्मनाभ, नारा-

यश, चक्रपाणि, चतुर्भुज, गरुड़ध्वज, पीताम्बर, घनश्याम, लक्ष्मीकान्त, जगन्नाथ, हृषीकेश, केशव, माधव, मधुसूदन, कैटभकर्शन, जनार्दन, जगदीश्वर, मुकुन्द, गोविन्द, मुरहर, मुरलीधर, दामोदर, वासुदेव, आनन्द-कन्दन, देवकीशावक, नन्द-नन्दन, यशोदावत्सल, मथुरानाथ, गोकुलविहारी, वृन्दावनविलासी, गोपीजन-जीवन, राधावल्लभ, गोवर्द्धनधारी, वनमाली, कालियदमन, कंसमर्दन, शिशुपाल-दलन, पाण्डवमण्डन, शैब्य-सुग्रीव-मेघपुष्प-बलाहक-वाहन, विजयमाली, रथ-चारी, दारुकसारथि, भवभयभञ्जन, भक्तजनमनोरञ्जन, रुक्मिणीरमण, कौस्तुभ-भूषण, द्वारकानायक, यदुपति, यादवेन्द्र, कृष्णचन्द्र और श्रीपति प्रभृति।

अथावताराः कीर्तनीयाः। ते चाऽनुपूर्व्याऽत्र निर्दिश्यन्ते। सत्य-ज्ञानानन्तलक्षणस्य सच्चिदानन्दघनज्योतीरूपस्यानादिपुरुषस्य निर्वाणनग-रीनायकस्य श्रीकृष्णस्य निर्गुणस्यैव सत एकोऽहं बहु स्यामितीक्षितवतो निमित्तभूतस्य लीलया मायामुद्भाव्य ततस्त्रिगुणमहदहमादिद्वारा सर्गादि-विधित्सोरुपादानभूतां चतुर्व्यूहप्रथमां श्रीवासुदेवतामङ्गीकृतवतो भगवतः प्रथमः पुरुषावतारः। प्रकृतिमधिष्ठितवतो यत इदं विश्वमासीत्। ततः सृष्टिस्थितिसंहारहेतवो रजःसत्त्वतमोगुणावतारा ब्रह्मविष्णुशङ्कराः।

इसके अनन्तर अवतारों का वर्णन किया जाता है। वे सब अवतार क्रमशः ये हैं—सत्यज्ञान-अनन्तरूप, सच्चित्, आनन्दघन, ज्योतिरूप, अनादिपुरुष, मोक्ष-रूपी नगरी के नायक, 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, इस प्रकार विचार करनेवाले', संसार की उत्पत्ति के निमित्तकारण, निर्गुण ब्रह्मस्वरूप भगवान् का—अपनी लीला से माया को उत्पन्न करके सत्त्व, रज, तम गुण एवं महत्तत्त्व, अहंकारादि के द्वारा संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करने के लिये संसार के उपादान कारण-स्वरूप बलराम, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा श्रीकृष्ण, इस चतुर्व्यूहावतार में सबसे पहला, श्री वासुदेव-स्वरूप को धारण कर—जो अवतार हुआ वह पुरुषावतार है। इसी अवतार से माया के द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ। इसके अनन्तर सृष्टि, स्थिति और संहार के कारण ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर, ये तीन—रजोगुणी, सत्त्वगुणी तथा तमोगुणी—अवतार हुए।

अथ तत्तत्समये देवतावर्गसहायतया भुवनत्रयाभिरक्षणव्याजरिरंसया भगवता धृताः शुद्धसत्त्वावतारास्तावत्—हयग्रीवसनत्कुमारनारदहंसवा-राहकपिलयज्ञदत्तात्रेयनरनारायणभक्तवत्सलपृश्निगर्भऋषभपृथुविभुसत्य -

सेनहरिवैकुण्ठाजितकूर्मधन्वन्तरिमोहनीमत्स्यबालमुकुन्दनरसिंहवामनपरशु - रामरामचन्द्रवेदव्यासबलरामबौद्धकल्किसार्वभौमऋषभामूर्त्तिधर्मसेतुस्वधा - मयोगेश्वरबृहद्भानव इत्यष्टत्रिंशत् । पूर्वैः सह चतुर्भिस्तु द्विचत्वारिंशत् ।

इसके पश्चात् समय-समय पर भगवान् ने, देवताओं की सहायता से, त्रिलोकी की रक्षा को निमित्त बनाकर अनेक लीलाएँ करने के लिये हयग्रीव, सनत्कुमार, नारद, हंस, वाराह, कपिल, यज्ञ, दत्तात्रेय, नर-नारायण, भक्त-वत्सल, पृश्निगर्भ, ऋषभ, पृथु, विभु, सत्यसेन, हरि, वैकुण्ठ, अजित, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहनी, मत्स्य, बालमुकुन्द, नरसिंह, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, वेदव्यास, बलराम, बौद्ध, कल्कि, सार्वभौम, ऋषभामूर्ति, धर्मसेतु, स्वधाम, योगेश्वर और बृहद्भानु—ये अड़तीस अवतार लिये और यदि पहले चार अवतारों को भी इनके साथ जोड़ लिया जाय तो इनकी संख्या बयालीस हो जाती है।

सर्वेभ्यस्तेभ्यो नमो नमः । एते च प्राधान्येनैवात्र कीर्तिताः । न तु साकल्येन । पुराणान्तरोपपुराणेषु पठितास्तत्र तत्रासुरकृतोपतापविप्लवाय धृता महामोहमहामार्जारादयोऽवान्तरावतारास्तु मन्वादयो विभूतय इवानन्ततया गणयितुमशक्या एवेति तत्त्वपारगैस्तपोधनेन्द्रैरप्यपक्रान्तम् । मद्विधास्तु जन्तवः कियन्तः ।

हयग्रीव आदि इन सब अवतारों को बारम्बार नमस्कार है। यहाँ पर यह मुख्य-मुख्य अवतारों का वर्णन किया गया है, सबका नहीं; क्योंकि पुराणों और उप-पुराणों में भिन्न-भिन्न स्थलों पर असुरों के उपद्रवों का नाश करने के लिये धारण किये गये महामोह महामार्जार आदि अनेक अवतार वर्णित हैं, और मन्वादि अवान्तर-अवतार तो भगवान् की विभूतियों के समान अनन्त होने के कारण असंख्य हैं। इसी लिये तत्त्वदर्शी तपोधन ऋषियों ने भी इस विषय पर लेखनी नहीं उठाई। फिर भला हमारे जैसे अल्पबुद्धि व्यक्ति बोलनेवाले कौन होते हैं?

तत्र भक्तवत्सलो ध्रुवानुकम्पी । पृश्निगर्भो भक्तानां कामपूरकः । बालमुकुन्दो मार्कण्डेयानुग्राही । अथैते पुनारसिकैरेवं विविच्यन्ताम् । आविर्भावतिरोभावशून्यत्वात्कूटस्थः पुरुषावतारश्चिरन्तनतरः । नारायणः पद्मनाभोऽपि स एव । तयोश्चार्थो गोविन्दगुणानन्देऽस्माभिरनेकधा व्या-

ख्यातः । गुणावताराश्चिरन्तनाः । हयग्रीवोऽपि तादृगेव । एकार्णवे नाभिपद्मस्थ एव परमेष्ठिनि जातत्वात् । कुमारादयस्त्रयः सर्गोपक्रमे । तत आद्यो मनुरभूत्स्वायम्भुवः । तदन्तरेऽवतारा वाराहमारभ्य पृथुपर्यन्ता नव ।

इनमें से ध्रुव पर दया करनेवाला अवतार भक्तवत्सल है तथा भक्तों की कामना पूर्ण करनेवाले को पृश्निगर्भ कहते हैं और मार्कण्डेयजी पर अनुग्रह करनेवाला अवतार बालमुकुन्द है। अवतारों के सम्बन्ध में इतना और ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् का जो सबसे पहला पुरुषावतार है वह आविर्भाव एवं तिरोभाव से रहित होने के कारण कूटस्थ (निर्विकार) और अत्यन्त पुरातन है। इसी को पद्मनाभ नारायण भी कहते हैं। इन दोनों अवतारों का प्रयोजन हमने अपने 'गोविन्द-गुणानन्द' में विस्तार के साथ दिखलाया है। गुणावतार भी बहुत प्राचीन हैं। हयग्रीव अवतार भी अति प्राचीन है। क्योंकि जिस समय समुद्र के सिवा और कुछ न था तथा ब्रह्माजी विष्णु भगवान् के नाभिकमल में बैठे थे उसी समय हयग्रीवावतार हुआ है। कुमार, नारद तथा हंस—ये तीनों अवतार सृष्टि के आरम्भ में हुए हैं। इसके अनन्तर आदिम स्वायम्भुव मनु की उत्पत्ति हुई। स्वायंभुव मन्वन्तर में वाराह से लेकर पृथु पर्यन्त नौ अवतार हुए।

स्वारोचिषे उत्तमे तामसे रैवते चान्तरे विभ्वादयो वैकुण्ठान्ताः क्रमादेकैकशः । चाक्षुषेऽन्तरे अजितादयो मत्स्यावसानाः पञ्च । अस्मिन्वैवस्वतेऽन्तरे बालमुकुन्दमुपादाय कल्किचरमा नव । अष्टमो मनुः केवलः सावर्णिः । नवमादयस्तु षट् दक्षब्रह्मधर्मरुद्रदेवेन्द्रपूर्वकाः सावर्णयः । तदन्तरेषु च सार्वभौमादयो बृहद्भानुपर्यन्ताः क्रमादेकैकश इति चतुर्दशमन्वन्तरमानकल्पसमाप्तिः । एवं विमृश्य नित्यमनुकीर्तनादाकल्पं भगवान्प्रकीर्तितो भवतीति रहस्यम् ।

स्वारोचिष, उत्तम, तामस एवं रैवत नाम के मन्वन्तरों में विभु से लेकर वैकुण्ठ-पर्यन्त क्रमशः चार अवतार हुए। इसी प्रकार चाक्षुष मन्वन्तर में अजित से लेकर मत्स्य तक पाँच अवतारों का आविर्भाव हुआ। इस वैवस्वत मन्वन्तर में बालमुकुन्द से लेकर कल्कि-पर्यन्त नौ अवतार प्रकट हुए। आठवाँ मनु केवलसावर्णि है। नवम से लेकर दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि तक इन मन्वन्तरों में सार्वभौम से लेकर बृहद्भानु पर्यन्त क्रम से सब मिलाकर स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम,

तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, केवलसावर्णि, देवसावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि और इन्द्रसावर्णि ये चौदह मन्वन्तर हैं। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार इन मन्वन्तरों का विचारपूर्वक नाम लेने से कल्पव्यापी भगवत्कीर्तन का फल मिलता है।

अपि च देवराजोऽपि भागवतोऽवतार एव—

त्रैलोक्यरक्षणार्थाय सह रुद्रेण वेधसा।
सम्प्रार्थितो महाविष्णुरंशेनेन्द्रो बभूव ह ॥ इति भारतात्।
असुराणां रणे हन्ता शासिता त्रिदिवौकसाम्।
भोक्तादौ यज्ञभागानामिन्द्रो मूर्तिर्मधुद्विषः॥ इति पुराणान्तराच्च।

विष्णुव्यतिरिक्तस्य तादृशः प्रभावोऽसम्भावनीय इति भावः। भाष्यकारैरपीन्द्रः परमेश्वर इति व्याकृतम्। इदि परमैश्वर्ये इति धातोः खलु रन्त इन्द्रशब्द इत्यवतारप्रसङ्गः।

इन्द्र भी भगवान् का ही अवतार है; क्योंकि 'त्रिलोकी की रक्षा करने के लिये, रुद्र और ब्रह्माजी के प्रार्थना करने पर, महाविष्णु ही अंशावतार-रूप से इन्द्र हुए' ऐसा महाभारत का प्रमाण है। रण में असुरों के संहारक, देवताओं के शासक, यज्ञ-भागों के सर्वप्रथम भोक्ता इन्द्र भगवान् की ही मूर्ति हैं, पुराण का यह वचन भी यही बतलाता है। निष्कर्ष यह है कि विष्णु के अतिरिक्त किसी अन्य देवता का वैसा प्रभाव हो ही नहीं सकता, जैसा इन्द्र का वर्णन किया गया है। भाष्यकारों ने भी इन्द्र शब्द को परमेश्वर का पर्य्यायवाचक सिद्ध किया है। अतएव सिद्ध हुआ कि इन्द्र विष्णु का ही अवतार है।

प्रणवादिनमःपूर्वकचतुर्थ्यन्तं भगवन्नामपदं महामन्त्रो भवतीति मन्त्रशास्त्रप्रसिद्धिः। ओं नमो वासुदेवाय, ओन्नमो नारायणाय, ओन्नमः कृष्णाय इत्येवम्। नमस्कारस्यैव यज्ञत्वमाश्वलायनो विदधे—यो नमसा सोऽध्वर इति।

अवतारों के स्वरूप का दिग्दर्शन कराने के उपरान्त महामन्त्र के स्वरूप को दिखलाया जाता है—यदि भगवान् के नामों के आगे चतुर्थी विभक्ति लगाने के पश्चात् उनके पूर्व में क्रमशः ओङ्कार और नमः शब्द जोड़ दिया जाय तो महामन्त्र बन जाता है, जैसे 'ओ३म् नमो वासुदेवाय,' 'ओ३म् नमो नारायणाय,' 'ओ३म् नमः कृष्णाय' इत्यादि। महर्षि आश्वलायन ने नमस्कार को यज्ञस्वरूप कहा है—'नमस्कार से जो सम्पादन किया जाता है उसका नाम यज्ञ है।'

अत्र नामसङ्कीर्तनविषये परमाद्भुतप्रभावान्मन्त्रभेदानुदाहरन्ति मन्त्रविदः पौराणिकाः—

नमस्तेऽग्र्यौ ते नमोऽन्त्यौ वासुदेवौ तु ङेयुतौ ।
षोडशाक्षरमन्त्रोऽयं जपतां मुक्तिदायकः ॥
नमस्ते वासुदेवाय वासुदेवाय ते नमः ॥ इति ।
आदौ सम्बोधयेत्कृष्णं केशवं तदनन्तरम् ।
कंसारिं चाष्टवर्णोऽयं मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥
कृष्ण केशव कंसारे इति ।

गोविन्द नारायण वासुदेव कृष्णेति सम्बोध्य सदा जपन्ति ।
त्रयोदशार्णो मनुरद्भुतोऽयं धर्मार्थकामैः सह मोक्षदायी ॥
स्पष्टोऽयम् ।

श्रियं रामं जयं रामं द्विर्जयं राममीरयेत् ।
त्रयोदशाक्षरो मन्त्रः सर्वसिद्धिकरः स्मृतः ॥
श्रीराम जय राम जय जय राम इति ।

ब्रह्मवैवर्ते श्रीवसुदेवं तातम्प्रति स्वयमुपदिष्टः श्लोकमन्त्रः—

राम नारायणानन्त मुकुन्द मधुसूदन ।
कृष्ण केशव कंसारे हरे वैकुण्ठ वामन ॥ इति ।

नाम-महिमा के मर्मज्ञ पौराणिक विद्वान्, नाम-सङ्कीर्तन के विषय में, नाम-मन्त्रों के स्वरूप का भिन्न-भिन्न रूप से वर्णन करते हैं—'वासुदेवाय वासुदेवाय' शब्द के पहले 'नमस्ते' तथा अन्त में 'ते नमः' शब्दों के जोड़ने पर बने हुए 'नमस्ते वासुदेवाय वासुदेवाय ते नमः' सोलह अक्षरों के इस मन्त्र का जो लोग जप करते हैं उनको इसके प्रभाव से सहज ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

सबसे पहले कृष्ण को, तदनन्तर केशव और कंसारि को संबोधित करने से अष्टाक्षर (कृष्ण ! केशव ! कंसारे !) मन्त्र बन जाता है। यह सब अर्थों का साधक है। गोविन्द ! नारायण ! वासुदेव ! कृष्ण ! इन नामों द्वारा भगवान् को संबोधित करके जब भक्त उनको जपते हैं तब इन्हीं तेरह अक्षरों का (गोविन्द ! नारायण ! वासुदेव ! कृष्ण !) यह अद्भुत मन्त्र हो जाता है। इसका जप करने से मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति हो जाती है। प्रथम श्री, तदनन्तर राम, उसके बाद जय राम, फिर

जय जय, तदनन्तर राम कहने से तेरह अक्षरों का ('श्रीराम जय राम जयजय राम' यह) मन्त्र बन जाता है, जो सब सिद्धियाँ देता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में अपने पिता श्री वसुदेव के प्रति स्वयं भगवान् ने 'राम नारायण अनन्त मुकुन्द मधुसूदन। कृष्ण केशव कंसारे हरे वैकुण्ठ वामन।' इस श्लोक-मन्त्र का उपदेश किया है।

यस्य कस्यापि श्रीकृष्णवाचकशब्दस्य महामन्त्रत्वमभाणि धरणीफणीन्द्रेण ब्रह्माण्डपुराणे—

सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्त्या तु यत्फलम्।
एकावृत्त्या तु कृष्णस्य नामैकं तत्प्रयच्छति॥ इति।

वाचंयमचक्रशतक्रतवोऽप्यन्वशासुः—

अच्युतेति मनः पूतमनन्तेति वचः पुनः।
गोविन्देति वपुः पूतं ज्ञाताज्ञातैश्च पातकैः॥ इति।

अतोऽच्युतानन्त गोविन्देति ङेनमोऽन्तानि च पौनःपुन्येन नित्यश आवर्तयन् पुमान् दैवीं मायामतिक्रामतीति श्रीमतामस्मद्वेदान्तगुरुचरणानाममृतवर्णधोरणी। कीर्तनविषयत्वाद्तेषां जप एव, न तु न्यासाद्यपेक्षेति च।

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वा।
यत्र गायन्ति मद्भक्तास्तत्र तिष्ठामि नारद॥ इति।

पद्मपुराणोक्तिरपि—

जय जय नारायण दुरितविदारण गुणगणपरकारण हे।
त्रिभुवनमोहन विहगपवाहन यादव माधव पाहि मुरारे।

इत्याकारकभगवन्नामावलिगानपरैवेत्याहुः—

द्वारकेशो हृषीकेशो मुञ्जकेशश्च केशवः।
दामोदरो दरग्रीवो दरच्छिद्सुन्दरच्छविः॥ १॥
घनाभोऽनुजनाभोगः पद्मनाभः सुनाभभृत्।
अजनो विजनोपास्यो जनानन्दी जनार्दनः॥ २॥

इति सङ्कीर्तनीयषोडशनामरत्नानि।

ब्रह्माण्ड पुराण में शेषनागजी ने श्रीकृष्णवाचक शब्द-मात्र को महामन्त्र कहा है—विष्णु के पवित्र सहस्र नामों की तीन आवृत्तियाँ करने से जो फल प्राप्त होता

है वह फल एक बार 'कृष्ण' नाम का उच्चारण करने से ही प्राप्त हो जाता है। वाचंयम, चक्र तथा शतक्रतु ने भी इसी बात की पुष्टि की है—"अच्युत" कहने से मन, 'अनन्त' कहने से वाणी तथा 'गोविन्द' कहने से—ज्ञात एवं अज्ञात पातकों से मुक्त होकर—शरीर पवित्र हो जाता है। इसलिये भक्त अच्युत, अनन्त, गोविन्द, इन तीनों पदों को नित्यप्रति बारम्बार अच्युताय नमः, अनन्ताय नमः, गोविन्दाय नमः इस प्रकार जपा करे। ऐसा करने से उसको दैवी माया से छुटकारा मिल जाता है। ऐसा हमारे वेदान्त के प्रधान गुरुजनों का वचन है। कीर्तनीय होने से पूर्वोक्त तीनों पदों का जप ही करना चाहिए। न्यास आदि के करने की कोई आवश्यकता नहीं।

'नारदजी! मैं न तो वैकुण्ठ में ही बसता हूँ और न योगियों के हृदय में ही। मैं तो वहाँ बसता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरा भजन करते हैं।'

इस विषय में पद्मपुराण का वचन भी है कि हे नारायण, दुरितविदारण, गुणगणपरकारण, त्रिभुवनमोहन, गरुड़वाहन, यादव, माधव, मुरारे! आपकी बारम्बार जय हो। आप हमारी रक्षा करें।

इस प्रकार भली भाँति विचार करने पर भगवान् के नामों का कीर्तन करना ही सिद्ध होता है। द्वारकेश[1], हृषीकेश[2], मुञ्जकेश[3], केशव[4], दामोदर[5], दरग्रीव[6], दरच्छित्[7], सुन्दरच्छवि[8], घनाभ[9], अनुजनाभोग[10], पद्मनाभ[11], सुनाभधृत्[12], अजन[13], विजनोपास्य[14], जनानन्दी[15] और जनार्दन[16], ये सोलह नाम कीर्तन के योग्य हैं।

एवं भगवन्तं सङ्कीर्त्य जय जय भगवन् अखण्डब्रह्माण्डमण्डलाखण्डलश्रीमन्महामहाराजाधिराज द्वारकाऽधीश कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुमतिसमर्थ महाप्रभो भगवतो भवतोऽतुलप्रसादतः सर्वतः सर्वतारक हीरविशदपदनीर गणनाभीर गुणगणगम्भीर मधुरवंशीरवाजिरङ्गधीर यदुवीर सन्नतसुनासीर सहचरसीरधर काश्मीरपिङ्गलचीर मङ्गल मङ्गलसत्त्वमङ्गलमङ्गलमङ्गलग्न रसविनिमग्न तनुसुविलग्नलक्ष्मीक सत्यसङ्कल्प कल्पतरुस्वभाव सर्वद सर्व्वदाऽस्माकम्। इति प्रार्थनीयो भगवान्।

इस प्रकार भगवान् का कीर्तन करके तदनन्तर प्रार्थना करे कि भगवन्! आप सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमण्डल के इन्द्र, बड़े बड़े महाराजाओं के अधिपति, द्वारकाधीश, सर्वशक्तिमान्, अपने अतुल प्रसाद द्वारा सबको भवसागर से पार करनेवाले

और गङ्गा की गणना में आभीर-रूप हैं अर्थात् जिस प्रकार अहीर लोग दूध की माप करते हैं उसी प्रकार आपने अपने चरणों में सम्पूर्ण गङ्गाजी को माप लिया है। आप गुणों में गम्भीर, मधुर मुरली बजाने में धीर एवं यादवों में वीर हैं। प्रभो! आप सहचर बलराम के सहित, काश्मीर (पुष्कर-कमल के मूल) के सदृश पीताम्बरधारी, कल्याणप्रद, उत्तम आचरण के सत्त्व से सम्पन्न, गो-ब्राह्मण के हितैषी, सर्वव्यापक, सर्वतारक, लक्ष्मीजी के सहित, सत्य-सङ्कल्प, भक्तों के लिये कल्पतरु के समान तथा सर्वदा हम लोगों को सब प्रकार के वर देनेवाले हैं। इस प्रकार भगवान् प्रार्थनीय हैं।

इति भगवन्नामसङ्कीर्तनविधिपरिपाटी। एवं नामसङ्कीर्तनरसपानमत्तायमानमनसां मनस्विनां तु तेनैव मुक्तिसिद्धेरुक्तध्यानादिकमपि नात्यन्तावश्यकम्।

ध्यायन्कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम्॥ इति विष्णुपुराणात्।
कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥ इति भागवतात्।

भगवान् के संकीर्तन की यही विधि है। इस प्रकार जो लोग शुद्ध हृदय के साथ भगवान् के नाम का सङ्कीर्तन करते और उसी के आनन्द में मग्न रहते हैं वे नाम-सङ्कीर्तन के प्रभाव से ही मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, अतएव उनके लिये मुक्ति के अन्य साधन—ध्यान आदि—की भी विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि विष्णु-पुराण के अनुसार सत्ययुग में ध्यान से और त्रेता में यज्ञों द्वारा देवतार्चन से जो फल प्राप्त होता था वह फल कलियुग में भगवान् केशव के नाम-सङ्कीर्तन से ही प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार द्वापर में जो फल प्रतिमा-पूजन से होता था वही वर्तमान युग में भगवन्नाम-सङ्कीर्तन से मिल जाता है। भागवत का कथन है—राजन्! दोषों के निधि कलियुग में यह एक बड़ा गुण है कि इसमें भगवान् कृष्ण का नाम लेने मात्र से मनुष्य बन्धनों से छूटकर परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

कृष्णं सङ्कीर्तयन्मर्त्यः संसारान्मुच्यते यथा।
तथा नान्यः कलौ पन्था विद्यते पृथिवीपते॥ इति महाभारतात्।

मुक्तेर्हेतुद्वयं तात हरिश्च हरिनाम च ।

हरिस्तु भक्तिं वाञ्छेत हरिनाम न किञ्चन ॥ इति उपदेशस्मृतेश्च ।

महाभारत में भी कहा है—राजन् ! कलिकाल में मनुष्य भगवान् कृष्ण का नाम लेने से जितनी सरलता के साथ मुक्ति प्राप्त कर सकता है उतनी सरलता से किसी अन्य उपाय द्वारा नहीं । उपदेशस्मृति का वचन है कि मुक्ति के दो कारण हैं—एक तो भगवान् और दूसरा उनका नाम; किन्तु भगवान् मुक्ति देने के पहले भक्ति चाहते हैं और उनके नाम का आश्रय लेने पर अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं रह जाती ।

अहो इदं समस्तमास्तामेकतः । भगवन्नामसंकीर्तनात्सम्यग्मोक्षप्राप्तिं विधत्ते वेद एव साक्षात् । तथा च ऋग्यजुःसामसु प्रसिद्धा कण्डिका—

तमु स्तोतारः पूर्व्यंयथाविद ऋतस्य गर्भञ्जनुषा पिपर्तन ।

आऽस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिम्भजामहे ॥

इत्येतस्या ऋचोऽयमर्थः—

लोकहिताय युष्माभिर्मद्विषयं तत्त्वं जना उपदेष्टव्या इति भगवदाज्ञया प्रवर्तमानाः श्रुतयस्तावज्जनानुपदिशन्ति । हे जनाः यूयम् । तमुतम् उ तमेव सर्वकारणत्वेन प्रसिद्धं श्रीविष्णुमेवेत्यर्थः । स्तोतारः स्तुत । छन्दसीत्यधिकारे व्यत्ययो बहुलमिति सूत्रात् लोडर्थे लुट् । पुरुषश्च मध्यमार्थे प्रथमः । न च तृजन्तमेतदिति शङ्कनीयम् । तिङ्ङतिङ इति सर्वानुदात्तत्वात् । तत्र तु सति चित इत्यन्तोदात्तः स्यात् । श्वः कर्तेत्यादौ चरितार्थस्य न लुटमित्यपवादस्य तु बाहुलकादिहाप्रवृत्तिः । परार्थलुटो लाक्षणिकत्वाच्च । अतः स्तोतार इति तिङन्तमेव ।

अच्छा छोड़िए इन स्मृति और पुराण आदि के वचनों को । देखिए स्वयं वेद भी भगवान् के नाम-सङ्कीर्तन द्वारा मुक्ति का विधान करता है (—तुम लोग मनुष्यों के कल्याण के लिये उनको मेरे सम्बन्ध में तत्त्वज्ञान का उपदेश दो;) भगवान् की यह आज्ञा पाकर श्रुतियाँ मनुष्यों को सम्बोधित करके कहती हैं—मनुष्यो ! तुम लोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उन विष्णु भगवान् की ही स्तुति करो जो समस्त पदार्थों के आदिकारण, अनादि, विश्व के एकमात्र स्वामी, अतिगूढ़ तथा सबके उपास्य होने से वेदान्तशास्त्र द्वारा जानने के योग्य हैं । उनकी स्तुति करके अपना जन्म सफल कर लो—मुक्ति प्राप्त

कर लो। और यदि स्तुति करने की शक्ति न हो तो विष्णु भगवान् के नामों का ही कीर्तन किया करो। ऐसा करने से भी तुम्हें मुक्ति की प्राप्ति होगी ही।

इस प्रकार भगवान् की आज्ञा का पालन करने के पश्चात् श्रुतियाँ उन्हें ही सम्बोधित करके कहती हैं कि भगवन्! आपके आदेशानुसार हम लोगों ने मनुष्यों को आपके तत्त्वज्ञान का उपदेश कर दिया। अब ये तदनुसार कार्य करें अथवा न करें, इनकी इच्छा। हमें इनसे क्या काम? हम सब तो आपके शुद्ध, ज्ञानमय, स्वयंप्रकाश स्वरूप की सेवा करती हैं। इस वेद-ऋचा में नाम-सङ्कीर्तन द्वारा मुक्ति की प्राप्ति का विधान बिलकुल स्पष्ट है। 'छन्दसि' का अधिकार होने से "व्यत्ययो बहुलम्" सूत्र से लोट् के अर्थ में लुट् लकार और मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष हो गया है। यहाँ पर यदि कोई शङ्का करे कि "स्तोतार:" तृच् प्रत्ययान्त है तो यह शङ्का अनुपयुक्त है; क्योंकि "तिङ्ङतिङ:" सूत्रानुसार "स्तोतार:" इस सम्पूर्ण पद को सर्वानुदात्त किया गया है। तृच् होने पर तो "चित:" सूत्र से अन्तोदात्त हो जायगा और "न लुट्" सूत्र अनुदात्त का निषेधक है। किन्तु यहाँ बाहुलक से उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। परार्थक जो लुट् का प्रयोग किया जाता है वह लाक्षणिक है। अत: यह सूत्र यहाँ नहीं लगता; क्योंकि 'श्व: कर्ता' इत्यादि अपने प्रयोजन के लिये जो लुट् का प्रयोग किया जाता है वहाँ "न लोट्" यह सूत्र चरितार्थ है। इस कारण "स्तोतार:" पद तिङन्त ही है, तृजन्त नहीं।

ननु तादृगस्माकं सामर्थ्यं नास्ति कथं स्तुम इत्याशङ्क्याहु:। यथा विदन्ति ते यथाविद:। तथाभूता यूयम्। स्वमत्यनुसारेणैवेत्यर्थ:। ननु कोऽसौ। यं वयं स्तुम इत्यत आहु:। पूर्वे भवं पूर्व्यम्। दिगादिभ्यो यदिति यत्। अनादिं सर्वस्याप्यादिमत: प्रपञ्चजातस्य एकमेव स्वामिनमित्यर्थ:। ननु अनादित्वेऽपि तस्य स्तोतव्यत्वं कुत इत्यत्रोचु:। ऋतं सत्यं वेदवाक्यम्। तस्य वेदान्तशास्त्रस्येति यावत्। गर्भं अतिगोप्यत्वेन सर्वोपास्यतया प्रतिपाद्यमित्यर्थ:। ननु चैवं भवतु नाम। परन्तु तं स्तुत्वा किमिहास्माभिर्लभ्यमित्याकाङ्क्षायामाहु:। जनुषा पिपर्तन जन्मना पिपूर्त। पॄ पालनपूरणयोरिति धातो: लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनस्य तप्तनप्तनथनाश्चेति सूत्रेण तनबादेशो गुणस्तु धातोर्बाहुलकात्। जन्मपूर्तिं प्राप्नुतेति विवक्षितोऽर्थ:। विष्णुं स्तुवतां मोक्षलाभात् जन्मसमाप्तिरेव

महाफलमिति भावः। अहो एवं तर्हि तं स्तोतुं वयं तु किमपि न जानीमः। किमेतर्हि कुर्म इत्यनुशोचतः प्रत्याहुः। आजानन्तः। छन्दसि परेऽपि। व्यवहिताश्च। इति सूत्राभ्यामस्येति व्यवधानं शोभनमेव।

"दिगादिभ्यो यत्" सूत्र से तद्धित यत् प्रत्यय करने से पूर्व्य शब्द सिद्ध होता है। 'ऋत' सत्य का पर्यायवाचक है। 'पिपर्तन' पॄ पालनपूरणयोः धातु से लोट् लकार करने पर मध्यम पुरुष के बहुवचन का रूप है। "तप्तनप्तनथनाश्च" सूत्र से त को तनप् आदेश हो गया और बाहुलक से धातु के ऋकार के स्थान में अर् गुण हो गया है। यहाँ 'त' को ङित् होने से गुण प्राप्त नहीं था किन्तु ऋकार के स्थान में उकार प्राप्त था, उसको बाहुलक से गुण विधान किया और ऊठ् का अभाव किया। मन्त्र में "आ अस्य जानन्तः" पाठ है किन्तु वही 'आ' और 'जानन्तः' के बीच में 'अस्य' का व्यवधान होने पर भी "छन्दसि परेऽपि" और "व्यवहिताश्च" इन पाणिनीय सूत्रों के अनुसार ठीक है।

आ ईषत्। जानन्तः सम्यक् न जानन्त इत्यर्थः। अस्य विष्णोः नाम चित् नामापि विवक्तन ब्रूत। अनार्द्धधातुकेऽपि छन्दसि बहुलमिति ब्रुवो वचिः। तनप्पूर्ववत्। अथवा वच परिभाषण इत्यस्यैव बहुवचनप्रयोगोऽपि बाहुलकात्। स्तोतुमशक्तौ श्रीविष्णोः नामान्येव सादरं कीर्तयत। तावता जन्मसमाप्तिलक्षणं मोक्षं सम्यक् प्राप्स्यथैवेत्यर्थः। इत्थं जनानुपदिश्य भगवन्तं सम्बोधयन्त्यः श्रुतयः स्वयमूचुः। विष्णो भो भगवन् भवदाज्ञया अस्माभिरुपदिष्टा एते जनाः कुर्वन्तु मा वा। वयं तु ते तव सुमतिं शुद्धज्ञानात्मकं महः स्वप्रकाशात्मकस्वरूपभूतं तेजः भजामहे सेवामहे। सुमतिं मह इत्यनयोर्नियतलिङ्गत्वात्सामानाधिकरण्यम्।

"विवक्तन" में 'ब्रू' के स्थान पर 'वच' आदेश किया है, किन्तु 'वच' आदेश आर्धधातुक-संज्ञक प्रत्यय परे रहने पर होता है और यहाँ आर्धधातुक-संज्ञक प्रत्यय नहीं है तो भी बाहुलक से हो जाता है। 'छन्द में सभी कार्य बाहुलक से होते हैं,' इसी नियम से सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर भी 'ब्रू' को 'वच' आदेश हो गया। तनप् प्रत्यय पूर्ववत् जानना चाहिए; अथवा यह रूप 'ब्रू' का न होकर 'वच' परिभाषणे धातु का है। किन्तु इस धातु का बहुवचन में प्रयोग नहीं होता, इसलिये यह बहुवचन का प्रयोग भी बाहुलक से ही समझना चाहिए। "सुमतिम्", "महः" इन दोनों शब्दों के

नियतलिङ्ग के होने से सामानाधिकरण्य है, अर्थात् "सुमतिम्" स्त्रीलिङ्ग का रूप है, "महः" नपुंसक लिङ्ग का रूप है। यही इन दोनों की नियतलिङ्गता है। अतएव लिङ्गभेद होने पर भी विशेषण-विशेष्य-भाव-रूप से "वेदा: प्रमाणम्" के समान अभेदान्वय है।

'लिङ्गसङ्ख्याविभेदेऽपि विशेषणविशेष्यते'ति। यथाहुः। होमसाधनं धेनुः। शतं ब्राह्मणाः। इति मन्त्रव्याख्या।

लिङ्ग और संख्या का भेद होने पर भी नियत-लिङ्ग शब्दों का विशेषण-विशेष्य-भाव हो ही जाता है, जैसे "होमसाधनं धेनुः", "शतं ब्राह्मणाः" (धेनु होम का साधन है, सौ ब्राह्मण हैं) यहाँ होम-साधन शब्द नपुंसक लिङ्ग और धेनु शब्द स्त्रीलिङ्ग है। इसी प्रकार "शतम्" नपुंसक लिङ्ग का एकवचनान्त और "ब्राह्मणाः" पुंल्लिङ्ग का बहुवचनान्त रूप समझना चाहिए। लिङ्ग-संख्या का भेद होने पर भी यहाँ विशेषण-विशेष्य-भाव असङ्गत नहीं कहा जा सकता।

तनुवचनमनोभिरनारतं भगवदेकपरतन्त्रमिति यत् एतावानेव समस्त-वेदवेदान्तसिद्धान्त इति तत्र तत्र भगवत्परमसूत्रकारमतमतिविशदादरपूर-पराधीनहृदयौ भाष्यवार्तिककारौ व्याचक्षाते। तदनुसारिणो मनीषिणोऽपि सर्वे। तस्मात् कर्मयोगाज्ज्ञानयोगाच्च भक्तियोग एव ज्यायान्। सुख-साध्यत्वादिति प्रौढोऽयं राजमार्गः। राजदन्तादिषु परमिति पाणिनि-स्मरणात् पूर्वप्रयोगार्हस्य मार्गशब्दस्य परनिपातोऽनुसन्धेयः। अथ च अहमेव भागवत इत्यहम्भावसम्भवो भागवतेष्वादरमन्दिमा तु—

स्वयम्भूत्वा तु मद्भक्तो मद्भक्तान् योऽवमन्यते।
तामसः स तु मन्दात्मा मामाप्नोति न कर्हिचित्॥
अन्योन्यं भावयन्तो मे भक्ता मद्भावमेव हि।
प्रेमयुक्ताश्च मद्भावं प्राप्नुवन्त्यचिरान्नृप॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।
तेषु प्रीतोऽस्मि राजेन्द्र मद्भक्तान्पूजयन्ति ये॥

'मद्भक्तपूजाभ्यधिके'त्यादिशतशस्तत्र तत्रेतिहासपुराणेषु वदतः सूरिसू-रतपारिजातस्य भगवतः परितोषावलोकपक्ष्मकवाटविष्कम्भो भवतीति

लक्ष्यमाणभक्तिलक्षणेषु भगवद्भक्तेषु भगवद्भावनैव सत्तमसमाजसम्मताऽवधार्यताम् ।

मन, वाणी और शरीर द्वारा निरन्तर भगवत्परायण रहना ही समस्त वेद-वेदान्त का निष्कर्ष है। भाष्यकार एवं वार्तिककार भी वेदान्त-दर्शन के सूत्रों का ऐसा ही आशय निकालते हैं। तदनुसार अन्य विद्वानों का भी यही कहना है। अतः ज्ञानयोग तथा कर्मयोग की अपेक्षा, सुकर होने से, भक्तियोग की ही श्रेष्ठता पूर्णतया सिद्ध होती है। जो व्यक्ति स्वयं भगवद्भक्त होकर भी 'मैं ही भगवद्भक्त हूँ' इस अभिमान में आकर भगवद्भक्तों का अनादर करता है वह भक्तवत्सल, कल्पवृक्ष के समान मनोरथ-पूरक, भगवान् के कृपा-कटाक्ष से अपने को वञ्चित करता है; क्योंकि इस विषय में भगवान् की सैकड़ों उक्तियाँ इतिहास-पुराणों में पाई जाती हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—"भक्त होते हुए भी भक्तों का अपमान करनेवाला मन्दमति और तमोगुणी है; उसे मेरी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। जो भक्त आपस में एक दूसरे के अन्दर मेरी भावना करते हुए परस्पर प्रेममय व्यवहार रखते हैं वे मेरे स्वरूप को शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं। राजन् ! जिनकी समस्त इन्द्रियाँ मुझमें लगी हुई हैं, और जो परस्पर मेरा ही विचार करते एवं मेरी ही कथा कहकर नित्य प्रसन्न होते तथा मेरे भजन में तल्लीन रहते हैं, मैं उन्हीं पर प्रसन्न होता हूँ। इसी प्रकार जो लोग मेरे भक्तों की पूजा करते हैं उन पर भी मैं प्रसन्न रहता हूँ। मेरे भक्तों का सम्मान, मेरी दृष्टि में, अत्यन्त महत्त्व रखता है।" इसलिये जिन लोगों में भक्ति के लक्षण दिखाई पड़ें उन सब भगवद्भक्तों को भगवद्रूप ही समझना चाहिए। भक्ति-तत्त्व के पारखी पण्डितों का यही मत है।

उक्तं च कृष्णपण्डितैः—

भक्तेषु भक्तैरन्योन्यं परमो यो विधीयते ।
तेषां तु भगवत्येव स प्रेमा पर्यवस्यति ॥ इति ।

अन्यच्च । यथा कुलीनाः सुशीलाः साक्षराः सदाचारा ब्राह्मणा ईश्वरबुद्ध्यैव सद्भिः सत्क्रियन्ते तथा भगवद्भक्ताः क्षत्रियादयोऽपि । यद्यपि ब्राह्मणा इव क्षत्रियादयो नमस्कारं नार्हन्ति तथापि सूनृतसम्भाषण-वत्प्रियाचरणादिसत्कारमर्हन्त्येव । भागवतेषु प्रीतिं विना तावत्कुतो मनः-शुद्धिः । कुतस्तरां भगवति भक्तिः । कुतस्तमां शाश्वती शान्तिरित्य-

न्यत्र विस्तरः। अयमेव बुद्धिमतां बुद्धिलतारसो नाम। यत्सर्वभावेन भगवत्येव हृदयाभिरतिरामस्यम्। यथा मामकरामचिन्तालहर्याम्—

कृष्ण पण्डित ने कहा भी है—जिन भक्तों में परस्पर प्रेम-भाव रहता है उनका वह प्रेम ही भगवान् की भक्ति के रूप में परिणत हो जाता है।

इतना ही नहीं, कुलीन, सुशील, साक्षर और सदाचारी भगवद्भक्त ब्राह्मणों को लोग ईश्वर-रूप समझकर जिस आदर-दृष्टि से देखते हैं उसी दृष्टि से भगवद्भक्त क्षत्रिय आदि को भी। यद्यपि क्षत्रिय आदि भक्त ब्राह्मण के समान नमस्कार के योग्य नहीं तो भी प्रिय बोलना तथा उनके अनुकूल आचरण करना आदि सत्कार के योग्य अवश्य हैं। क्योंकि जब तक भगवद्भक्तों पर प्रीति न हो तब तक भला मन की शुद्धि कैसे हो सकती है? और जब मन ही शुद्ध नहीं तब उसमें भक्ति का उदय कैसे हो सकता है? ऐसी दशा में सनातन शान्ति भी कब मिल सकती है? यही बात अन्यान्य ग्रन्थों में विस्तार के साथ कही गई है यथा बुद्धिमानों की बुद्धि का निचोड़ भी अनन्य भाव से भगवद्भक्ति करना ही है। मैंने अपने 'रामचिन्तालहरी'* ग्रन्थ मे भी यही कहा है—

धीरसो धीरसोऽभीप्सितस्ते यदा तन्तदा देहि मे देहि मेध्यगिरा।
रामतो रामतो नापरः शासतां दामनो मान्यतो मान्यतोषधिया॥ इति
आम्नायगीस्स्वरपगामवगाहमाना यस्याच्छधीपरिचरी प्रचरीकरीति।
श्रीचक्रपाणिचरणाम्बुरुहानुचर्यां तेनाभिमेदिनि जनादुदनीयतात्मा॥१॥

ज्ञेयज्ञानविकाशमानमनसामेवात्र सङ्गस्सतां
गङ्गवाघविघातितीर्थमभयो गेहाद्द एवाश्रमः।
मार्गो वैदिक एव कृष्णपदयोरेवानुसेवा कलो
कल्याणाय चकासति श्रुतवतां पञ्चैव नान्यद्वरम्॥२॥
कालोऽयं कलिनामकोऽतिकुटिलो धीर्धर्मितां यद्भयात्
सेतोऽन्यत्र गता पदं जडजनैर्नैवापं हेलोदयात्।
सुस्फूस्स्रोतसि पूतचित्तसरितः शातानि वो लोकयो-
रात्माङ्घ्री श्रयतां विदो हृदयभूतातोऽपि रातोभयोः॥३॥

भगवन् राम! आप भक्तों के मान्य, त्रिकालज्ञ, परमदयालु, देवताओं में श्रेष्ठ और सबसे बड़े शिक्षक हैं और अपनी त्रिकालज्ञता द्वारा मेरे सांसारिक

---

* यह ग्रन्थ अभी अप्राप्त है।

बन्धनों के क्लेशों की भीषणता से भली भाँति परिचित भी, अतएव आपको अपनी पवित्र भक्ति प्यारी हो तो उसको आशीर्वाद रूप से मुझे देकर मेरे उक्त क्लेशों को दूर कीजिए। जो व्यक्ति वेद-मन्दाकिनी में गोते लगानेवाली अपनी पवित्र बुद्धि-रूप दासी को भगवान् चक्रपाणि के चरण-कमलों की परिचर्या में पूर्ण रूप से लगा देता है समझ लेना चाहिए कि उसने संसार में अपनी आत्मोन्नति—आत्मोद्धार—कर ली। भगवद्भक्तों की सङ्गति, पापनाशिनी गङ्गा, निर्भय गृहस्थाश्रम, वैदिक मार्ग और श्रीकृष्ण भगवान् के चरण-कमलों की भक्ति ये ही पाँच वस्तुएँ हैं, जिनके द्वारा इस कलिकाल में विद्वानों को कल्याण की प्राप्ति हो सकती है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं जिससे कल्याण की कुछ आशा की जा सके। विचारशील पुरुषो! यह कलिकाल अति कुटिल है, जिससे भयभीत होकर विद्वानों की बुद्धि ने भी उनका साथ छोड़ किसी ऐसे स्थान में आश्रय लिया है जहाँ पर अविवेकी लोग, अनादर का भाव रखने के कारण, नहीं पहुँच सके हैं। अतः इस दशा में आप लोग यदि हृदय-प्रवाह (भक्ति-धारा) में अपने मन को पवित्र करके श्रीकृष्ण भगवान् के पाद-पद्मों का आश्रय लेंगे तभी लोक और परलोक के सुख पा सकेंगे।

एवं गते—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्प्पणम्॥ १॥
ये तु सर्व्वाणि कर्म्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्न्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ २॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ३॥

इति महानुग्रहपूरितपरमोपदेशामृतझरीमुपाश्रित्य विद्यमानानां विद्यावतामभीष्टं सिद्धमेवेति निश्चिन्तं परमं सुखम्।

जनुर्ग्गणपरिश्रमैर्यदपरे लभन्ते पदं
प्रयासलवमन्तरा सपदि तद्व्रजद्भ्यो दिशन्।
न कश्चिदजनीतरो मधुभिदोऽनुकम्पानिधे-
स्तथापि चलचेतसामिह मुहेरता हे रताः॥१॥

यतन्तां लोकेऽमी फलविकलकामाकुलधिय-
स्तपोयोगज्ञानाध्वरधनसुराराधनविधौ ।
वयं तु स्वच्छन्दं यदुपतिपदाम्भोजविसर-
न्मरन्दस्वादुस्वादनसदनुवृत्तिं निबिभृमः ॥२॥
पूज्यं चतुर्भुजं तेजो भ्राजमानं भजामहे ।
देवान्तरैः करिष्यामः किमन्तर्गडुगुण्ठितैः ॥ ३ ॥

इस प्रकार हृदय में भगवत्प्रेम की पवित्र धारा बह निकलने पर जो विद्वान्—'अर्जुन ! तुम जो कुछ करते, खाते-पीते, हवन करते, दान देते और तप करते हो वह सब मेरे अर्पण कर दो; जो लोग अपने कर्म-फलों को मेरे अर्पण करके, मत्परायण हो, अनन्ययोग (प्रबल भक्तियोग) द्वारा मेरा ध्यान और आराधन करते हैं उन अपने भक्तों को मैं मृत्यु-रूपी संसार से शीघ्र ही पार कर देता हूँ ।'—भगवान् के इन अनुग्रह-अमृत-पूरित उपदेशों के अनुकूल व्यवहार करते हैं उनको अभीष्ट परम-सुख (मुक्ति) की प्राप्ति अनायास ही हो जाती है । भक्त पुरुषो ! दूसरे लोग (ज्ञानी आदि) अनेक जन्मों के कठिन परिश्रम द्वारा जिस पद को प्राप्त कर पाते हैं उसे ही अपने भक्तों को अनायास दे डालनेवाला व्यक्ति संसार में केवल करुणानिधि श्रीकृष्ण भगवान् के अतिरिक्त दूसरा नहीं हुआ; किन्तु इतने पर भी चञ्चल चित्त के लोग उनकी ओर से पराङ्मुख रहते हैं, यह आश्चर्य है ! कर्मों की विफलता से खिन्न और विविध कामनाओं से प्रेरित होकर लोग यदि तप, योग, ज्ञान एवं यज्ञ के सम्पादन करने तथा धनोपार्जन और देवताओं के पूजने का प्रयास करते हैं तो किया करें; हमसे क्या वास्ता ? हम तो भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमल-सम्बन्धी मकरन्द का स्वेच्छापूर्वक अलौकिक आस्वाद लेने में मस्त हैं । हम लोग पूजनीय, देदीप्यमान चतुर्भुजी तेज की उपासना करनेवाले हैं अतः हमको अन्तर्गडु(गलगण्ड)भूत अन्य देवताओं से क्या प्रयोजन ?

जयति जयति यादवेन्द्रो महेन्द्रोरुतेजा महाराजराजो महामन्दिरेऽस्मिन् सपञ्चाशता कोटिभिर्विस्तृते हाटके श्रुतिपदसदनन्तलीलाकरो यस्य रामा रमा नाम देवी द्वितीकोऽभिवन्द्याथ मायाऽभिधाना दधानाद्भुतां भावनाम् । चरणशरणराजिराज्यं तदिज्ज्येष्टभोज्यं मुदा लालनीयास्त एवंधनीयाः स्फुरत्कीर्तिपीयूषसम्पायनैः पावनैः कृतसमुचितसद्विधानाधिकाराः स्वय-

म्भूश्च शम्भुश्च जम्भारिरम्भोजबन्ध्वादयोऽमी सुधान्धोधुरीणा निषिन्वन्ति तम् ॥४॥ (४२।४।१६८। वर्णाः ।) लीलाकरो नाम दण्डकोऽयं स्वजातिषष्ठः ।

लीलाकर इति ख्यातो दण्डको नगणद्वयात् ।
द्विःषड्भी रगणैर्युक्तः कवीनां मानवर्द्धनः ॥ इति ।

दण्डकानामपि समवृत्तित्वं तुल्यचतुष्पादत्वात् ।

वे श्रीकृष्ण भगवान् मायानामधारिणी, देवताओं की अभिवन्दनीय अद्भुत भावनामयी श्री लक्ष्मीजी के स्वामी, यादवश्रेष्ठ, देवराज इन्द्र के सदृश तेजस्वी, सम्राटों के सम्राट्, बहुमूल्य (पचास करोड़ की लागत से अधिक मूल्य के) सुवर्णमय विशाल मन्दिर में विराजमान, वेद-वर्णित अनन्त लीलाओं के करनेवाले, वेदशास्त्रों में सहस्रपाद-रूप से प्रसिद्ध और ज्ञानी तपस्वियों के अनुभवनीय हैं। भक्ति-भावना के योग्य पवित्र एवं उज्वल कीर्ति के द्वारा संवर्द्धनीय उचित विधान के अधिकारी स्वयम्भू, शम्भु, इन्द्र तथा सूर्यनारायण आदि श्रेष्ठ देवता भी उन्हीं को प्रसन्न करने का निरन्तर प्रयत्न करते हैं। 'जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः दो नगण तथा बारह रगण होते हैं उसे 'लीलाधर' दण्डक कहते हैं'—इस लक्षण के अनुसार इस दण्डक छन्द का नाम "लीलाधर" है। इसकी रचना करने से कवियों का आदर बढ़ता है। चारों चरणों के अक्षर मिलकर एक सौ अड़सठ हो जाते हैं।

दण्डक छन्दों के हर एक पाद में अक्षरों की संख्या समान होने से कवि लोग इन छन्दों में समाक्षरता स्वीकार करते हैं। यह दण्डक अपनी जाति में छठा है।

कलयतु शमनिशं सत्यलोके विरिञ्चिर्मरीच्यादियुक्तो गजास्यादियुक्तोऽगजाङ्कोऽपि कैलाशशैले विहरतु दिवि तु वस्वादितेयाप्सरोवृन्दगन्धर्वविद्याधराद्यैः स्वधाद्यैश्च सार्द्धम्महद्भिर्म्मरुत्वान् । क्षितिवलयविवरेषूरगाः शुक्रशिष्या मनुष्यास्तथा मध्यधिष्ण्ये मदान्धा महामोहकामप्रधाना गलदखिलविशयं प्रस्फुरत्यन्तरत्यन्तमस्माकमेको मुकुन्दप्रपादाम्बुजाभ्याशवासाभिलाषः ॥५॥ (३६।४।१४४। वर्णाः ।)

नगणयुगलादेव परतो दशभिर्यगणैर्विरचितः । प्रचितनामात्र दण्डकभेद एषः । शेषः प्रचित इति सूत्रकारकथितो जातिचतुर्थः ।

ब्रह्माजी सत्यलोक में मरीचि आदि ऋषियों के साथ रहकर जगत् की कल्याण-चर्चा करें, गणेशजी आदि देवताओं समेत भगवान् भवानी-शङ्कर कैलाश

शैल पर और समृद्धिशाली देवराज इन्द्र—आठ वसु, गन्धर्व, विद्याधर आदि देवता तथा अप्सराएँ इन सबको साथ लेकर—स्वर्ग में विहार करें। इसी प्रकार सर्प, और शुक्राचार्य के शिष्य दैत्य पाताल-लोक में और अभिमानी महामोह-काम-प्रधान मनुष्य भूतल पर चाहे जहाँ विचरें; ये लोग अपना जो कर्तव्य समझते हों उसे करते रहें। हमें क्या, हमारी हार्दिक इच्छा तो केवल उन भगवच्चरणों में पहुँचने की है, जहाँ पहुँचने पर प्राणी के सभी संशय-सङ्कट कट जाते हैं।

यह दण्डक एक सौ चवालीस अक्षरों का होता है और इसके प्रत्येक पाद में छत्तीस अक्षर होते हैं; प्रत्येक पाद में दो नगण के अनन्तर दस यगण रखने पर यह छन्द बन जाता है। इसका नाम प्रचित है। सूत्रकार के 'शेष: प्रचित:' इस कथन से यह स्वजाति में चतुर्थ है।

बृहद्धामाद्धा मामुपनयतु तद्धामसमये
स योगी गोपानाकलयति सुपानामृतदृशा।
नमस्तस्मै भूयो नमदनकभूयोरतिकरी-
रकोपैर्गोपैर्गोकुलशिखरिणीहा विदधते ॥ १ ॥
अथ गोचयचारका नटा गुरुगोवर्द्धनगोत्रमूर्द्धनि।
समिता: समदन्तसुन्दरीभवदास्या: शिशवोऽभिरेमिरे ॥ २ ॥
मुखरीकृतखा महासखा भणितैर्वेणुरवादिभि: शुभै:।
बहुलातुलबाललीलया परिचेरु: पुरुषं पुरातनम् ॥ ३ ॥
सुकलापिकलापकल्पितज्वलदाकल्पविलासिमौलय:।
बत कौतुकिनो नृनाकिनो ननृतु: साकममृतामृतात्मना ॥ ४ ॥
चेतश्चिन्तय चारुचारुचरणौ शोणारविन्दश्रियौ
नानाख्यानमतस्य तस्य महतस्त्वं चाननानारतम्।
तं सङ्कीर्तय कीर्तनीयचरिताकूपारमानर्व य-
श्चेदीशादिमदोत्कटेभकटके शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ५ ॥

इति श्रीवासुदेवरसानन्दे भगवद्भक्तिशास्त्रसन्निवेशोऽयं प्रचाकशीति।

तेजोमय सर्वव्यापक वे श्रीकृष्ण भगवान् अपना अलौकिक धाम मुझे प्रदान करें, जो गोकुल गिरि पर प्रसन्न-वदन गोपकुमारों के साथ मिलकर भाँति-भाँति की बाल-स्वभाव-सुलभ लीलाओं के करनेवाले हैं, जिनकी बाल-

लीलाओं को देखकर देवता लोग आनन्द-पुलकित हो उठते हैं और जो अपनी अमृतमयी दृष्टि द्वारा गोपों को प्रसन्न कर देते हैं। गौएँ चरानेवाले, नट-वेषधारी गोप-बालक गोवर्द्धन पर्वत पर एकत्र हो जिनके साथ बाल-लीलाएँ करते-करते मारे आनन्द के लोट-पोट हो जाते थे उन श्रीकृष्ण भगवान् को बारम्बार प्रणाम है। भगवान् के अत्यन्त प्रिय सखा जिन गोपाल-बालकों ने मङ्गलमय सुमधुर गगनव्यापी वेणु-ध्वनि आदि अनेक बाल-क्रीड़ाओं द्वारा सखा-रूप में पुरातन पुरुष की आराधना की वे बाल-गोपाल धन्य हैं। मनुष्य-रूपी देवता गोप-शिशु, सिर में मोरपङ्ख लगा-लगाकर, बड़े चाव के साथ सत्य-स्वरूप अमृतमय श्रीकृष्ण भगवान् को साथ लेकर नाचा करते थे। यह बड़े अचम्भे की बात है। मेरे मन ! तू नाना निगमागम और इतिहास-पुराण आदि में वर्णित उन्हीं श्रीकृष्ण भगवान् के चारु चरण-कमलों का निरन्तर चिन्तन कर जो सिंह के सदृश महापराक्रमी और कीर्तनीय चरितों की खान हैं तथा जिन्होंने मतवाले हाथियों के समान दुर्दान्त चेदि-नरेश शिशुपाल प्रभृति राजाओं का संहार किया है। (अननानारतम् = अनारतम् न, इति नानारतम्; न नानारतम् इति अननानारतम्।)

श्री वासुदेवरसानन्द ग्रन्थ में भगवान् के भक्तिशास्त्र का यह सन्निवेश समाप्त हुआ।

एवं वासनापदप्राप्तप्रसङ्गं सप्रपञ्चं परिसमाप्य प्रकृतश्लोकव्याख्यामिदानीं पुनरवतारयामः—

वासुदेव भो भगवन् किञ्चिद्विज्ञापयितुं ते नमोऽस्तु। ननु पुनः किं विज्ञापयसि। तत्राह—हे वरद आश्रितवर्गवर्द्धन गोवर्द्धनधारिन् सर्वभूतनिवासी त्वं ईनामिति च्छेदः। 'लक्ष्मीरीकार उच्यते' इत्यनेकार्थमञ्जरी। ईनां लक्ष्मीणामित्यर्थः। सम्पत्तीनामिति यावत्। 'लक्ष्मीः श्रीशोभासम्पत्प्रियङ्गुषु' इति हेमचन्द्रः। एतेन विषयभोगानामित्युक्तं भवति। वासनाः व्याख्याताः मनोराज्यरूपाः अविद्यमानेऽपि विषये विक्षिप्तचित्ततया तत्सुखभोगभावना इत्यर्थः। द्वितीयाबहुवचनम्। वासुदेवस्य। वासुत् एव स्य इति पदत्रयम्। वासुत् एव सर्वत एवेत्यर्थः। वासुदित्यव्ययं छान्दसमा समन्तादित्यर्थे वर्तते। पठ्यते हि पुराणेषु—

आवृता पृथिवी वासुदम्भसा तच्च तेजसा।

तद्वायुना स खेनादश्चाहमा महता स च ।
ततः प्रकृत्यावरणं चाष्टमं व्यापकं तु तत् ॥ इति ।

इस प्रकार वासना-पद से प्राप्त प्रसङ्ग को विस्तार के साथ समाप्त करके प्रकृत "वासना वासुदेवस्य" श्लोक की व्याख्या का फिर आरम्भ करते हैं—वासुदेव ! भगवन् ! किञ्चिद् विज्ञापनार्थ आपको नमस्कार हो। वरद! अपने आश्रित भक्तों को बढ़ानेवाले! गोवर्द्धन को धारण करनेवाले ! प्राणियों के अन्तःकरण में रहनेवाले ! आप हमारी विषय-भोगों की वासना को नष्ट कर दीजिए। 'सर्वभूतनिवासीनाम्' में 'सर्वभूतनिवासी' और 'ईनाम्' पदच्छेद करना चाहिए। लक्ष्मी शब्द श्री, शोभा, सम्पत् तथा प्रियङ्गु शब्दों का अभिधायक है, यह हेमचन्द्र-कोष में कहा है। 'अनेकार्थमञ्जरी' के अनुसार ई शब्द का अर्थ विषय-भोग निश्चित हुआ। विषयों की वासनाएँ व्याख्यातप्राय हैं। वासनाएँ मनोराज्य-रूप हैं अर्थात् विषयों के न रहने पर भी चित्त के विक्षिप्त होने के कारण विषय के सुख की भोग-भावनाओं को ही वासनाएँ कहते हैं। "वासनाः" शब्द द्वितीया का बहुवचन है। उसके अनन्तर "वासुदेवस्य" यह पद वासुत्, एव, स्य, इन तीन पदों में विभक्त होता है। "वासुत् एव" शब्द का 'सर्वत एव' अर्थ करना चाहिए। "वासुत्" यह वैदिक अव्यय आसमन्तात् अर्थ में वर्तमान है, ऐसा पुराणों में कहा गया है। पृथिवी जल द्वारा 'वासुत्' (चारों तरफ से) ढकी हुई है; [वह जल तेज से, तेज वायु से, वायु आकाश से, आकाश अहङ्कार से और अहङ्कार महत्तत्त्व से, आवृत है। तदनन्तर आठवाँ आवरण प्रकृति (माया) का है। वह आवरण व्यापक है।]

षो अन्तकर्मणीति दैवादिकस्य धातोर्लोण्मध्यमपुरुषैकवचनं स्येति भवति। स्य नाशयेत्यर्थः। ननु त्वमेव कुतो न स्यसि। मदसाध्यत्वादिति विज्ञापयति। किम्भूताः ताः वासनाः। याभिः। ताः याभिरिति च स्वरसतो व्याख्यानादुपतिष्ठते। भुवनत्रयम् वासितम् आच्छादितमस्ति। वस आच्छादने। णिजन्तात्कर्मणि क्तः। त्रिजगद्वासनामयमिति वचनात्। एवञ्च भवत्करुणामन्तरेण त्रिजगदाच्छादकवासनाराशिवशीकरणं वराकाणामस्माकं सुतरां दुर्घटमिति भावः। अतो हेतोः। भोः स्वामिन् दीनवत्सल आर्तबन्धो शङ्खचक्रगदापद्मशालिन् खगाधीशगामिन् स्वतन्त्र उदारतेजा वशीकृतमायतया महाप्रभुरकाण्डनिबिडतरानुग्रहामृतमहोदधिरन्तर्यामी स्वयं त्वमेव खलु भक्तानां भवदनुस्मृतिविधिविरो-

धिनीर्विषयवासनागरलवल्लरीः समन्तादपनीय स्वसंवेद्यपरमसुखास्पदनिज-पादारविन्दैकनिष्ठामेव निष्कपटं स्रष्टुमर्हसीति विज्ञप्तिसारम् ।

दिवादिगण की 'षोऽन्तकर्मणि' धातु से लोट् लकार के मध्यम पुरुष के एकवचन का रूप "स्य" होता है। इसका अर्थ 'नाश करो' है। वे वासनाएँ कैसी हैं जिनसे तीनों भुवन वासित (आच्छादित) हैं? इस स्थान में "वा:", "याभि:" ये दोनों पद व्याख्यान के कारण अपने स्वरस से उपस्थित होते हैं। यहाँ पर णिजन्त वस आच्छादने धातु से कर्म में क्त प्रत्यय होने पर 'वासित' रूप हो गया। 'भू: भुव: स्व:' ये तीनों लोक वासनामय हैं। भगवन्! इस प्रकार आपकी करुणा बिना तीनों लोकों की और आत्मा की आच्छादक वासना-राशि को वश में करना दुर्घट है। स्वामिन्! दीनों के प्यारे! आर्त जनों के बन्धु! शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म से शोभित! गरुड़वाहन! स्वतन्त्र! परम तेजोमय! आप माया को वश में करनेवाले महाप्रभु, निष्कारण अत्यन्त अनुग्रह-रूपी अमृत के महोदधि और अन्तर्यामी (सबके अन्तर्गत होकर नियमनकर्ता) हैं; अत: आप स्वयमेव भक्तों की भजन-विधि-विरोधी विषय-वासना-रूप विष की लता को सर्वथा नष्ट करके उनके मन में स्वत: अनुभवनीय परम-सुखस्थान-स्वरूप अपने चरण-कमलों की एकान्त निष्ठा (भक्ति) उत्पन्न कीजिए।

त्वत्कामोऽस्ति सदैव कुप्यति च तद्विघ्नाय लुभ्यत्यथो
चिन्तायां तव मुह्यति क्वचिदहो चित्रैश्चरित्रैः शतैः।
आवेशान्महतो रसस्य सहसा माद्यत्यसन्मत्सरी
धीरोऽपीह रमापते विनिरमाः षड्वर्गमत्यर्गलम् ॥ १ ॥

भवानीशितैको मतः सन्मतीनां भवानीशजीवात्मसञ्जीवनाक्षः।
भवानीकलुप्तोपलब्धेर्मम त्वं भवानीहितार्थाङ्कुरोत्कर्तनाय ॥ २ ॥

भो भो भो भाविजन्मक्षयमभिलषता संश्रितस्त्वं मया तु
प्रायोऽत्राभाति चित्रं मुरहर भवता प्रत्यभिज्ञां तदर्थे।
दातुं जन्मोदहारीदमपि किमथवा खण्डितैश्वर्यपूर्त्यै
स्वस्यैवैवं तथा हि त्रिजगति भगवन्सोऽहमेवाऽस्मि सिद्धः ॥ ३ ॥

सञ्जातस्मितजितशीतरश्मिलक्ष्मीः स्वेच्छाशीर्भुगतुगपूगपालनैकः।
गोविन्दः स्फुरदरविन्दचारुनेत्रः प्रागल्भ्यं मम सहतां सहस्रमूर्तिः ॥४॥

'अलक्षितद्विजद्वारमुत्तमानां स्मितं भवेदि'ति हारावली। इति द्वितीयोऽर्थः।

भक्तजन सदा आपकी ही कामना करते हैं, और जब आपकी कामना में विघ्न पड़ते हैं तो उन्हें क्रोध आता है। किन्तु कुछ काल के अनन्तर वे उसी कामना का लोभ करने लगते हैं और कभी आपके सैकड़ों विचित्र चरितों के चिन्तन में मुग्ध होकर मोह में पड़ जाते हैं। धीर पुरुष भी प्रबल राग के प्रवाह में पड़कर अत्यन्त मत्सरी (जलनशील) हो सहसा मद को प्राप्त हो जाते हैं। अतएव भगवन् रमापते! कृपा करके काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ, मोह, इस षड्वर्ग की निवृत्ति करो। अच्छी बुद्धिवाले पुरुष केवल शिवजी को ही भव (संसार) के अनीश जीवात्मा के लिये सञ्जीवन औषध-रूप मानते हैं। अत: आप भव के अनीक (समूह) से लुप्त उपलब्धि (ज्ञान) वाले मेरे अनीहित (अनभीष्ट) अर्थ के अङ्कुर का छेदन कीजिए। भगवन्! कृष्ण! भावी जन्म का क्षय चाहनेवाले मैंने आपका आश्रय लिया है। प्राय: यहाँ आश्चर्य मालूम होता है कि आपसे परिचय देने के लिये भक्ति के वास्ते मैंने तो इस जन्म को ही प्रार्थना और खण्डित ऐश्वर्य-पूर्ति के लिये उदाहरण किया। भगवन्! मैं जन्म लेकर वैसा ही सिद्ध हुआ हूँ। जिन्होंने अपने स्मित (हँसी) द्वारा चन्द्रमा की शोभा को जीत लिया है वे, अपनी इच्छा से आशीर्वाद को भोगनेवाले भक्तों के पालन में तत्पर, खिले हुए कमल के समान रमणीय नेत्रोंवाले, सहस्रमूर्ति गोविन्द भगवान् मेरे प्रागल्भ्य (ढिठाई) को सहें। जिस स्मित में दाँतों का द्वार (ओठ) खुल न जाय, वह मनोहर स्मित होता है। यह 'हारावली' में लिखा है। "वासना वासुदेवस्य" श्लोक का यह दूसरा अर्थ है।

अथवा प्रकारान्तरेणापि श्लोकार्थं वर्णयाम:—वासुदेव भो भगवन् नमस्तुभ्यमस्तु। ननु कीदृशोऽहमन्यानपहाय पुन: पुनरपि मामेव नमसीति विवक्षुमिवालक्ष्यसद्भिर्नन्तव्यो नामैकस्त्वमेव न हि कश्चिदन्योऽस्तीत्युपपादयति त्रिभि: पादै:। अत्र सर्वभूतनिवासीनामिति तावदावन्तद्वितीयैकवचनम्। यो भवान्सर्वभूतनिवासी स एव इन: प्रभु: स्वामी यस्या इति बहुव्रीहि:। 'इन: प्रभौ नृपे सूर्ये' इति विश्व:। सा सर्व्वभूतनिवासीना मुक्तिरित्यर्थ:। समस्तवेदवचसां तद्विदां मुमुक्षूणां च परमपुरुषार्थतया मुक्तावेव तात्पर्य्यात्। अस्य पद्यस्य चार्थविशेषपरत्वात्। तां मुक्तिं लक्ष्यीकृत्येत्यध्याहार:। अध्याहारो नामापूर्वोत्प्रेक्षणम्। लक्ष्यीकृत्येत्यस्य।

अथवा "वासना वासुदेवस्य" श्लोक के अर्थ का अन्य प्रकार से भी वर्णन करते हैं—वासुदेव ! भगवन् ! आपको नमस्कार हो। शङ्का होती है कि मैं कैसा हूँ कि अन्य का परित्याग करके मुझको ही बार-बार प्रणाम करते हो। भगवान् को ऐसी शङ्का करनेवाला समझकर, 'सज्जनों के नमस्कारार्ह केवल आप ही हो, दूसरा कोई नहीं', इसी बात का श्लोक के तीन चरणों से उपपादन किया जाता है। इस श्लोक में "सर्वभूतनिवासीनाम्" अंश आबन्त और द्वितीया का एकवचन जानना चाहिए। जो आप सर्वभूतों के निवासी हैं वही आप जिसके ईन (स्वामी) हैं, इस प्रकार बहुव्रीहि समास करना चाहिए। ईन शब्द प्रभु, सूर्य और नृप का वाचक है। यहाँ "यस्याः" इस अन्य पद का अर्थ मुक्ति लेना चाहिए। "सर्वभूतनिवासीना" मुक्ति कही जाती है, यह अर्थ सिद्ध हुआ। सम्पूर्ण वेद-वाणी और उसको जाननेवाले मुमुक्षु पुरुषों का—परम पुरुषार्थ होने के कारण—मुक्ति में ही तात्पर्य है। उस मुक्ति को लक्ष्य बनाकर मेरी वासना का नाश करो। यहाँ "लक्ष्यीकृत्य" पद का अध्याहार किया गया है।

निस्सारेऽस्मिन्संसारे पूर्वाचरितपरिपाकरूपेणोपस्थितेषु चकोरचञ्चलविलोचनमधुमधुरवचनरुचिरकुचकचविकचचम्पककुसुमदलविलसदपघन-घनरुचिसदनसुरदनवदनविधूतमदनवनितायुवतिमतिमदतिमृदुतनुतनुजनुरनुजनसुहृज्जनविविधविचित्रभाजनरुचिकरसरसरसभोजनमनोज्ञताम्बूलवीटिकाचुम्बनपरिहसनमहाधनवसनकोमलकशिपुशयनशोभनभवनधनकनकमणिगणरणदाभरणगोवारणतुरगरथराज्ज्यादिषु विषयविषोपरागवेगमलीमसमनसामतिलुलितचेतनानां तनुमतां प्रतीयमानमपि सुखमुत्तरकालदुरितजालजनकमित्यनादेयमेव विवेकिभिः।

इस निस्सार संसार में पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त, चकोर के नेत्र के समान चञ्चल नेत्रोंवाली, शहद के समान मीठी वाणी से युक्त, मनोहर कुचों और केशों के सहित, खिले हुए चम्पा के फूलों के पत्तों के समान सुन्दर अवयवोंवाली, मेघ के समान कान्ति के स्थान अच्छे दाँतोंवाले मुख से सम्पन्न, अपनी सुन्दरता से कामपत्नी (रति) को भी तिरस्कृत करनेवाली युवती तथा बुद्धिमान् जन, अति मृदु शरीर, तनुजनु (पुत्र), अनुजन (भाई), सुहृज्जन, नाना प्रकार के चित्र-विचित्र भाजन (पात्र), रुचिवर्द्धक रसीले भोजन, कोमल

बिछौने और तकियावाली शय्या, सुन्दर गृह, धन, स्वर्ण, मणिगण, झनकार करते हुए भूषण, गौ, हाथी, घोड़ा, रथ, राज्य इत्यादि वस्तुओं में विषय-रूप विष के उपराग (छाया) के वेग से मलिन मनवाले तथा अत्यन्त नष्ट बुद्धिवाले देहधारी पुरुषों द्वारा अनुभवनीय सांसारिक सुख परिणाम में पापों का जनक होता है, इस कारण विवेकी पुरुषों को इस सुख से दूर ही रहना चाहिए।

किन्तु यो वै भूमा। तत्सुखं नाल्पे सुखमस्तीत्यादिश्रुतिकदम्बप्रतिपाद्यमानोत्तमोत्तमसुखरूपैका मुक्तिः। सा च भगवत्पदप्रसादैकसमधिगम्या मम यथा सम्पत्स्यते तथैवात्र मया भवितव्यमिति तीव्रमभिसन्धायेत्यर्थः।

किन्तु 'जो व्यापक ब्रह्म है वही सुख-रूप है; अल्प वस्तुओं में सुख नहीं', इत्यादि श्रुतियों के अनुसार उत्तम से उत्तम सुख-रूप मुक्ति ही है। वह मुक्ति भगवान् के चरण-कमलों की कृपा से ही प्राप्त की जा सकती है। वह मुक्ति मुझको जिस प्रकार प्राप्त हो वैसा ही उद्योग, उत्कट अभिसन्धान के साथ, करना चाहिए।

यः भूमा अपरिच्छिन्नस्वरूपो भगवान्। बहोर्लोपो भू च बहोरिति शास्त्रेण इमनिच् इलोपो बहुशब्दस्य भूरादेशः। तदीयबन्धूकबन्धुर-सून्नतनिजनखमणिघृणिधोरणिधाटिकाऽधिकाऽवधीरितस्वच्छन्दसमुद्गच्छद्-च्छारुणतरतरणिकिरणसरणिमसृणचरणतरुणसरसीरुहसन्निधानसंप्राप्ति-रूपं यत्सुखं तदेव परिपूर्णं सुखम्। नित्यत्वादद्वितीयत्वाच्च। वै निश्चितमेतत्। अल्पे परिच्छिन्ने भौमदिव्यभोग्यवस्तुनि सुखं नास्ति। परिणामदुःखरूपत्वेन तुच्छतरत्वात्। सुदूरत एव तदपहेयमेवेत्यवधारणद्वयमिति श्रुतेरर्थः।

जो भगवान् व्यापक हैं अर्थात् स्वरूप के परिच्छेद (इयत्ता, मान) से रहित हैं उनके बन्धूक (दुपहरिया) के फूल के समान बन्धुर (रमणीय), उन्नत तथा अपनी नख-रूपी मणियों की घृणि (रश्मि) की धोरणी (चतुरता के साथ गति) की धाटिका (शत्रु के अभिमुख विजय को जाने) से अधिक अवधीरित (तिरस्कृत), स्वच्छन्द निकलती हुई, स्वच्छ और अत्यन्त रक्त सूर्य-किरणों की अपेक्षा मसृण (चिकने) पादरूप नूतन कमलों के सन्निधान (सामीप्य) की सम्प्राप्ति रूप सुख ही परिपूर्ण सुख है; क्योंकि वह नित्य और अद्वितीय

है। "यो वै भूमा" इस श्रुति का वै शब्द निश्चयार्थक है। अल्प—परिच्छिन्न पृथिवी तथा स्वर्गलोक की भोग्य वस्तुओं में सुख नहीं है। परिणाम में दुःख-रूप होने से ये भौम और दिव्य भोग तुच्छ हैं अतएव अत्यन्त दूर से ही त्याज्य हैं। इस स्थान में "भूमा" पद में "बहोर्लोपो भू च बहोः" सूत्र से इमनिच् प्रत्यय हुआ है, 'इ' का लोप और बहु शब्द को भू आदेश किया गया है। धोरणी शब्द धौ ऋ गतिचातुर्ये धातु से ल्यु और स्त्रीलिङ्ग-बोधक प्रत्ययों के लगाने पर बनता है और यह वाहन का वाचक है। अमरकोश के द्वितीय काण्ड के आठवें वर्ग में धोरण शब्द—"सर्वं स्याद्वाहनं यानं युग्यं पत्रं च धोरणम्"—वाहन के पर्याय में आया है किन्तु इस स्थान में धोरणी शब्द क्रियापरक है, केवल धातु के चातुर्यगति-रूप अर्थ को कहता है। घाटिका शब्द अभ्यवस्कन्दन (शत्रु के अभिमुख जाना) अर्थ को प्रकट करता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् के चरण-कमलों के नखों की रश्मि उदयकाल के सूर्य की किरण की लालिमा को जीतनेवाली है।

अथ प्रथमचरणे। असुदेवस्येति पदच्छेदः। असुभिः प्राणैरिन्द्रियैश्च दीव्यति विषयान् उपजुषत इत्यसुदेवो जीवः यः संसारासारत्वदर्शी। तस्य सम्बन्धिन्या वासनावा इत्यन्वयः। अत्र वासशब्दात्प्राक् उपोपसर्गः। वासितशब्दात्प्राक् निरुपसर्गश्च उपपदत्वेनान्तर्भावितो वेदितव्यः। ननु तत्कुत इति चेत्। अत्रेदं व्याहृतं श्रीगुरुचरणैः—क्वचिदुपपदाभावेऽपि तस्यैवार्थे केवलधातुभ्यः प्रत्ययविधिः सिद्धो बाहुलकादिति। सर्वे सर्वार्थवाचका इति न्यायादपि। तथा हि चन्द्रे मो डिच्चेत्यौणादिक सूत्रेण चन्द्रं कर्पूरमाह्लादं वा मिमीते परिमातीति विग्रह्य चन्द्रशब्द उपपदं माङ् माने शब्दे चेति धातोरसि प्रत्यये डिति विहिते चन्द्रमा इति रूपं सिद्ध्यति। अत्राहोत्पलिनीकारः—

इसके अनन्तर "वासना वासुदेवस्य" इस श्लोक के प्रथम चरण में 'असुदेवस्य' यह पदच्छेद करना चाहिए। असु (प्राण) तथा इन्द्रियों द्वारा विषयों का जो सेवन करता है वह असुदेव जीव है। जो जीव संसार की असारता को देखता है उस जीव की उपवास-रूपी नौका से, इस प्रकार अन्वय करना चाहिए। इस जगह वास शब्द से पूर्व 'उप' उपसर्ग और वासित शब्द से पहले 'निर्' उपसर्ग भी लगाना चाहिए। यद्यपि वास और वासित शब्द बिना उपसर्ग

के पहले कहे गये हैं तो भी उक्त उपसर्गों के उपपद होने से उनका अर्थ धातु के अन्तर्भूत जानना चाहिए। शङ्का होती है कि 'उपसर्ग के बिना उसका अर्थ धातु में रहता है', यह किस प्रकार जाना जाय। यदि ऐसा कहें तो इस स्थान में गुरु-चरणों ने कहा है कि कहीं-कहीं उपपद के अभाव में भी उस उपपद के ही अर्थ में केवल धातुओं से प्रत्यय विधि सिद्ध होती है, क्योंकि व्याकरण में बहुत से कार्य बाहुलक से होते हैं।

"क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥" के अनुसार सूत्रों की कहीं प्रवृत्ति होती है और कहीं नहीं; इसी प्रकार कहीं पर विकल्प हो जाता है तथा कहीं अन्य का अन्य ही हो जाता है। इस प्रकार विद्वान् लोग शास्त्र के विधान को अनेक प्रकार से देखकर चार प्रकार का बाहुलक कहते हैं। 'सब शब्द सम्पूर्ण अर्थों को कहते हैं', इस न्याय से भी उपसर्ग-विशिष्ट उपवास शब्द के अर्थ को तथा निर्वासित शब्द के अर्थ को वास और वासित कहते हैं। इस न्याय का उदाहरण और भी दिखाते हैं—"चन्द्रे मो डिश्च" (चन्द्र उपपद रहते मा धातु से अस् प्रत्यय हो और वह डित् हो) इस उणादि सूत्र द्वारा मा धातु से अस् प्रत्यय हो गया है। कर्पूर अथवा आह्लाद को जो बढ़ाता है वह चन्द्रमा है, इस प्रकार विग्रह करके चन्द्र शब्द उपपद होने पर "माङ्माने शब्दे च" इस धातु से अस् प्रत्यय करने पर उसको डित् विधान करके मकार में अकार का लोप कर दिया तब 'चन्द्र-मस्' शब्द सिद्ध हुआ। उसका प्रथमा विभक्ति में चन्द्रमाः रूप हो गया। यहाँ उत्पलिनीकार कहते हैं—

'माशब्दः केवलोऽपीह सम्मतो बहुदृश्वनामि'ति। इह चन्द्रमसि वाच्य इत्यर्थः। यथा चन्द्रमाः चन्द्रमसौ चन्द्रमसः तथा माः मसौ मस इत्यपि तुल्यार्थानि रूपाणि भवन्ति। किञ्च। भाष्यकारैरपि दुरुपपदमादाय दुर्जनानर्दयति पीडयतीति जनार्दन इति व्याख्यातम्। अन्यच्च—

बहुत जाननेवाले पुरुषों की दृष्टि में केवल मा शब्द भी चन्द्रमा शब्द के अर्थ में सम्मत है। "इह" पद का अर्थ चन्द्रमा है। जैसे चन्द्रमाः चन्द्रमसौ चन्द्रमसः रूप होते हैं वैसे ही माः मसौ मसः समानार्थक रूप भी होते हैं। भाष्यकार ने भी दुर् उपपद रखकर 'दुर्जनों को जो पीड़न करता है वह जनार्दन है' इस प्रकार से व्याख्यान किया है।

यदैव पूर्वे ज्वलने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज।

इत्यत्र महाकविः कालिदासोऽपि सृज विसर्ग इति धातोः केवलस्य विसर्जनार्थत्वं स्फुटं प्रायुङ्क्त। अपि च। नीतिचिन्तामणौ—

इच्छद्भिः स्वजनप्रीतिमस्थाने त्यज्यतां ग्रहः॥ इति।

अस्थाने अविषये ग्रह आग्रहस्त्यज्यतामित्यर्थः। अनवसरे किलाग्रहवत्सु स्वजनप्रीतेरनुत्पत्तेरिति भावः। आङ्पूर्वकस्यैव ग्रह उपादान इति धातोर्निर्बन्धरूपोऽर्थः प्रसिद्धः। केवलस्य तु ग्रह इति स्वीकारे सूर्य्यादिषु ग्राहे पूतनायां पिशाचभेदे चेति। एवं भूताः प्रयोगास्तत इतः शतशो विदिता एव विपश्चितामित्यास्तान्तावत्। प्रकृतमनुसरामः—वसनं वासः, उपवास इत्यर्थः। तल्लक्षणमुक्तं पुराणे—

उपावृत्तस्तु पापेभ्यो यो हि वासो गुणैर्हरेः।
उपवासः स विज्ञेयो नोपवासस्तु लङ्घनम्॥ इति।

इस विषय में और भी प्रमाण हैं—"जिस समय सुन्दर दाँतोंवाली पार्वती ने अग्नि में अपने पहले शरीर को, अपने पिता दक्ष प्रजापति पर क्रोध करके, त्याग दिया", यहाँ पर महाकवि कालिदास ने भी केवल सृज विसर्गे धातु का ही विसर्जन अर्थ में स्फुट प्रयोग किया है। चिन्तामणि ग्रन्थ में भी कहा है—'अपने जनों की प्रीति चाहनेवाले पुरुषों को अनुचित आग्रह छोड़ देना चाहिए' (अनवसर में आग्रह करनेवाले पुरुषों में अपने जनो की प्रीति नहीं होती है, यह तात्पर्य है)। यहाँ आङ्पूर्वक ग्रह उपादाने धातु का ही निर्बन्ध (आग्रह) रूप अर्थ प्रसिद्ध है; केवल ग्रह-धातु का स्वीकार, सूर्य आदि नवग्रह, ग्राह (मकर, मच्छ), पूतना और पिशाच इन विशिष्ट अर्थों में प्रयोग होता है, आग्रह अर्थ में नहीं। इसलिये यहाँ पर लुप्त अङ्ग का प्रयोग मानकर ग्रह का अर्थ आग्रह करना चाहिए। इस प्रकार के सैकड़ों प्रयोग जहाँ-तहाँ विद्वानों की दृष्टि में प्रसिद्ध ही हैं। इसलिये इसका अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं।

अब प्रकृत श्लोक की व्याख्या का अनुसरण करते हैं—वास शब्द भावघञन्त है। वसनम् और वास समानार्थक शब्द हैं। इनका अर्थ 'उपवास' है। उपवास का लक्षण पुराण में कहा है—पापों से बचे

रहकर भगवान् के गुणों के साथ रहने का नाम उपवास है, अनाहार रहने का नहीं।

भवजलधितरणसाधनीभूतत्वात्स एव काऽपि नौः तरणिः। 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरि'रित्यमरसिंहः। तया उपवासरूपया नावा कृत्वा। भुवनत्रयम्। सतन्मात्रनभोनभस्वदग्निजलाचलाहेतूनामुत्तममध्यमाधमकर्म्मोपाधीनां व्यष्टिसमष्टिरूपाणां जीवानां तत्तदनुरूपविषयफलभोगस्थानानि स्वर्गभूमिपातालानि भुवनानि तेषां त्रयम्। त्रयमित्युक्तिस्त्रिलोकपक्षाश्रयणात्। चतुर्दशकमित्यर्थः। त्रित्वसङ्ख्योपादानात्तु नमस्कर्तुरयमाशयोऽनुमीयते। प्रकृतिमहदहङ्कारत्रयात्मकत्वेन सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयात्मकत्वेन च अध्यात्माधिदैवाधिभूतत्रयात्मकत्वेन च उत्पत्तिसत्ताविपत्तिदशात्रयात्मकत्वेन च विश्वतैजसप्राज्ञत्रयात्मकत्वेन च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थात्रयात्मकत्वेन च भूतभवद्भाविकालत्रयात्मकत्वेन च मित्रोदासीनशत्रुपक्षत्रयात्मकत्वेन च कफवातपित्तत्रयात्मकत्वेन च अनाद्यविद्यावेगविजृम्भितविविधक्लेशजालाकुलः संसारो लक्ष्यते भुवनत्रयपदेनेति।

संसार-रूपी समुद्र से पार होने का एकमात्र साधन होने से उपवास ही एक अनिर्वचनीय नौका है। 'नौः तरणिः तरिः' ये शब्द नौका के अर्थ में हैं और स्त्रीलिङ्ग हैं, ऐसा अमरसिंह ने कहा है। उस उपवासरूप नौका द्वारा संसार की निवृत्ति होती है और वह संसार है तन्मात्राओं सहित तीनों भुवनों तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी के हेतुरूप उत्तम मध्यम अधम कर्म उपाधिवाले व्यष्टि (एक एक) समष्टि (सकल) जीवों के अनुरूप हीन मध्यम तथा उत्तम विषय-रूपी फल भोगने के स्थान स्वर्ग, भूमि और पाताल। यहाँ पर जो लोकों की संख्या तीन बताई गई है वह 'लोक तीन ही हैं' इस सिद्धान्त के अनुसार है। वास्तव में 'त्रय' पद से चौदह भुवनों का ग्रहण करना चाहिए। तीन संख्या के ग्रहण करने से नमस्कार करनेवाले का आशय यह है कि प्रकृति महत् अहङ्कार इन तीनों से युक्त, सत्त्व रज और तम गुणों के सहित, अध्यात्म अधिभूत एवं अधिदैव समेत, उत्पत्ति सत्ता और नाश इन तीन दशाओं से संबद्ध, विश्व तैजस तथा प्राज्ञ से अन्वित, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से पूरित, भूत वर्तमान भविष्यत् इन तीनों कालों, मित्र उदासीन शत्रु इन तीन पक्षों और कफ वात पित्त इन तीनों के स्वरूप से अनादि अविद्या के वेग द्वारा

प्रकाशित एवं अनेक प्रकार के क्लेशों से व्याप्त संसार का ग्रहण करना चाहिए। यह भुवत्रय पद से ज्ञात होता है।

संसारो नाम जन्ममृत्युप्रवाहः। संसरणं संसार इति व्युत्पत्तेः। तत् वासितं निर्वासितमित्यर्थः। निरुपसृष्टस्य वसतेर्दूरीकरणमर्थः।

जन्म-मृत्यु-प्रवाह का नाम संसार है। लोक और परलोक में आना-जाना यह संसार-पद की व्युत्पत्ति है। वह संसार निर्वासित (निवृत्त) कर दिया जाता है, अर्थात् उपवासरूपी नौका से हटा दिया जाता है। निर् उपसर्ग के सहित वस धातु का अर्थ दूरीकरण है।

'अपि स्वकुल्यः प्रतिकूलशीलो निर्वासनीयो नगरान्नृपेणे'त्यादौ निर्वासनीयः स्वदेशात् दूरे निष्काशनीय इत्यर्थावगमात्। प्रकृते निर्वासितं दूरमुल्लङ्घितं भवतीत्यर्थः। जीवेनैव कर्त्रेत्यर्थाल्लभ्यते।

'स्वकुल्यः' इत्यादि पद्य में अपने कुल का व्यक्ति भी यदि प्रतिकूल स्वभाववाला हो तो राजा को चाहिए कि उसे अपने नगर और देश से दूर हटा दे। यहाँ "निर्वासितम्" पद का अर्थ 'स्वभाव से दूर हटाना' है। यहाँ निर् उपसर्गपूर्वक वस धातु का अर्थ दूर करना प्रतीत होता है। किसने वासना को निवृत्त किया, इस आकांक्षा में प्रतीत होता है कि जीव-रूपी कर्ता ने ही निवृत्त किया।

यद्वा। असुदेवस्य असुदेवेनेत्यर्थः। शेषत्वविवक्षायां सम्बन्धसामान्ये तृतीयार्थे कर्तरि षष्ठी। शेषे विभाषेति शास्त्रात्। न च नात्र षष्ठी भविष्यति। न लोकाव्ययनिष्ठेति तन्निषेधादिति वाच्यम्। नैष दोषः। आर्षत्वान्निषेधाप्रवृत्तिं प्रतीमः। व्याकरणशास्त्रस्य लक्ष्याधीनप्रवृत्तेः। अत एव लक्ष्यानुरोधाच्च व्यवस्थेति कैय्यटोपाध्यायाः। उत्सर्गापवादवैकल्पिकातिदेशादेशागमविधयः सर्वेऽपीष्टानुरोधेन सञ्चारणीया व्याख्यानबलादिति शास्त्रार्थतात्पर्यविदः। तथा हि प्रथमस्कन्धे पञ्चमाध्याये—

अथवा असुदेवस्य यह षष्ठी सम्बन्ध-सामान्य में शेषत्व विवक्षा करके तृतीया के अर्थ में, कर्ताकारक में, है—यह विधान "शेषे विभाषा" पाणिनि-सूत्र से किया जाता है। यहाँ पर "न लोकाव्ययनिष्ठा" इस निषेध से षष्ठी नहीं होगी ऐसा कहें तो दोष नहीं है, क्योंकि छान्दस होने से उक्त निषेध की प्रवृत्ति यहाँ

नहीं होती। व्याकरण-शास्त्र की प्रवृत्ति लक्ष्य के अधीन है इसलिये लक्ष्य के अनुसार ही व्यवस्था करनी चाहिए, यह कैयटोपाध्याय कहते हैं। उत्सर्ग, अपवाद, वैकल्पिक, अतिदेश, आदेश और आगम, इन सब विधियों की प्रवृत्ति इष्टानुरोध और परम्परा व्याख्यान के बल से ही करनी चाहिए, ऐसा शास्त्रार्थ के तत्त्वज्ञाता कहते हैं।

यत्र क्व वाऽभद्रमभूदमुष्य किं कोवाऽर्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।

अभजतां भगवन्तमभजद्भिरित्यर्थः। स्वधर्ममात्रेण को वा अर्थः प्राप्त इति। चतुर्थे च नवमाध्याये—

'वेदाहं ते व्यवसितं हृदि राजन्यबालक।'

हे ध्रुव! हृदि ते व्यवसितं हृदये त्वया सङ्कल्पितमहमन्तर्यामी वेदेति।

वनपर्व्वणि तीर्थयात्रायाम्—'स्वागतं ते मुनिश्रेष्ठ तप्तं ते सुमहत्तपः।'

ते स्वागतं त्वया शोभनमागमनं कृतम्। ते त्वया सुमहत्तपस्तप्तमिति। एवं लक्षशः कोटिशोऽर्बुदशश्च। कुत्र कुत्रायुष्मान् न लोकेति घण्टां घणघणयिष्यति। महत्प्रयोगेषु कुचोदयतां दोषापत्तेः। स्वतन्त्रा भगवन्तो यतो न केनापि नियन्तुं शक्याः। येषां जिह्वाग्रे सहस्रशो व्याकरणराशिरनिशं नरीनर्ति। उक्तं हि भावदीपकारैः—

यान्युज्जहार भगवान् व्यासो वेदमहोदधेः।
तानि किं पदरत्नानि मान्ति पाणिनिगोष्पदे॥ इति।

तस्मादस्मदादिभिरल्पवेदिभिः परवद्भिर्यथाव्याकरणमेव प्रयोक्तव्यमिति शिवः पन्था विदथानाम्।

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के पाँचवें अध्याय में "यत्र क्व वा" इत्यादि पद्य में "अभजताम्" इसका 'भगवन्तं अभजद्भिः' यह अर्थ किया है (भगवान् का भजन न करनेवाले पुरुषों को केवल अपने धर्ममात्र से कौन सा अर्थ प्राप्त होता है? अर्थात् विना भक्ति के कोई अर्थ नहीं मिलता)। चतुर्थ स्कन्ध के नवमाध्याय में भी कहा है कि 'हे क्षत्रिय-बालक ध्रुव! तुम्हारे हृदय के व्यवसित (सङ्कल्पित) को मैं, अन्तर्यामी होने के कारण, जानता हूँ'। महाभारत के वनपर्व में, तीर्थयात्रा के अवसर पर, "मुनिश्रेष्ठ! तुम्हारा स्वागत हो, तुमने बड़ा भारी तप किया है।" इस स्थान में "ते" षष्ठ्यन्त पद 'त्वया' अर्थ में है (आपने सुन्दर आगमन और बहुत तप किया)। इस प्रकार लाखों, करोड़ों एवं अरबों कर्तृ-तृतीया

के अर्थ में षष्ठ्यन्त रूप मिलते हैं। आयुष्मन् ! तुम कहाँ-कहाँ "न लोकाव्यय" इत्यादि सूत्र के निषेध-रूपी घण्टे को घनघनाते फिरोगे ? बड़े पुरुषों के प्रयोगों में कुत्सित प्रश्न करनेवालों का दोष निकालना ठीक नहीं। महापुरुष स्वतन्त्र और समर्थ होते हैं। उन्हें बन्धन में कौन डाल सकता है ? उन लोगों की जिह्वा पर हजारों व्याकरण नाचते रहते हैं। इस विषय में 'भावदीप'कार ने भी कहा है कि व्यास भगवान् ने जिन उदाहरणों को वेद-रूपी महोदधि से निकालकर दिखाया वे पद-रत्न पाणिनि-रूप 'गोष्पद' में कब आ सकते हैं ? इसलिये अल्पज्ञ और परतन्त्र हम लोगों को व्याकरण के अनुसार ही प्रयोग करना चाहिए, यही विद्वानों का कल्याणमय मार्ग है।

वस्तुतस्तु षष्ठी शेषे इत्येतस्मिन्सूत्रे मूल एव कर्म्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येवेति वाक्यमाख्याय सतां गतमित्याद्युदाहृतत्वात् कर्म्मादीनामपीति प्रतीकमुपादाय यथा विशेषणाविवक्षायां रूपवानिति वत् विवक्षायां तु नीलः पीत इत्यादि प्रयुज्यते तथेदमपि न्यायसिद्धमिति भाव इति मनोरमायां चोक्तत्वादीदृशशङ्काऽवसरमेव न पश्याम इत्यलम्।

वास्तव मे "षष्ठी शेषे" सूत्र में मूल में ही कर्मादिकों को भी सम्बन्ध-मात्र विवक्षा करने से षष्ठी ही होती है, इस वाक्य को कहकर "सतां गतम्" यह उदाहरण दिया है। "कर्मादीनामपि" प्रतीक (अंश) को लेकर जैसे विशेषण की अविवक्षा में 'रूपवान्' प्रयोग है वैसे ही विवक्षा में नीलः, पीतः, इत्यादि प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार यह प्रयोग भी न्याय-सिद्ध है, ऐसा 'मनोरमा' में कहा गया है। इस हेतु ऐसी शङ्का असङ्गत जान पड़ती है। इस वास्ते इस विषय पर अधिक शङ्का-समाधान अनावश्यक है।

तथा चायमत्र निष्कर्षः—भो भगवन् भजदन्तराविर्भवदभिरामधामन् प्रकामसमुद्दामकरुण कामकल्पशाखिन् पापात्कर्मणो निवृत्तः हरेः तवैव गुणैः एकान्तभावनाभावितैः श्रवणकीर्तनवन्दनार्च्चनचिन्तनादिरूपैः समुपेतः शालग्रामादिरूपस्य वा गुर्वादिरूपस्य वा प्रत्यग्रूपस्य वा भगवतः भवत एव उप समीपे यो वासः समवस्थानम्।

निष्कर्ष यह है—भगवन् ! भजन करनेवालों के हृदय में प्रकटित मनोहर धामवाले ! उत्कट दयावाले ! कामना के कल्प-वृक्ष ! एकान्त भावना से प्राप्त कीर्तन, वन्दन, अर्चन, चिन्तन आदि रूप-गुणों के द्वारा शालग्रामादि रूप और

गुरु आदि कृपा एवं सबके अन्दर व्याप्त आपके समीप में स्थिति करना ही उपवास है।

तावन्मात्रेणैव खलु निखिलदु:खकरण्डसंसृतिनिवृत्त्या सत्यामथ च निजचरणैकशरणसमुचितसकलजगदाचितचारुचरितचयचिन्तनानुरक्तभक्तजनसमाजभक्तिरसप्रसरपरवशेनेव देवदेव केवलनैसर्गिकनिरवधिदयासुधासागरायितहृदयालयादुच्चलदचपलविपुलप्रसादविशेषातिरेकविकसितसस्मितमञ्जुलनयननलिनयुगलविगलदुपमश्रीभिरभिविलसताऽवता भवता समनुकम्पित एव जीवात्मा सरित्प्रवरां विरजां समुत्तीर्य्य सूर्य्यद्वारेण ते विरजा: प्रयान्ति यत्रामृत: पुरुषोऽव्ययात्मेति श्रुतिसमाम्नातभवदधीनां मुक्तिमायासमन्तरैव प्राप्नोतीतीत्थम्भूतमहाद्भुतमहन्महनीयमहिमसमूर्जितमहसोद्भासी परमेश्वर: साक्षाद्भवानेवेति कृत्वा भगवद्भवत्कृपाकटाक्षपातलेशमात्रपर्य्याप्तसमस्तपुरुषार्थसार्थभागहं पार्थसखमखण्डामृतमयूखमुखमखिलमखमुख्यमखिलीकृतसख्यसुखलिप्सुलेखं परिस्फुरदरविन्दसुन्दरदृगिन्दिरापरानन्दरसामन्दमन्दिरं वेदवेदान्तजातैकसर्व्वस्वं वसुदेवशब्दसमभिधेये विशुद्धमनसि सत्त्वगुणे वा प्रकाशमानत्वेन यादवप्रवरवसुदेवनन्दत्वेन च श्रीवासुदेवं भगवन्तं भवन्तमेव सन्ततमिह नमस्करोमीति तृतीयोऽर्थ: ।

देवदेव! इस प्रकार काय, वाक् और मन से भक्ति द्वारा भगवत्परायण होने पर सम्पूर्ण दु:खों के पात्र-रूप संसार की निवृत्ति होने से यह जीवात्मा एकमात्र रक्षक, सकल जगद्व्यापी भवदीयचरित के अनुरागी भक्तों की सुदृढ़ भक्ति के परवश,—स्वाभाविक निरवधि दया-रूपी सुधासागर निज हृदय की विपुल प्रसन्नता द्वारा विकसितस्मितमाधुरी से मनोहर नयन-कमलों की अनुपम श्री द्वारा शोभित— आपकी असीम अनुकम्पा प्राप्त कर नदीश्रेष्ठ विरजा को पार करते हुए सूर्य के द्वारा 'ते विरजा: प्रयान्ति यत्रामृत: पुरुषोऽव्ययात्मा' (मल-रहित भक्त लोग शरीर त्यागने के पश्चात् वहाँ जाते हैं जहाँ पर अविनाशी परमात्मदेव विराजमान हैं) इस श्रुति से प्रतिपादित एवं आपके आश्रित मुक्ति को बिना प्रयास के प्राप्त कर लेता है। ऐसे महाआश्चर्य-रूप एवं महापूजनीय महिमावाले, अधिक बलवान्, महातेज से प्रकाश-युक्त परमेश्वर साक्षात् आप ही हैं, ऐसी भावना करके मैं आपके कृपा-कटाक्ष मात्र द्वारा पूर्ण अखिल धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-रूपी पुरुषार्थ का भागी होकर भक्त अर्जुन के मित्र, पूर्ण चन्द्रमा के सदृश मुखवाले, सब यज्ञों

में प्रधान, खेद-रहित (सतत वर्तमान), मैत्री-सुख की लिप्सा (चाहना) करनेवाली रेखा से युक्त, कमल के समान सुन्दर दृष्टिवाली लक्ष्मी के परमानन्द-रस के महामन्दिर, वेद-वेदान्त के सर्वस्व, वासुदेव शब्द से उक्त, विशुद्धमन, सत्त्वगुण में प्रकाशमान और वसुदेवजी को आनन्द देनेवाले होने के कारण वासुदेव-रूपी आपको ही सदा नमस्कार करता हूँ। यह तीसरा अर्थ है।

तदित्थमुत्तमतमत्वेन समस्तनिगमागमस्तोमसंस्तुतोन्नतमहिमनि सुगोपनीयसूक्ष्मतरनिरतिशयानन्दसद्वस्तुतया महद्भिरन्तरैवैकतानमनीभूय समनुभूयमाने भगवति येषामपौरुषजुषामन्यथाभावस्ते किल जगति जाता अपि जातु न जाता एवेति मन्तव्यमथवा द्विपदपशव इति।

इस प्रकार समस्त निगम-आगम (वेद-वेदाङ्गादि) द्वारा भली भाँति जिनकी महिमा की स्तुति की गई है, जो अति गोपनीय, सूक्ष्मतर, निरतिशय और आनन्द सद्वस्तु (नित्य वस्तु) होने के कारण पूज्य महर्षियों द्वारा हृदय में अभेद भाव से एकाग्रचित्त होकर सम्यक् अनुभूत हैं उन सर्वोत्तम भगवान् में जिन निष्पराक्रमियों का अन्यथा भाव है, अर्थात् विपरीत भाव है, वे जगत् में उत्पन्न होते हुए भी नहीं उत्पन्न हैं, अथवा दो पैर के पशु हैं।

कृपादृक्पातलेशोऽपि यस्यामेयमहावहः।
तं कृष्णं शरणं यामि सर्व्वाधारमधीश्वरम् ॥ १ ॥
सेवन्ते रसिका मुकुन्दचरणौ पद्मौ मिलिन्दा इव
श्रीमत्तद्वदनं पिबन्ति निभृताश्चन्द्रं चकोरा इव।
ये भावाचितचेतसो भुवि चिरं शान्तं रसं लिप्सतां
तेषामात्मविनोदनाय रचना व्यातन्यतेयं मया ॥ २ ॥

यदत्र किञ्चिदनुपपन्नं तर्हि सुकृतसारपरोपकारपुरुषकारसदलङ्कारशालिनः शुद्धबुद्धय एव तत्समादधतामिति रचितोऽयमञ्जलिः—

निन्दन्तु निन्दनधनाः पिशुनाः कृतिं मे
सोऽहं भवामि विमना न मनागनागाः।
निश्श्रेयसोत्तरविसारिगिरां पयोदा
विद्वज्जना मम सनादिह माननीयाः ॥

जिनकी कृपा-दृष्टि का लेश-मात्र भी अप्रमेय अनन्त महाफल का देनेवाला है और जो सम्पूर्ण संसार के आधार तथा ईश्वर हैं मैं उन श्रीकृष्ण भगवान् की

शरण में प्राप्त होता हूँ। भक्तजन भगवान् के चरण-कमलों का सेवन ऐसे करते हैं जैसे भ्रमर पद्मों का सेवन करते हैं। चकोर जिस प्रकार स्थिर होकर चन्द्रमा का दर्शन करता है, उसी प्रकार भक्त लोग भगवान् के मुख को पान करते हैं, अर्थात् प्रगाढ़ प्रेम से देखते हैं। जो लोग प्रेम से व्याप्त चित्तवाले एवं सदा शान्त-रस को चाहनेवाले हैं उनके आत्म-विनोद के लिये यह रचना मैंने की है। इसमें यदि कुछ त्रुटि हो तो उसे सुकृत(पुण्य)सारवाले, परोपकार के लिये सत्पुरुषार्थ-रूपी अलङ्कार से शोभित, शुद्ध बुद्धि के लोग शुद्ध कर लें। इसके लिये मेरी यह करबद्ध प्रार्थना है। निन्दा ही जिनका धन है ऐसे कुटिल लोग इस कृति की भले ही निन्दा करें परन्तु मैं, निरपराध होने के कारण, कुछ भी उदास नहीं हूँ। परिणाम में कल्याण देनेवाले एवं वाणियों के मेघ-रूप विद्वज्जन मेरे सदा माननीय हैं।

गगनग्रहगजचन्द्रैर्मितवत्सर औरगे तिथौ गौरे।
राधे बुधे प्रयागे कृतिरियमुदभून्मुदे विदुषाम् ॥ १ ॥
असुबसुरसदेवदीपमाने परमरसोदनिधाविह प्रबन्धे।
मतिरभिरमतां सतां सुभूत्यै दिविजमहीजलतेव पुष्पिताग्रा ॥२॥
इति श्रीभगवत्कृष्णपादपद्ममधुव्रतः।
शिवशर्म्मसुधीर्वाचामेवोपारंस्त विस्तरात् ॥ ३ ॥
येन चखञ्ज यशोदा बहुशो दामभिरपूरिते बन्धे।
तं वयमुपसीदामो दामोदरमादरोदारम् ॥ ४ ॥
मम नित्यं हृदि भायाः पायाः केशव सदा च दासत्वम्।
एवं माम्प्रति नायादायासः कोऽपि कुत्रापि ॥ ५ ॥

मेरी यह विद्वन्मनोरञ्जनी रचना (वासुदेवरसानन्द) प्रयाग में, वैशाख सुदी पञ्चमी के दिन, वैक्रम संवत् १८९० में, पूर्ण हुई।

प्राणधन आनन्द-कन्द श्रीकृष्ण भगवान् की पवित्र कथा से परिपूरित, परम रस-निधि-स्वरूप, इस प्रबन्ध (वासुदेवरसानन्द) में सत्पुरुषों की मति, कल्याण-प्राप्ति के लिये, सु-पुष्पित स्वर्गलता और पृथिवीलता के समान अभिरमण करे।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमलों के भ्रमर (भक्त) शिवशर्म्मा नामक विद्वान् वाणी के विस्तार से विरत हुए। जिन कृष्ण भगवान् को बहुत सी रस्सियों से बाँधते-बाँधते यशोदाजी थक गईं किन्तु जो बाँधे नहीं जा सके

और जो आदर में उदार हैं तथा जिनके 'उदर' में रस्सी (= दाम) है, ऐसे दामोदर भगवान् की शरण में हम लोग प्राप्त होते हैं। केशव! मेरे हृदय में सदा प्रकाशित होकर मेरी दासता की रक्षा करो; मेरे लिये कहीं भी कोई कष्ट न हो।

श्रुतिषु यदुक्तं वस्तु त्वन्नाम मुकुन्द सान्द्रदधिमस्तु।
मम रसनायामस्तु स्यां तत एवाप्तकामस्तु॥ ६॥
दधदधीश यदा जयसि स्वयं निजदृशं सदयां सदयांशदाम्।
भुवि भवन्ति तदैव निराकुलाः कमलनाभ जना भजनाय ते॥ ७॥
भावेनैवैकेन येनाञ्जसा त्वं सात्त्वद्भिः सँल्लभ्यसेऽभ्यासिभिस्तम्।
मय्याधातुं त्र्यय्यधीशानिशं ते वात्सल्यश्रीशालिनी दृक् चकास्तु॥ ८॥
स्मितसमितमुखेन्दू राजदिन्दीवराभाः
कनकनवसुवासाः कौस्तुभाभासिवक्षाः।
चतुरतुलभुजोऽयं भो जना मानसं वो
रमयतु रमया संसेवितो यादवेन्द्रः॥ ९॥

मुकुन्द! श्रुति में उक्त आपकी नाम-रूपी वस्तु जो सघन दधि का मण्ड है, वह मेरी रसना में हो और उसके द्वारा मेरे मनोरथ पूर्ण हों। अधीश! कमलनाभ! आप जब दया के सहित शुभ अय (परिणाम में शुभ) अंश देनेवाली अपनी दृष्टि को धारण करते हुए स्वयं सबसे बड़े होकर वर्तमान होते हो तभी भक्त जन आपके भजन के लिये निराकुल होते हैं। आपकी कृपा-दृष्टि से उनके भजन में कोई विघ्न नहीं आता, जिससे वे व्याकुल हों। वेद के अधीश! शान्तियुक्त अभ्यासी भक्त जन आपको जिस एकान्त भाव से प्राप्त करते हैं उसी को मुझमें धारण करने के लिये आपकी दृष्टि प्रेम-रूपी श्री से शोभनीय हो, अर्थात् आपकी वत्सलता से मुझको वह अभ्यास प्राप्त हो जिससे आप मिलते हैं।

भक्त पुरुषो! जिनके मुख-स्मित के द्वारा चन्द्रमा उपमित किया गया है और जो शोभमान श्याम कमल के समान आभावाले, स्वर्ण के समान नवीन सुन्दर वस्त्रवाले, कौस्तुभ मणि से शोभित वक्षःस्थल से युक्त, चार अतुल (अपरिमित महान्) भुजाओं के सहित तथा लक्ष्मीजी से संसेवित हैं वे यदुवंशियों में प्रधान श्रीकृष्ण भगवान् आप लोगों के मन को आनन्द दें।

सृजति समवतीदं विश्वमेकस्त्रिधामा
तिरयति लयकाले मायया यो निरीहः।
महसि महति शुद्धे भ्राजमानः स भूयो
भयमपनयतान्नः संसृतेर्व्वासुदेवः ॥ १० ॥

श्रीमद्भगवद्भक्तिरसिकेभ्यः स्वस्ति भूयात्सर्वदा।

इति श्रीवासुदेवरसानन्दः सदद्वैताभिमतविद्वन्मण्डलीमण्डनायमानत्रितुङ्गा-चलवसन्तपुरवास्तव्यगङ्गादेवीद्वितीयश्रीमकरन्दपण्डितस्य महात्मनः कुमारेण शिवशर्म्मसूरिणा विरचितः संपूर्णतामहैषीत्।

शुभाय भूयात् नमो नमः।

भूः, भुवः, स्वः इन तीनों स्थानों में रहनेवाले जो कृष्ण भगवान् अकेले ही इस जगत् की सृष्टि और रक्षा करते हैं तथा जो माया के द्वारा प्रलय-काल में इसका नाश भी कर देते हैं वे निरीह (चेष्टा-रहित), बड़े भारी शुद्ध तेज से बार-बार प्रकाशमान वासुदेव भगवान् हम लोगों के सांसारिक भय को दूर करें।

श्रीमान् भगवद्भक्ति के प्रेमी पुरुषों का सदा कल्याण हो।

अद्वैत सद्वस्तु को माननेवाली विद्वन्मण्डली के भूषण, त्रितुङ्ग नामक पर्वत के समीपवर्त्ती वसन्तपुर के रहनेवाले, गङ्गादेवी धर्मपत्नी के सहित श्रीमान् मकरन्द पण्डित के पुत्र शिवशर्म्मा विद्वान् का बनाया हुआ श्रीवासुदेव-रसानन्द नामक ग्रन्थ समाप्त हुआ।

यह ग्रन्थ मङ्गल के लिये हो। श्रीकृष्ण भगवान् को बार-बार नमस्कार है।

परिशिष्ट

श्री: ॥

श्रीमहागणाधिपतये नमः

अथ विष्णुमहिम्नः स्तोत्रम्

शिवशर्म्मसूरिविरचितम् ।

महिम्नः पारं तेऽनधिगतमनन्तश्रुतिगिरा-
मतोऽहं त्वां विष्णो कथमिह धिनोम्याश्रितगते ।
इदानीं मे स्वामिन् हृदयकमलस्थो निजमहो
मदीयं संश्रोतुं विशदमिह चेतः कुरु हरे ॥ १ ॥
वसन्ते वासन्तः पिकमपि च कालः स्फुटयति
तथा श्रीकंसारे मुखरयति मां ते गुणगणः ।
अतो वै ते कीर्त्तिं वयमिह भणामः भृततरां
विहङ्गानां लोके मुदयति हि शास्तॄन् कलवचः ॥ २ ॥

नत्वा राम गुणग्राम करुणावरुणालयम् ।
क्रियते विमला टीका तया रामः प्रसीदतु ॥ १ ॥

शिवशर्मसूरि-विरचित विष्णुमहिम्नः स्तोत्र, 'विमला भाषानुवाद' सहित, प्रारम्भ किया जाता है ।

अन्वय—हे विष्णो ! हे आश्रितगते ! अनन्तश्रुतिगिरां ते महिम्नः पारं अनधिगतं अतः त्वां इह कथं धिनोमि । हे स्वामिन् ! हे हरे ! मे हृदय-कमलस्थः निजमहः संश्रोतुं मदीयं चेतः इदानीं विशद कुरु ॥ १ ॥

अर्थ—विष्णो (व्यापक) ! जब अनन्त श्रुतियाँ भी आपकी अपार महिमा का पार न पा सकीं तब भला मैं उसका वर्णन किस प्रकार कर सकता हूँ ? अतः स्वमिन् ! हरे ! आप मेरे हृदय-कमल में आसीन होकर अपने तेज (महिमा) को सुनने के लिये मेरे चित्त को निर्मल करें ॥ १ ॥

अन्वय—वासन्तः कालः वसन्ते पिकमपि स्फुटयति हे श्रीकंसारे ! तथा ते गुणगणः मां मुखरयति । अतः ते भृततरां कीर्तिं वै वयं इह भणामः विहङ्गानां कलवचः लोके शास्तॄन् हि मुदयति ॥ २ ॥

पुरा त्वन्नाभ्यब्जोद्भवमपि भवान् मध्यकमले
विचिन्वन्तं सन्तं हृदयकमलेऽप्येकजलधौ ।
स्वतातं नाथ त्वां विविधजगतामुद्भवकृते
तपेत्यूचे तद्वन्मम दिशतु बुद्धिं स्तुतिकरीम् ॥ ३ ॥
यदि स्वामिस्वामिन्नखिलभुवनानि स्वमनसा
विलीनानि स्वस्मिन्न कलयसि दृष्ट्या प्रभवितुम् ।
तदा नालं शेषिन्स्थितिगमनमुख्याः कुत इमे
न तच्चित्रं चैतत्त्वयि तु निजवात्सल्यकरणम् ॥ ४ ॥

अर्थ—भगवन् ! श्रीकंसारे ! जिस प्रकार वसन्त ऋतु मौनधारिणी कोयल को कुहू-कुहू करने के लिये प्रेरित करती है उसी प्रकार आपके अनन्त गुण आपकी महिमा वर्णन करने के लिये हमको मुखरित कर रहे हैं; अतएव हम भी आपकी अपार महिमा के वर्णन का प्रयत्न करते हैं। हम समझते हैं कि हमारा यह महिमा-वर्णन आपको अवश्यमेव रुचिकर होगा; क्योंकि कोयल आदि पक्षियों के पालनेवालों को उनकी सुमधुर ध्वनि सुनकर प्रसन्नता होती ही है ॥ २ ॥

अन्वय—पुरा एकजलधौ अपि मध्यकमले हृदयकमले सन्तं स्वतातं त्वां विचिन्वन्तं त्वन्नाभ्यब्जोद्भवमपि विविधजगतामुद्भवकृते भवान् तप इति यद्वत् ऊचे तद्वत् स्तुतिकरीं बुद्धिं मम दिशतु ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रभो ! एक समय यह समस्त संसार प्रलयकालीन महासागर की अथाह जल-राशि में मग्न था तब हृदय-कमल में विराजमान होने पर भी पिता-स्वरूप आपके अन्वेषण में तत्पर ब्रह्माजी को ब्रह्माण्ड-रचना करने के लिये जिस प्रकार आपने तप करने का आदेश दिया था उसी प्रकार आप अपनी स्तुति करने के उपयुक्त बुद्धि मुझे भी दीजिए ॥ ३ ॥

अन्वय—हे स्वामिस्वामिन् ! यदि अखिलभुवनानि स्वमनसा स्वस्मिन् विलीनानि दृष्ट्या प्रभवितुं न कलयसि तदा हे शेषिन् स्थितिगमनमुख्याः इमे कुतः न अलम् । तत् एतत् त्वयि न चित्रं किन्तु निजवात्सल्यकरणम् ॥ ४ ॥

अर्थ—भगवन् ! आप प्रभुओं के भी प्रभु हैं अतः आप ही यदि अपने में विलीन लोक-लोकान्तरों की उत्पत्ति का, अपनी कृपामयी दृष्टि द्वारा, विचार न करते तो अविनाशी स्वामिन् ! ये स्थावर-जङ्गम लोक-लोकान्तर कब उत्पन्न

त्वदुत्पन्ना वेदाः स्मृतिसकलविद्यादिसहिता-
स्तथा सर्वे देवाः करणविषयाश्चात्मनिवहाः ।
त्वया पाल्या नित्यं पुनरपि समेष्यन्ति भवति
विभो नित्ये शुद्धे चिदचिदनुविष्टेऽघरहिते ॥ ५ ॥
गुरोः पापात्कोऽन्यो दनुजदमनान्मोचनपटु-
स्तथा वेदानां चापहृतिजनिताच्छोकजलधेः ।
विधातारं त्वत्तः पशुपतिमथो वा सुखयति
हरे श्रीरङ्गेश ह्यभिमतफलानां बहुवरैः ॥ ६ ॥
इदं विश्वं कस्योदरविवरमध्ये लयमगात्
स्थितौ को वा पाति ह्यजनि विधिना नाभिकमलात् ।

हो सकते ? इन सबको उत्पन्न करना आपके लिये कोई आश्चर्य की बात नहीं। ऐसा करना तो जीवों पर अपनी दया दर्शाना है ॥ ४ ॥

अन्वय—स्मृतिसकलविद्यादिसहिताः वेदाः त्वदुत्पन्नाः तथा सर्वे देवाः करणविषयाः आत्मनिवहाश्च त्वदुत्पन्नाः नित्यं त्वया पाल्याः पुनरपि हे विभो नित्ये शुद्धे चिदचिदनुविष्टे अघरहिते भवति समेष्यन्ति ॥ ५ ॥

अर्थ—विभो ! स्मृतियों एवं समस्त विद्याओं के सहित वेद जिस प्रकार आपसे उत्पन्न हुए हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण देवता, इन्द्रियाँ, शब्द आदि विषय और निखिल जीव भी आपसे ही उत्पन्न हुए हैं और वर्तमान समय में आपके ही द्वारा सर्वदा पालनीय हैं तथा ये सब अन्त में नित्य, चिदचिद्रूप, शुद्ध, निष्पाप आपमें ही विलीन हो जायँगे । ५ ॥

अन्वय—दनुजदमनात् गुरोः पापात् मोचनपटुः त्वत्तः अन्यः कः, तथा वेदानां च अपहृतिजनितात् शोकजलधेः मोचनपटुः त्वत्तः अन्यः कः, विधातारं अथो वा पशुपतिं हे हरे! हे श्रीरङ्गेश! अभिमतफलानां बहुवरैः हि कः सुखयति ॥६॥

अर्थ—हरे ! श्रीरङ्गेश ! दानवों के दमन-रूपी महापाप से और वेदों के अपहरण-द्वारा उत्पन्न शोक-सागर से उद्धार करने में आपके अतिरिक्त अन्य कौन समर्थ हो सकता है ? ब्रह्मा एवं शिवजी को भी अभीष्ट फलों की प्राप्ति के अनेक वरदान देकर आप ही आनन्दित करते हैं ॥ ६ ॥

अन्वय—हे विष्णो! इदं विश्वं कस्य उदरविवरमध्ये लयं अगात्, को वा स्थितौ पाति, कस्य नाभिकमलात् हि विधिना अजनि हे नरहरे !

पुनः क्रान्त्वा विष्णो गिलति च सलीलं नरहरे
तदेवंभूतस्त्वं निरतिशयभूतिर्मधुरिपो ॥ ७ ॥
न चान्यस्त्वद्देवोऽभयवरदमुद्राकरधरो
भवानेवैकोऽस्ति प्रकटितवराभीत्यभिनयः ।
शरण्य त्वत्पादौ फलमपि निजेच्छासमधिकं
भयात्पातुं दातुं सकलजगतामेव कुशलौ ॥ ८ ॥
भवं त्वत्तः कोऽन्योऽवति निजकृते दुःखजलधौ
निमग्नं भूतात्मन् शकुनिजतिमिग्रासजभयम् ।
भ्रमित्वा ब्रह्माण्डेऽनधिगतशरण्यं परम ते
पदद्वीपोपान्ते स्वकृतवटुनावा निपतितम् ॥ ९ ॥

पुनः क्रान्त्वा सलीलं गिलति च हे मधुरिपो ! तत् एवंभूतः त्वं निरतिशयभूतिः असि ॥ ७ ॥

अर्थ—विष्णो ! यह विशाल विश्व महाप्रलय के समय आपके ही अनन्त उदर-विवर में समा गया था, और स्थिति-काल में आप ही इसकी रक्षा करते हैं। ब्रह्माजी भी आपके ही नाभि-कमल से उत्पन्न हुए हैं। नरहरे ! आप ही अपनी शक्ति द्वारा पुनः इसका लीला-पूर्वक अपने अन्दर लय कर लेते हैं। मधुरिपो ! यह सब आपकी ही अपार महिमा है ॥ ७ ॥

अन्वय—अभयवरदमुद्राकरधरः देवः त्वत् अन्यः न च प्रकटितवराभीत्यभिनयः भवान् एव एकः अस्ति, हे शरण्य ! त्वत्पादौ सकलजगतां एव निजेच्छासमधिकं फलं अपि दातुं भयात् पातुं कुशलौ ॥ ८ ॥

अर्थ—सर्वरक्षक ! प्रभो ! आपके चरण-कमल ही सकल संसार—समस्त प्राणियों—के आकाङ्क्षित से अधिक फल देने तथा भय से रक्षा करने में समर्थ हैं। अन्य देवता में यह शक्ति कहाँ ? ॥ ८ ॥

अन्वय—हे परम ! हे भूतात्मन् ! निजकृते दुःखजलधौ निमग्नं शकुनिजतिमिग्रासजभयं ब्रह्माण्डे भ्रमित्वा अनधिगतशरण्यं ते पदद्वीपोपान्ते स्वकृतवटुनावा निपतितं भवं त्वत्तः अन्यः कः अवति ॥ ९ ॥

अर्थ—सर्वश्रेष्ठ ! अखिलप्राणिमय ! अपने कर्मों से रचित दुःख-रूपी सागर में निमग्न, शकुनि तथा तिमि नामक मत्स्य के ग्रास से उत्पन्न भय से अत्यन्त त्रस्त और ब्रह्माण्ड भर में भ्रमण करने पर भी शरण न पाकर अपनी

अजां मार्कण्डेयाय ह तव कथं द्रष्टुमनसे
अकाण्डे ब्रह्माण्डक्षयमथ विना त्वां प्रकटयेत् ।
पुमानन्यः स्वस्मिन्स्वयुतमनु विश्वं पुनरिदं
पृथिव्या ग्रीवायां कृतवटपलाशैकशयने ॥ १० ॥

वदान्यः कारुण्यो गुणगणविशिष्टः शुचिरपि
स्थिरः शान्तो दान्तो मृदुरसि दयावानृजुतमः ।
कृती शीली क्षान्तो बलभगसमेतः प्रणतिमां-
स्तपस्वी सन्तोषी त्वमसि न हि चान्योऽस्ति जगति ॥११॥

तनीयांसं विष्णो तव चरणपङ्करुहभवं
विधिः पांशुं चिन्वन्सृजति विमलात्मा त्रिभुवनम् ।
दधात्येनं शेषः कथमपि सहस्रेण शिरसां
भवांस्तस्मिँल्लीलाः कृतविविधरूपो वितनुते ॥ १२ ॥

कर्म-रूपी छोटी नौका द्वारा आपके चरण-रूपी द्वीप के समीप में पतित, संसार की आपके सिवा अन्य कौन रक्षा कर सकता है ? ॥ ९ ॥

अन्वय—तव अजां द्रष्टुमनसे मार्कण्डेयाय ह अकाण्डे हि ब्रह्माण्डक्षयं त्वां विना अन्यः पुमान् स्वस्मिन् स्वयुतं इदं पुनः विश्वं अनु पृथिव्याः ग्रीवायां कृतवटपलाशैकशयने अथ कथं प्रकटयेत् ॥ १० ॥

अर्थ—आपकी माया के देखने के लिये अत्यन्त इच्छुक महर्षि मार्कण्डेयजी को अकस्मात् (प्रलय का समय न होने पर भी) प्रलय कर दिखाने और वटपर्ण-मयी शय्या पर लेटकर अपने ही स्वरूप में निज महिमामय इस विश्व की रचना करने को इस भूमण्डल पर आपके सिवा अन्य कौन समर्थ हो सकता? ॥१०॥

अन्वय—वदान्यः कारुण्यः गुणगणविशिष्टः अपि शुचिः स्थिरः शान्तः दान्तः मृदुः ऋजुसमः दयावान् त्वं असि तथा कृती शीली क्षान्तः बलभगसमेतः प्रणतिमान् तपस्वी सन्तोषी च त्वं असि जगति अन्यः न हि अस्ति ॥ ११ ॥

अर्थ—दाता, करुणामय, गुण-गणों से युक्त, शुचि, स्थिर, शान्त, दान्त, सरल, समदर्शी, कोमल और दयालु आप ही हैं। संसार में कुशल, शील-वान्, क्षमावान्, बल तथा ऐश्वर्य से युक्त, विनम्र, तपस्वी एवं सन्तोषी आप ही हैं। आपके सिवा अन्य कोई नहीं है ॥ ११ ॥

अन्वय—हे विष्णो ! विधिः तव चरणपङ्करुहभवं तनीयांसं पांशुं चिन्वन्

हरस्त्वामाराध्य प्रणतजनसंरक्षणपरं
पपौ क्ष्वेडं पीयूषमिव सकलं मोघरहितम् ।
सुधायाश्चाप्यन्ये विधिहरिहयाद्याः सुमनसो
विपद्यन्ते लोके जनक तव भक्त्या विरहिताः ॥ १३ ॥
जरासंधारुद्धं धरणिपतिचक्रं स्वशरणे
जुगोपाद्यो यो मामवतु सृतिभीतेरधिगतम् ।
स देवः कालात्मा प्रकटितमहाभीमवपुषा
तमोमग्नं दैवाद्दलितनिजभक्तार्त्तिजनकः ॥ १४ ॥

विमलात्मा सन् त्रिभुवनं सृजति शेषः शिरसां सहस्रेण एनं कथं अपि दधाति तस्मिन् कृतविविधरूपो भवान् लीलाः वितनुते ॥ १२ ॥

अर्थ—विष्णो ! ब्रह्माजी आपके चरण-कमलों की अति स्वल्प धूलि द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध करके जिस त्रिलोकी की रचना करते तथा शेषजी अपने हजारों सिरों पर जिसको अति कठिनता से धारण करते हैं, उसी त्रिलोकी में आप भी विविध रूप धारण करके अनेक लीलाएँ किया करते हैं ॥ १२ ॥

अन्वय—हरः प्रणतजनसंरक्षणपरं त्वां आराध्य मोघरहितं सकलं क्ष्वेडं पीयूषमिव पपौ, हे जनक ! अन्ये तव भक्त्या विरहिता विधिहरिहयाद्याः सुमनसः सुधायाः च अपि लोके विपद्यन्ते ॥ १३ ॥

अर्थ—विनम्र जनों की रक्षा में तत्पर आपकी आराधना करके शिवजी ने, कभी विफल न होनेवाले, सम्पूर्ण विष को अमृत के समान पी लिया था। जनक ! आपकी भक्ति से विमुख होकर ब्रह्मा, इन्द्र आदि अन्य देवगण इस संसार में सुधा पीकर भी मृत्यु से नहीं बच सकते ॥ १३ ॥

अन्वय—आद्यः यः स्वशरणे जरासन्धारुद्धं धरणिपतिचक्रं जुगोप, प्रकटितमहाभीमवपुषा कालात्मा दलितनिजभक्तार्त्तिजनकः स देवः दैवात् तमोमग्नं सृतिभीतेरधिगतं मां अवतु ॥ १४ ॥

अर्थ—आद्य पुरुष ! जरासन्ध ने जिस समय अपने यहाँ अनेक राजाओं को बन्दी बना रक्खा था उस समय आपने ही उनको जरासन्ध के कारागार से मुक्त करके उनकी प्राण-रक्षा की थी। आप ही महाभयङ्कर शरीर धारण द्वारा काल-रूप होकर भक्त-उत्पीड़क दुष्ट मनुष्यों का नाश किया करते हैं; अतः दुर्दैववश, अज्ञान के अँधेरे में भटक रहे मुझ शरणागत की भी रक्षा कीजिए ॥ १४ ॥

यदृद्धिं लौकेशीमपि भुवनचूडामणितया
स्थितां चक्रेऽधस्ताद्वरद स च राजन्यतनयः ।
न तस्मिंस्तच्चित्रं स्थितवति भवत्पादकमले
न कस्याप्याधिक्यं भवति शिरसस्त्वय्यवनतेः ॥१५॥
पुरा दग्धाङ्गोऽपि क्रतुहरतृतीयाक्षिदहनात्
त्वदीक्षालब्धात्मा मलयपवनायोधनरथः ।
द्विरेफज्यः पुष्पायुधविशिखबाणो मधुसख-
स्स्मरः सर्वं विश्वं तव चरणसङ्गाद्विजयते ॥ १६ ॥
हरं त्वत्सौन्दर्य्यप्रलयजलधेः पूरपतितं
स्मरग्राहग्रस्तं स्मृतिहरतरङ्गाकुलवपुम् ।
हरे दृष्ट्वा पूर्वं जितमदनमप्याशु कृपया
त्वमेवं पासि स्म स्वजनमदमत्तद्विपहरिः ॥ १७ ॥

अन्वय—हे वरद ! स च राजन्यतनयः भुवनचूडामणितया स्थितां लौकेशीं अपि ऋद्धिं यत् अधस्तात् चक्रे, तत् भवत्पादकमले स्थितवति तस्मिन् न चित्रं त्वयि शिरसः अवनतेः कस्यापि आधिक्यं न भवति ॥ १५ ॥

अर्थ—अभीष्ट फलों के दाता भगवन् ! अम्बरीष आदि राजकुमारों ने इन्द्र प्रभृति लोकपालों की लोकोत्तर विभूतियों को यदि आपकी भक्ति की अपेक्षा तुच्छ समझा तो यह उनके लिये कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि आपकी भक्ति ही तो सर्वोत्तम है ॥ १५ ॥

अन्वय—क्रतुहरतृतीयाक्षिदहनात् पुरा दग्धोऽपि त्वदीक्षालब्धात्मा मलयपवनायोधनरथः द्विरेफज्यः पुष्पायुधविशिखबाणः मधुसखः स्मरः तव चरण-संगात् सर्वं विश्वं विजयते ॥ १६ ॥

अर्थ—जो कामदेव किसी समय भगवान् शङ्कर के तृतीय नेत्र की आग में जलकर भस्म हो चुका था वही इस समय आपकी कृपा द्वारा संसार में पुनः जन्म लेकर मलयपवन-रूपी शस्त्रयुक्त रथ, भ्रमरमयी प्रत्यञ्चा, पुष्प-निर्मित धनुष और शिखायुक्त बाणों से सुसज्जित हो अपने सखा वसन्त की सहायता से संसार पर विजय प्राप्त कर रहा है ॥ १६ ॥

अन्वय—हे हरे ! पूर्वं जितमदनमपि त्वत्सौन्दर्य्यप्रलयजलधेः पूरपतितं

हरे विष्णो दासे मयि तव सुदृष्टिं वितरता-
दितीच्छन्स्तोतुं त्वां हर इति वदेद्यस्तु मनुजः ।
ददासि त्वं तस्मै विधिहरसुरेशानधिगतं
तदैव स्वात्मानं परमदिवि संस्थैरधिगतम् ॥ १८ ॥

स्मरग्राहग्रस्तं स्मृतिहरतरंगाकुलवदं हरं दृष्ट्वा स्वजनमदमत्तद्विपहरिः त्वं एवं कृपया आशु पासि स्म ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस समय कामदेव-विजयी महादेवजी आपके सौन्दर्य-रूपी प्रलय-पयोधि के प्रवाह में पड़कर कामदेव-रूप ग्राह (मगर) से ग्रस्त हो अपनी स्मृति खो बैठे थे उस समय उनको व्याकुल देखकर भक्तमदनाशक आपने ही उनकी रक्षा की थी ॥ १७ ॥

[एक समय विष्णु भगवान् ने मोहनी रूप धारण किया था। उस समय उनके असीम सौन्दर्य को देखकर शिवजी भी मोहित हो गये थे। इसकी कथा यों है कि भस्मासुर ने प्रबल तप के द्वारा प्रसन्न भगवान् शंकर से 'जिसके सिर पर हाथ रक्खूँ वह भस्म हो जाय,' ऐसा वरदान प्राप्त कर लिया। फिर वह पार्वतीजी को हरने के लिये शिवजी के सिर पर ही हाथ रखने को दौड़ा, तब व्याकुल होकर भागते हुए शिवजी ने विष्णु भगवान् का स्मरण किया। भक्तवत्सल भगवान् ने मोहनी रूप धारण कर भस्मासुर को मोहित करके, अपने सिर तथा कटि पर हाथ रखकर नाचने के लिये, उससे कहा। उसके ऐसा करते ही भगवान् ने उसको भस्म कर दिया और शिवजी की रक्षा की तथा विश्व-मोहनी रूप से वश में करके उनके काम-विजय के अभिमान को विध्वंस किया।]

अन्वय—हे हरे! हे विष्णो! मयि दासे तव सुदृष्टिं वितरतात् इति इच्छन् यस्तु मनुजः त्वां स्तोतुं हर इति वदेत् तस्मै विधिहरसुरेशानधिगतं त्वं ददासि परमदिवि संस्थैरधिगतं स्वात्मानं तदैव त्व ददासि ॥ १८ ॥

अर्थ—हरे! मनुष्य आपकी स्तुति का इच्छुक होकर यदि आपके 'हर' नाम का उच्चारण कर ले तो आप उसके सामने तत्क्षण अपने उस पारमार्थिक रूप को अभिव्यक्त कर देते हैं जिसकी प्राप्ति ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र भी नहीं कर पाते और जिसे उत्तमलोक-निवासी केवल हिरण्यगर्भ आदि ही प्राप्त कर सकते हैं। अतः विष्णो! मुझ दास पर भी अपनी कल्याणमयी दृष्टि कीजिए ॥ १८ ॥

इदं विश्वं देव प्रलयमुदयं चैति भवतो
निमेषोन्मेषाभ्यामनिमिषमहेन्द्राधिपपते ।
इति प्राहुः प्राच्याः परिहृतनिमेषे तव दृशौ
लयात् त्रातुं शङ्के जगदिदमशेषं दनुजधक् ॥ १९ ॥
सुरज्येष्ठो नाशं व्रजति धनपोऽप्येति मरणं
सुसंमीलत्यक्ष्णां विततिरपि चैन्द्री विशयना ।
हरोऽप्येतन्नाशं भजति रचयन्नात्मनिधनं
महासंसारेऽस्मिन् विहरति भवान् योगशयनः ॥ २० ॥
पुरेन्द्राद्यैर्देवैर्महिषभयभीतैस्तु भगवन्
मुखाद्देवी जाता निजगणसमेता रणमुखे ।
जघानेन्द्रारीन्द्रं धृतसकलशक्तिं मुररिपो
तथा शक्तिस्तोमास्तव निजमहिम्नो बहुतराः ॥ २१ ॥

अन्वय—हे देव! हे अनिमिषमहेन्द्राधिपपते भवत: निमेषोन्मेषाभ्यां इदं विश्वं प्रलयं उदयं चैति, हे दनुजधक्! इदं अशेषं जगत् लयात् त्रातुं तव परिहृतनिमेषे दृशौ प्राच्याः प्राहुः इति अहं शङ्के ॥ १६ ॥

अर्थ—दानव-वंश-विनाशक हे देव! आप इन्द्र प्रभृति लोकपालों के अधिपति हैं। आपकी पलक के न हिलने और हिलने से ही यह विशाल विश्व उत्पन्न एवं विनष्ट होता रहता है, ऐसा प्राचीन ऋषि-महर्षि कहते हैं। मालूम होता है कि समस्त विश्व को प्रलय से बचाने के लिये ही आप अपनी पलक नहीं गिरने देते ॥ १६ ॥

अन्वय—सुरज्येष्ठो नाशं व्रजति धनपोऽपि मरणं एति अक्ष्णां ऐन्द्री विशयना विततिः अपि सुसंमीलति; हरोऽपि आत्मनिधनं रचयन् एतन्नाशं भजति अस्मिन्महासंसारे योगशयनः भवान् विहरति ॥ २० ॥

अर्थ—ब्रह्माजी और धनाधिपति कुबेर भी काल-कवलित हो जाते हैं। देवताओं के अधिपति इन्द्र के सदा निर्निमेष रहनेवाले हजार नेत्र भी बन्द होने से नहीं बच पाते। इसी प्रकार शिवजी भी ब्रह्माण्ड का नाश करते करते अपना अस्तित्व खो बैठते हैं। इस महासंसार में केवल आप ही योगशय्यारूढ़ होकर सर्वदा विहार करते रहते हैं ॥ २० ॥

अन्वय—हे भगवन्! महिषभयभीतैः इन्द्राद्यैः देवैस्तु सह रणमुखे तव

गजास्यस्त्वामादौ परमतपसेजेऽखिलगुरुं
तदन्ते संपेदे हरगणपतित्वं स्फुटतरम् ।
तथा पूजामग्रे सुरपतिमुखानां नयनयो-
स्तवोन्नत्या विष्णो भवति हि विरश्चिस्तृणमपि ॥२२॥

भवत्पादाम्भोजोद्वहनमणिपीठस्य निकटे
स्थितानां देवानामजहरमुखानां चरणयोः ।
तव श्रीमत्पूजा भवति रचिताप्यादरतया
समिज्या सर्वेषां मुकुलितकराणामविरतम् ॥ २३ ॥

मुखात् निजगणसमेता देवी पुरा जाता धृतसकलशक्ति इन्द्रारीन्द्रं जघान, तथा हे मुररिपो ! तव निजमहिम्नः बहुतराः शक्तिस्तोमा जाताः ॥ २१ ॥

अर्थ—भगवन् ! जिस समय इन्द्र आदि देवता महिषासुर से अत्यन्त भयभीत हो रहे थे उस समय उक्त देवताओं को साथ लेकर समरभूमि में अवतीर्ण आपके मुख से, अपने गणों समेत, उत्पन्न हुई देवी ने आपकी शक्ति पाकर ही इन्द्र के असीम शक्तिशाली प्रबल शत्रु का संहार किया था। मुररिपो ! आपकी महिमा से (समय-समय पर) अनन्त शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है ॥ २१ ॥

अन्वय—गजास्यः आदौ अखिलगुरुं त्वां परमतपसा ईजे, तदन्ते हरगणपतित्वं स्फुटतरं संपेदे तथा सुरपतिमुखानां नयनयोः अग्रे पूजां संपेदे हे विष्णो ! तवोन्नत्या विरश्चिरपि तृणं भवति हि ॥ २२ ॥

अर्थ—विष्णो ! गणेशजी ने अखिल-गुरु (सर्वश्रेष्ठ) समझकर आपकी ही सर्वप्रथम, परम तपस्या द्वारा, आराधना की थी इसी लिये उक्त पूजा के अनन्तर उनको शिवजी के गणों में अधिपति पद मिला और आपकी आराधना के कारण ही उन्हें सब देवताओं से पहले पूजा-प्राप्ति का गौरव प्राप्त हुआ। भगवन् ! आपकी उन्नति (भक्ति) के सामने ब्रह्मा प्रभृति देवता अत्यन्त तुच्छ हैं ॥ २२ ॥

अन्वय—भवत्पादाम्भोजोद्वहनमणिपीठस्य निकटे स्थितानां अजहरमुखानां देवानां तव चरणयोः आदरतयाऽपि रचिता श्रीमत्पूजा भवति, मुकुलितकराणां सर्वेषां अविरतं समिज्या भवति ॥ २३ ॥

अर्थ—आपके पाद-पद्म को धारण करनेवाले मणिखचित पीठ के सन्निधि में खड़े हुए ब्रह्मा, शिव आदि देवताओं की आदरपूर्वक की गई पूजा आपके

महन् क्षीराब्ध्यन्ते मणिविरचितद्वीपसुभगे
सुरावासानन्तारुहपरिवृते दिव्यभवने।
फणीन्द्राख्ये पीठे स्थितमजयमायेऽखिलगुरो
स्मरन्ति त्वां धन्याः सततमतिलावण्यजलधिम् ॥२४॥
कवीनां प्रज्ञापङ्कजवननवीनद्युमणिभं
भजन्ति त्वा ये वै कतिचन महानन्तशयन।
विधातुर्भार्यायास्तरुणतमशृङ्गारलहरी-
गभीराभिर्वाग्भिर्विदधति सतां ते सुखमहो ॥ २५ ॥
भवन्सव्यान्नेत्राद्भवति दिवसोऽर्कात्मकतया
त्रियामा ते वामाद्भवति रजनीपालकतया।

चरणों मे होती है, अर्थात् देवता भी आपके चरणों की ही पूजा करते हैं। और सब देवताओं की पूजा मुकुलित कर-कमलवाले होने से सदा सम्पन्न होती है ॥ २३ ॥

अन्वय—हे अखिलगुरो! हे महन्! क्षीराब्ध्यन्ते मणिविरचितद्वीप-सुभगे सुरावासानन्तारुहपरिवृते दिव्यभवने अजयमाये फणीन्द्राख्ये पीठे स्थितं अतिलावण्यजलधिं त्वां धन्याः सततं स्मरन्ति ॥ २४ ॥

अर्थ—हे पूज्य! हे अखिल के गुरु! जो लोग क्षीर-समुद्र के निकट, मणि-रचित द्वीप, सुभग देवालय तथा अनेक वृक्षों से आवृत दिव्य भवन में विजय-रहित मायावाले फणीन्द्र नामक पीठ पर स्थित अतिशय शोभा के समुद्र आपका स्मरण करते हैं वे धन्य हैं ॥ २४ ॥

अन्वय—हे महानन्तशयन! कवीनां प्रज्ञापङ्कजवननवीनद्युमणिभं त्वां ये वै कतिचन विधातुर्भार्यायाः तरुणतमशृङ्गारलहरीगभीराभिः वाग्भिः भजन्ति ते सतां सुखं अहो विदधति ॥ २५ ॥

अर्थ—हे महाशेष की शय्या पर शयन करनेवाले! कवियों के प्रज्ञा-रूप कमल-वन के नवीन सूर्य की प्रभावाले! आपको जो भक्तजन ब्रह्मा की पत्नी सरस्वती के प्रौढ़तम शृङ्गार की तरंगवाली गम्भीर वाणी द्वारा भजते हैं वे ही पुरुष सज्जनों के लिये सुख का विधान करते हैं। यह हर्ष है ॥ २५ ॥

अन्वय—हे मधुपते! हे महात्मन्! हे विश्वेश! हे अखिलजग-दुपादान! हे भगवन्! आकस्मिकतया भवत्सव्यान्नेत्रात् दिवसः भवति

तयोर्मध्यात्संध्या भवति गुणरूपा मधुपते
महात्मन्विश्वेशाखिलजगदुपादान भगवन् ॥ २६ ॥
त्वमग्निस्त्वं व्योम त्वमसि पवनस्त्वं वसुमती
त्वमापस्त्वं सूर्यस्त्वमसि परमेष्ठी व्रजपते ।
मनस्त्वं रुद्रस्त्वं त्वमसि चिदचित्त्वं वयमिह
न विद्मस्तत्तत्त्वं न भवति भवान् यत्सकलदृक् ॥२७॥
मदीयोऽयं जल्पो व्रजतु जपतां प्रक्रमणतां
गतिर्मुद्राभावं सकलमपि शिल्पं हवनताम् ।
तथा मे भुक्त्याद्या प्रणतिमुपसंयातु शयनं
भवत्पूजारूपं भवतु सकलं मे विलसितम् ॥ २८ ॥

रजनीपालकतया ते वामान्नेत्रात् त्रियामा भवति तयोः मध्यात् गुणरूपा सन्ध्या भवति ॥ २६ ॥

अर्थ—हे मधुवन के ईश ! हे महात्मन् ! हे जगत् के प्रभु ! हे सम्पूर्ण जगत् के आदि-कारण ! हे भगवन् ! सूर्य-रूप होने के कारण आपके दाहिने नेत्र से दिन होता है। रात्रि-निर्माता चन्द्रमा-रूप होने के कारण आपके बाँयें नेत्र से रात्रि होती है। दोनों (दिन-रात्रि) के मध्य से रज-सत्त्व-तम-रूप सन्ध्या होती है ॥ २६ ॥

अन्वय—हे व्रजपते ! त्वं अग्निः त्वं व्योम त्वं पवनः असि, त्वं वसुमती त्वं आपः त्वं सूर्यः त्वं परमेष्ठी असि त्वं मनः त्वं रुद्रः त्वं चित् त्वं अचित् असि सकलदृक् भवान् यत् न भवति तत्तत्त्वं वयं इह न विद्मः ॥ २७ ॥

अर्थ—हे व्रजपते ! अग्नि, आकाश, पवन, पृथ्वी, जल, सूर्य, ब्रह्मा, मन, रुद्र, चेतन तथा अचेतन सब कुछ आप ही हैं। सम्पूर्ण वस्तुओं के साक्षात् करनेवाले आप जिस वस्तु के स्वरूप नहीं हैं, उस तत्त्व को हम सब इस जगत् में नहीं जानते हैं अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु के स्वरूप आप ही हैं ॥ २७ ॥

अन्वय—अयं मदीयः जल्पः जपतां व्रजतु गतिः, प्रक्रमणतां व्रजतु सकलमपि शिल्पं मुद्राभावं व्रजतु तथा मे भुक्त्याद्या हवनतां व्रजन्तु शयनं प्रणति उपसंयातु सकलं मे विलसितं भवत्पूजारूपं भवतु ॥ २८ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! मेरा भाषण जप-रूपता को, गति परिक्रमा-स्वरूपता को, सम्पूर्ण शिल्प भी मत्स्य-कूर्मादि मुद्रा-रूप को तथा मेरी भोजनादि क्रिया

त्वदीये मञ्जीवो भवतु चरणे पद्मसुभगे
षडङ्घ्रिर्भूतात्मन् करणचरणैर्हंसशरणे ।
ददात्यात्मानन्दं श्रियमनिशमाशानुसदृशीं
स्वराडर्थिभ्यो ज्ञाय च किरति मोक्षामृतरसम् ॥२९॥

परव्योम्नि श्रीशं मणिरचितपुर्यां वरद म-
ण्डपे देवावासोद्भवतरुपरीते श्रुतिनुते ।
महानन्तोत्सङ्गे स्थितमतिमहानन्दजलधिं
श्रिया युक्तं भूम्यादिभिरपि भजे त्वादिपुरुषम् ॥३०॥

घनश्यामं देवं स्थिरचपलिकातुल्यवसनं
सितच्छत्राकाढ्यं व्यजनपरिवर्त्तेन्दुयमलम् ।

हवन-रूपता को और शयन प्रणाम के स्वरूप को प्राप्त हो; मेरा सम्पूर्ण विलास आपकी पूजा के रूप में परिणत हो ॥ २८ ॥

अन्वय—हे भूतात्मन् ! त्वदीये पद्मसुभगे हंसशरणे चरणे करणचरणैः षडङ्घ्रिः, मज्जीवो भवतु स्वराट् आनन्दं आशानुसदृशीं श्रियं अनिशं अर्थिभ्यो ददाति ज्ञाय च मोक्षामृतरसं किरति ॥ २९ ॥

अर्थ—हे सर्वप्राणियों के आत्मा-स्वरूप ! कमल के समान सुभग ! आत्माओं के शरण-चरण में मन के साथ छः ज्ञानेन्द्रिय-रूपी चरणों से भ्रमर होकर मेरा जीव होवे । स्वराट् (अपने प्रकाश से प्रकाशित) आत्मा आनन्दार्थी को आनन्द और अपने अभिलाष के सदृश श्री के अर्थी को लक्ष्मी देता है । ज्ञानी पुरुषों के लिये मोक्ष-रूपी अमृतरस बखेरता है ॥ २९ ॥

अन्वय—हे वरद ! परव्योम्नि मणिरचितपुर्यां देवावासोद्भवतरुपरीते श्रुतिनुते मण्डपे महानन्तोत्सङ्गे स्थितं अतिमहानन्दजलधिं श्रिया भूम्यादिभिरपि युक्तं श्रीशं आदिपुरुषं त्वां भजे ॥ ३० ॥

अर्थ—हे वरद ! सर्वोत्तम धाम में मणि से बनी हुई पुरी के भीतर देवताओं के स्थानों में उत्पन्न वृक्षों से व्याप्त, वेद से स्तुति को प्राप्त मण्डप के अभ्यन्तर, महाशेष के अङ्क में बैठे हुए अत्यन्त महानन्द के समुद्र, लक्ष्मी तथा भूमि आदि से युक्त, लक्ष्मीपति, आदि-पुरुष आपको मैं भजता हूँ ॥ ३० ॥

अन्वय—हे मधुपते ! घनश्यामं स्थिरचपलिकातुल्यवसनं सितच्छत्राकाढ्यं

सदा मुक्तैर्मुक्तप्रचयकुसुमश्रेण्युडुगणं
महामालाशक्रायुधयुगलमानन्दसलिलम् ॥ ३१ ॥
क्वणत्पादाभूषामणिरचितकाञ्चीस्तनितकं
तदुत्थानन्दोन्मुखरनिजनित्यप्लवगणम् ।
स्फुरन्मुक्ताहारोढचलवकपङ्क्ति मधुपते
कदा द्रक्ष्यामि त्वा गलितमलसारङ्गमहकम् ॥ ३२ ॥
चतुर्बाहुं शान्तं सकृदुदितसूर्यायुतनिभं
महारत्नव्रातोज्ज्वलवलयकेयूरमुकुटम् ।

व्यजनपरिवर्त्तेन्दुयमलं मुक्तैः मुक्तप्रचयकुसुमश्रेण्युडुगणं महामालाशक्रायुधयुगलं आनन्दसलिलं देवं कदा सदा द्रक्ष्यामि ॥ ३१ ॥

अर्थ—हे मधुपते ! मेघ के सदृश श्यामवर्णवाले, अचल विद्युत् के तुल्य वस्त्र से युक्त, श्वेतछत्र-रूपी सूर्य से सम्पन्न तथा व्यजन (चँवर) के डुलाने से मानों दो चन्द्रमाओं के समेत, मुक्त पुरुषों से परित्यक्त पुष्प-पुञ्जों के श्रेणी-रूप नक्षत्रगणवाले इन्द्र के दो धनुषों के समान महामाला (वनमाला) को धारण किये हुए आनन्दरूपी जलवाले देव को सदैव कब देखूँगा ?

मेघपक्ष में—स्थिर मेघ-छटा में विद्युत्-रूप उचित वस्त्रवाले सूर्य-रूपी श्वेत छत्र से आढ्य उडुगण-रूपी मुक्त पुरुषों से त्यक्त कुसुम-पुञ्ज की पंक्तिवाले इन्द्र-धनुष-रूपी महामाला को धारण किये हुए जल-रूपी आनन्दवाले श्याम मेघ को सदा कब देखूँगा ? ॥ ३१ ॥

अन्वय—हे मधुपते ! क्वणत्पादाभूषामणिरचितकाञ्चीस्तनितकं तदुत्थानन्दोन्मुखरनिजनित्यप्लवगणं स्फुरन्मुक्ताहारोढचलवकपंक्तिं गलितमलसारङ्गमहकं त्वा कदा द्रक्ष्यामि ॥ ३२ ॥

अर्थ—शब्दायमान चरण के अलङ्कार की मणि से रचित काञ्ची (करधनी) की गर्जनावाले, उस काञ्ची के शब्द से आविर्भूत आनन्द से अतिशय शब्द करते हुए अपने सनातन पक्षियों के सहित तथा देदीप्यमान मोतियों के हारों से व्याप्त उड़ती हुई वक-पंक्ति से युक्त शुद्धान्तःकरणवाले पक्षियों के उत्सव के साथ आपको किस समय सदा हम देखेंगे ? ॥ ३२ ॥

अन्वय—हे भगवन् ! चतुर्बाहुं शान्तं सकृदुदितसूर्यायुतनिभं महारत्नव्रा-

उरः श्रीवत्साङ्कं स्मितशुभमुखं कुण्डलधरं
गदाशङ्खार्य्यब्जध्वजकमलचक्राङ्कितपदम् ॥ ३३ ॥
प्रवालोष्ठं सुभ्रूत्रसमलकसंघावृतमुखं
नवाङ्गुल्यङ्गुष्ठच्छदनविलसत्पादकमलम् ।
सुतुङ्गांसोरस्कं पृथुकटितटश्रोणि सरसी-
रुहाक्षं संसेवे तनुदशनवत्कौस्तुभगलम् ॥ ३४ ॥
विधत्ते यौ मूर्ध्ना निगमपुरुषस्ते हि चरणौ
ममाप्येतौ धत्ताच्छिरसि कृपया यादवपते ।

तोज्ज्वलवलयकेयूरमुकुटं उरः श्रीवत्सांकं स्मितशुभमुखं कुण्डलधरं गदाशङ्खार्य-ब्जध्वजकमलचक्रांकितपदं त्वां अहं संसेवे ॥ ३३ ॥

अर्थ—हे भगवन् चतुर्भुज ! शान्त, एक बार उदय को प्राप्त दस हजार सूर्यों के सदृश तथा महारत्नों के समूह से देदीप्यमान कङ्कण-केयूर (बाजूबन्द) मुकुट को धारण करनेवाले, वक्षःस्थल में भृगुलता के चिह्न से चिह्नित और मुस-कराने से सुन्दर मुख तथा कुण्डल को पहने हुए गदा, शङ्ख, चक्र, कमल, ध्वज, कमल (मृग) इनके चक्र (समूह) से चिह्नित चरणवाले आपकी सेवा मैं भली भाँति करता हूँ ॥ ३३ ॥

["कमलस्तु मृगान्तरं" इस हैम-कोश से यहाँ कमल शब्द मृगविशेष-वाचक है—पद्म का नहीं । अन्यथा अब्ज के साथ पुनरुक्ति दोष आ जाता है ।]

अन्वय—प्रवालोष्ठं सुभ्रूनसं अलकसंघावृतमुखं नवाङ्गुल्यङ्गुष्ठच्छदन-विलसत्पादकमलं सुतुङ्गांसोरस्कं पृथुकटितटश्रोणि सरसीरुहाक्षं तनुदशनवत् कौस्तुभगलं त्वां अहं संसेवे ॥ ३४ ॥

अर्थ—प्रवाल के सदृश रक्त ओष्ठवाले, सुन्दर भौंहों तथा उन्नत नासिका से युक्त, केशों से आच्छादित मुखवाले, अँगुली अंगुष्ठ को ढाँकनेवाले, नवीन दुकूलादि वस्त्र से शोभित चरण-कमल को धारण किये हुए सुन्दर ऊँचे कन्धों और छाती से युक्त, स्थूल कटि(कमर)भाग और जंघाओं को धारण किये हुए, कमल के सदृश नेत्रोंवाले, छोटे-छोटे दाँतों से युक्त और ग्रीवा में कौस्तुभ मणि से विभूषित आपको भली भाँति सेवन करता हूँ ॥ ३४ ॥

अन्वय—हे यादवपते ! ते यौ चरणौ हि निगमपुरुषः मूर्ध्ना विधत्ते एतौ

यथोः पाद्यं बिभ्रत्पशुपतिरसौ शीर्ष्णि सरजं
शिवत्वं संप्राप्तो जगति विपरीतोऽपि वपुषा ॥ ३५ ॥
कृतघ्नः क्षुद्रात्मा स्मरपरवशश्चञ्चलमति-
नृशंसोऽमर्य्यादः कृतबहुलपापः कथमहम् ।
भवत्पादाम्भोजद्वयमधिपते दुःखजलधेः
समुत्तीर्णोऽपारादथ परिचरेयं च सततम् ॥ ३६ ॥
न चेच्छामि स्वर्गं न च रसपतित्वं मम पते
न सिद्धीर्नो ध्रौव्यं न हि विधिपदं दीनकरुणम् ।
न पातालेशत्वं न च सकलगोत्राधिपतितां
न मुक्तिं त्वां त्यक्त्वा परमसुखसौभाग्यजलधिम् ॥३७॥

ममापि शिरसि कृपया धत्तात् ययोः सरजं पाद्यं शीर्ष्णि बिभ्रत् असौ पशुपतिः वपुषा विपरीतोऽपि जगति शिवत्वं संप्राप्तः ॥ ३५ ॥

अर्थ—हे यादवपते ! वेद-पुरुष जिन आपके चरणों को शिर से धारण करते हैं उन चरणों को कृपा करके मेरे शिर पर संस्थापन करो । जिन चरणों के, धूलि के साथ, पादोदक को शिर पर धारण करते हुए पशुपति शरीर से अशिव-रूप भी संसार में शिवत्व (कल्याणरूपत्व) रूप को प्राप्त हुए ॥३५॥

अन्वय—हे अधिपते ! कृतघ्नः क्षुद्रात्मा स्मरपरवशः चञ्चलमतिः नृशंसः अमर्यादः कृतबहुलपापः अहं अपारात् दुःखजलधेः समुत्तीर्णः सन् कथं भवत्पादाम्भोजद्वयं अथ सततं च कथं परिचरेयमित्यन्वयः ॥ ३६ ॥

अर्थ—हे अधिपते ! कृतघ्न, क्षुद्रात्मा, काम के अधीन, चञ्चलबुद्धि, क्रूर, मर्यादारहित, बहुत से पापों को किये हुए मैं अपार दुःख-रूपी समुद्र से पार होने के पश्चात् आपके चरण-कमलों की सेवा सदा किस प्रकार करूँ ? ॥ ३६ ॥

अन्वय—हे मम पते ! त्वां त्यक्त्वा न च स्वर्गं न च रसपतित्वं न सिद्धीः नो ध्रौव्यं नहि दीनकरुणं विधिपदं न पातालेशत्वं न च सकलगोत्राधिपतितां न मुक्तिं न परमसुखसौभाग्यजलधिं इच्छामि ॥ ३७ ॥

अर्थ—हे मेरे स्वामिन् ! आपको छोड़कर मैं स्वर्ग और वरुणपद, सिद्धि, ध्रुवपद, दीनों के ऊपर दयावाले विधिपद तथा पाताल की प्रभुता को, सम्पूर्ण वंश में आधिपत्य को और मुक्ति-महानन्द के सौभाग्य-रूपी समुद्र को नहीं चाहता ॥ ३७ ॥

क्व ते ब्राह्मी लक्ष्मीस्त्रिगुणरहिता प्राकृतगुणा
क्व मे बुद्धिः स्वामिन् कृशपरिणतिः क्लेशसहिता ।
पुरेत्थं भीतं मां तव चरणयोर्भक्तिरदधद्
ध्यमन्दीकृत्या मे तनुवचनपुष्पोपहरणम् ॥ ३८ ॥
अनेकब्रह्मायुर्यदि वरद शेषायुतसमो
रसज्ञातो बुद्ध्या शतसुरगणाचार्यसदृशः ।
भवेन्नावागात्मा तव गुणगणान्केशव पठेत्
सदा पारं नेयात्तदपि भवतो देव यशसाम् ॥ ३९ ॥
पठेद्यो वै विष्णोः स्तवमिममशेषाघहरणं
महिम्नो विप्रः स श्रुतिशिखरमभ्याद्विजयभुक् ।

अन्वय—हे स्वामिन् ! त्रिगुणरहिता प्राकृतगुणा ते ब्राह्मी लक्ष्मीः क्व कृशपरिणतिः क्लेशसहिता मे बुद्धिः क्व इत्थं पुरा भीतं मां भक्तिः तव चरणयोः अदधत् हि मे तनुवचनपुष्पोपहरणं अमन्दीकृत्या भवति ॥ ३८ ॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! कहाँ तो सत्त्व, रज, तम, इन गुणों से रहित स्वाभाविक गुणवाली आपकी ब्राह्मी शोभा और कहाँ अत्यन्त कृश परिणामवाली क्लेश से समन्वित मेरी बुद्धि ? इन दोनों मे बहुत अन्तर है—इस प्रकार से डरे हुए मुझको भक्ति ने आपके चरणों में निश्चय रख लिया है । मेरे अल्प स्तुति के वचन-रूपी पुष्पों का उपहार (भेंट) ही अधिक पूजा-रूपी क्रिया है ॥ ३८ ॥

अन्वय—हे वरद ! हे देव ! हे केशव ! यदि अनेकब्रह्मायुः रसज्ञातः शेषायुतसमः बुद्ध्या शतसुरगणाचार्यसदृशः भवेत् अवागात्मा न भवेत् तव गुणगणान् यदपि सदा पठेत् तदपि भवतो यशसां पारं न इयात् ॥ ३९ ॥

अर्थ—हे वर देनेवाले ! हे देव ! हे केशव ! यदि किसी मनुष्य की कई ब्रह्माओं के समान आयु हो, हजार शेष के समान जिह्वा हो, सौ बृहस्पतियों के समान बुद्धि हो, और आत्मा अवाक् न हो, किन्तु वाणी-स्वरूप ही हो, ऐसे होते हुए कोई व्यक्ति यदि आपके गुणों को सदा पढ़ता ही रहे, तो भी आपके यश के पार को नहीं पहुँचता ॥ ३९ ॥

अन्वय—विष्णोः महिम्नः अशेषाघहरणं इमं स्तवं यो वै विप्रः पठेत् स

भवेद्राजन्यो विड् धनपशुयुतः स्याद्‌ वृजिनतो
विमुक्तः स्याच्छूद्रो हरिपदमियात्कामिरहितः ॥४०॥
स्तोत्रं विष्णुमहिम्नोऽदो भाषितं शम्भुशर्मणा ।
कृपया श्रीनिवासानां हरिभक्तिविनोदकृत् ॥ ४१ ॥

इति श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुपेन शिवशर्म्मणा
कृतः विष्णुमहिम्नः स्तवः सम्पूर्णः ।

श्रुतिशिखरं अभ्यात् राजन्यः विजयभुक् भवेत् विट् धनपशुयुतः स्यात् शूद्रः वृजिनतः विमुक्तः स्यात् कामरहितः हरिपदं इयात् ॥ ४० ॥

अर्थ—विष्णु की महिमा के, सम्पूर्ण पापों को हरण करनेवाले, इस स्तोत्र को निश्चय करके जो ब्राह्मण पढ़े वह श्रुतियों के शिखर को प्राप्त हो अर्थात् समस्त वेद का ज्ञाता हो, क्षत्रिय संग्राम में विजय का भागी हो, वैश्य धन और पशुओं से समन्वित हो तथा शूद्र पाप से विमुक्त हो। कोई भी पुरुष कामना-रहित होकर पढ़े तो हरि-पद को प्राप्त हो ॥ ४० ॥

अन्वय—श्रीनिवासानां हरिभक्तिविनोदकृत् अदः विष्णुमहिम्नः स्तोत्रं शम्भुशर्मणा कृपया भाषितम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—लक्ष्मीपात्रों को हरि-भक्ति में अनुरक्त करनेवाला यह विष्णु-महिमा का स्तोत्र, जनता के ऊपर कृपा करके, शिवशर्म्मा सूरि ने बनाया है ॥ ४१ ॥

श्रीमन्नारायण के चरण-कमलों के भ्रमर (भक्त) शिवशर्म्मा सूरि का बनाया हुआ यह "विष्णुमहिम्नः स्तोत्र" समाप्त हुआ ।

श्रीमत्परमहंसवासुदेवानन्दसरस्वती-कृत

श्रीदत्तात्रेयाष्टोत्तरशतनामस्तोत्र का अर्थ

ओङ्कार के वास्तविक स्वरूपवाले अकार, उकार, मकार से वाच्य विष्णु-ब्रह्मा-महेश-रूप तथा दिव्यज्ञान-स्वरूप, आकाश को भी अतिक्रमण करनेवाले महातेज के सहित, इन्द्र-सम्बन्धी विभूति में पराङ्मुख बुद्धिवाले और पराक्रम-रूप दत्तात्रेय नामक ब्रह्म को नमस्कार हो ॥ १ ॥

मत्सर(डाह)-शून्य पुरुषों से जानने योग्य, दूसरे पुरुषों से नहीं जानने के योग्य, आचार तथा निज मार्गवाले भक्तों को अपवित्र क्रिया से बचाने-वाले और ह्रीं बीज के अनुष्ठान से लक्ष्मी के देनेवाले दत्तात्रेय ब्रह्म को नम-स्कार हो ॥ २ ॥

मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, द्वेषादिकों के विलास के विनाशक तथा अनेक शरीरों को धारण करनेवाले, भक्तों के दुष्ट वैभव का नाश करनेवाले, अर्थात् सद्वैभव देनेवाले, बीजों में श्रेष्ठ क्लीं बीज को जपनेवाले ब्रह्मरूप दत्तात्रेय को नमस्कार हो ॥ ३ ॥

उन लम्बी बाहुओंवाले दत्तात्रेय ब्रह्म को नमस्कार हो जो संसार के हेतुरूप अज्ञान का विनाश करनेवाले, देदीप्यमान लाल ओष्ठ से युक्त तथा अपनी गति से ब्रह्माण्ड को कम्पित करनेवाले हैं ॥ ४ ॥

उन संन्यासी, अनिन्दक, ब्रह्म-रूप दत्तात्रेय को नमस्कार हो जिनको निर-भिमानी पुरुष प्रिय होते हैं, जो यम-नियमादि से चित्त का संयम करनेवाले हैं और जो किसी के वश में नहीं होते हैं उनको भी वश में कर लेते हैं ॥ ५ ॥

उन ब्रह्मरूपी दत्तात्रेय को नमस्कार हो जो श्रेष्ठ वक्ताओं की वाणीपुञ्ज-रूप अनेक स्तुतियों से स्पष्ट नहीं किये जा सकते, अनेक आत्मावाले अर्थात् वाणी से अगोचर स्वरूपवाले और तप ही को धन माननेवालों पर सदा सन्तुष्ट होते हैं तथा इडापति (ब्रह्मा) से जिनकी महिमा की स्तुति की गई है।

"इला कलत्रे सौम्यस्य धरिण्यां गवि वाचि च" इस मेदिनी-कोष से इडा का अर्थ वाणी है। अतः वाणी का पर्याय सरस्वती होने से इडापति का अर्थ सरस्वती-पति ब्रह्मा जानना चाहिए ॥ ६ ॥

तेजोमणि (सूर्य) के भीतर व्याप्त, राक्षसों को अपने स्थान से च्युत करनेवाले अर्थात् संग्राम में विजय कर भगा देनेवाले, सबके हृदय-स्थल में विद्यमान और श्रुति से जिनकी विभूति गाई गई है ऐसे ब्रह्म-रूप दत्तात्रेय को नमस्कार है ॥ ७ ॥

वायु, पृथिवी, जल, तेज और आकाश के तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के हेतु और हेतुओं के हेतु, संसार की जीव-रूप आत्माओं के आत्म-स्वरूप और विद्वेषक काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, षड्वर्ग का नाश करनेवाले ब्रह्म-स्वरूप दत्तात्रेय को नमस्कार हो ॥ ८ ॥

देवगणों के उद्धारार्थ तथा भूति के लिये असुरों के स्थान का भेदन करनेवाले, सबके नेता और नेत्रों के भी नेत्र (भाव यह है कि नेत्रों के भीतर देखने की शक्ति परमात्मा की ही है, अपनी नहीं; इसलिये नेत्रों के नेत्र कहे गये हैं), चेतन के भी चेतन और महात्मा ब्रह्म-रूपी दत्तात्रेय भगवान् को नमस्कार है ॥ ९ ॥

देवताओं के अधिष्ठाता, देवों के भी देव, ब्राह्मणों के पालक, याजकों में अग्रगण्य और द्रां-बीज के जप से प्रसन्न ब्रह्म-स्वरूप दत्तात्रेय को नमस्कार हो ॥ १० ॥

वासना-रूपी वन के लिये अग्नि-रूप तथा भस्म के सहित देहोंवाले अर्थात् सब अवतारों में शरीर में भस्म रमाये हुए, यतियों और संन्यासियों के लिये प्राप्ति के स्थान "दत्तात्रेय" ब्रह्म को नमस्कार हो ॥ ११ ॥

यज्ञ-रूपी मुख से भोजन करनेवाले और अजन्मा तथा तारामण्डल में प्राप्त, अति वेगवालों से भी स्पर्श को नहीं प्राप्त होनेवाले रूप से युक्त स्वरूप को धारण किये हुए, नाना रूपवाले दत्तात्रेय को नमस्कार हो ॥ १२ ॥

नर-नारायण अवतारों में नर-रूप को धारण करनेवाले, बुद्धि के प्रकाशक, यशस्वियों के यश रूप, माला को धारण किये हुए, उज्ज्वलाङ्ग तथा अत्रि के पुत्र, जगत् की श्रेयस्कर उत्पत्ति दत्तात्रेय भगवान् को नमस्कार हो ॥ १३ ॥

राक्षसों को मारकर देवगण को बन्दीगृह से छुड़ानेवाले, बुद्धिमानों में उत्कृष्ट धीर, तपोबलवाले ब्राह्मणों से प्राप्ति के योग्य और याग तथा होम में अनुराग रखनेवाले दत्तात्रेय भगवान् को नमस्कार हो ॥ १४ ॥

भक्तों की महिमा को विख्यात करनेवाले और मरारि (मार = काम के शत्रु शिव) की महिमा के नाशक (भाव यह है कि शिवजी ने काम को, भस्म

करने के अनन्तर, वश में किया था; किन्तु दत्तात्रेयजी ने उसको बिना ही मारे वश में कर लिया, इससे काम को विजय कर वे शिवजी से भी अधिक महिमा-वाले हुए), लाभ-स्वरूप, संन्यासियों के पूज्य, संयमी, स्वर्णघटित मालाधारी दत्तात्रेय भगवान् को नमस्कार हो ॥ १५ ॥

जिनमें न तो उपाधि है और न व्याधि, जिनके शरीर की दीप्ति हिरण्य (सुवर्ण) के सदृश है, जिनका आचरण महायतियों जैसा है और जो मनुष्यत्व के औषध रूप अर्थात् मनुष्यत्व को हटाकर देवत्व को प्राप्त करनेवाले हैं उन भगवान् दत्तात्रेय को नमस्कार हो ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ योगियों के पूज्य और सृष्टि-रूप तन्तु के विस्तार-कर्ता तथा "दत्तात्रेयाय नमः" इस मन्त्रगत "मः" आकारवाली श्री (विभूति) से युक्त, छः हाथोंवाले दत्तात्रेय भगवान् को नमस्कार हो। उनकी कथा सुन्दर तीर्थ-रूप है ॥ १७ ॥

तेजोमय शिर को धारण किये हुए, विधि-विहित कर्म के कर्ता, हानि-लाभ और मरण के विज्ञाता तथा "ओ३म्" से जिनकी भक्ति भली भाँति की जाती है उन ब्रह्म-रूपी दत्तात्रेय को नमस्कार हो ॥ १८ ॥

रोग, शोक और मन के खेद का अपहरण करनेवाले, रङ्कु मृग के बने हुए वस्त्र को धारण करनेवाले तथा मनुष्यत्व के प्रकाशक (भाव यह है कि मनन करने से मनुष्य कहा जाता है, मनन की शक्ति को भक्त जन भगवान् की कृपा से पाते हैं, इसलिये मनुष्यत्व के प्रकाशक) दत्तात्रेय भगवान् को नमस्कार हो। उनकी आत्मा के दर्शन नहीं हो सकते ॥ १९ ॥

प्रणत भक्तों के पापों को दूर करनेवाले, विपुल धन की प्राप्ति के लिये जिष्णु(अर्जुन)-स्वरूप को धारण करनेवाले (भाव यह है कि महाभारत में, विजय-प्राप्ति के लिये, भगवान् दत्तात्रेय ने अर्जुन-रूप धारण किया था और उस रूप से विजय पाकर युधिष्ठिर को धन दिया था), सुन्दर तीन मुखों-वाले एक रूप को धारण किये हुए और मन्त्रगत मकार में स्थिति-विधान करनेवाले तथा मन्त्रगत मकार में अच्छे बन्धन से युक्त अर्थात् भक्तों के वशी-भूत भगवान् दत्तात्रेय को नमस्कार हो ॥ २० ॥

यति, शास्त्र-विधि का अतिक्रमण कर आचार के प्रचार करने में समर्थ (अर्थात् पारमहंस्य अवस्था को प्राप्त), मान तथा रोष से विहीन और शिष्यों को संसिद्धि प्राप्त करानेवाले दत्तात्रेय भगवान् को नमस्कार हो ॥ २१ ॥

चलनेवाले किन्तु पाद से रहित, विधि-विहित स्वभाव में निष्ठ तथा अति वेगवाले, अलर्क राजा के दु:ख के निवारण-कर्त्ता, पूर्ण ब्रह्म-रूप दत्तात्रेय भगवान् को नमस्कार हो ॥ २२ ॥

["अलर्कदु:खवारिणे" का भाव यह है—मदालसा नाम की एक रानी ने अपने सब पुत्रों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देकर राज्यश्री से विमुख कर दिया था। किसी समय उसके पति महाराज ने कहा कि हे सुभगे ! किसी पुत्र को तो राज्य-विभूति का सुख भोगने के लिये छोड़ दो, अन्यथा सबके ज्ञानी होने पर राज्य-कार्य कौन सँभालेगा। रानी ने उनका कहना मानकर अपने पुत्र अलर्क को एक यन्त्र लिखकर दिया और कहा कि 'आपत्ति पड़ने पर इसको खोलकर देखना'। तदनन्तर किसी समय एक राजा राज्य छीनने के लिये युद्ध करने को अलर्क राजा के पास पहुँचा। तब, अकस्मात् युद्ध करके राज्य ले लेने को आये हुए राजा को देखकर, उन्होंने अपनी माता के दिये हुए यन्त्र को खोलकर देखा। उसमें "शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसारमायापरिवर्जितोऽसि। संसार-दु:खं त्यज मोहशोकं मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम् ॥" इस श्लोक को देखकर वैराग्ययुक्त हो अलर्क ने उस राजा से कहा—'राजन् ! आप इस राज्य को सँभालिए किन्तु धर्म-बुद्धि से राज्य कीजिएगा। मैं कमण्डलु लेकर वन में तप करने जाता हूँ।' विरक्त अलर्क के ये वचन सुनकर विजिगीषु राजा राज्य छोड़कर चला गया। अलर्क के इस दु:ख-निवारण में, उपदेश द्वारा, दत्तात्रेयजी सहायक थे। इसलिये "अलर्कदु:खवारिणे" विशेषण दिया गया है।]

ह्रीं बीज-रूप और अर्जुन के इष्ट, दर्शन (चक्षु) से अप्रत्यक्ष आत्मा-वाले, प्रणाम से सन्तुष्ट हृदयवाले, यति और ब्रह्मचारी दत्तात्रेय भगवान् को नमस्कार हो ॥ २३ ॥

संन्यासियों में श्रेष्ठ, संन्यासियों के मन में पिरोया हुआ तथा परब्रह्म-पद को देनेवाला यह उत्तम स्तोत्र समाप्त हुआ। पाठ करनेवाले को यह सुख दे ॥ २४ ॥